विपाशा

हिमाचल प्रदेश के भाषा एवं संस्कृति विभाग की द्वैमासिक पत्रिका

रचना संचयन विशेषांक

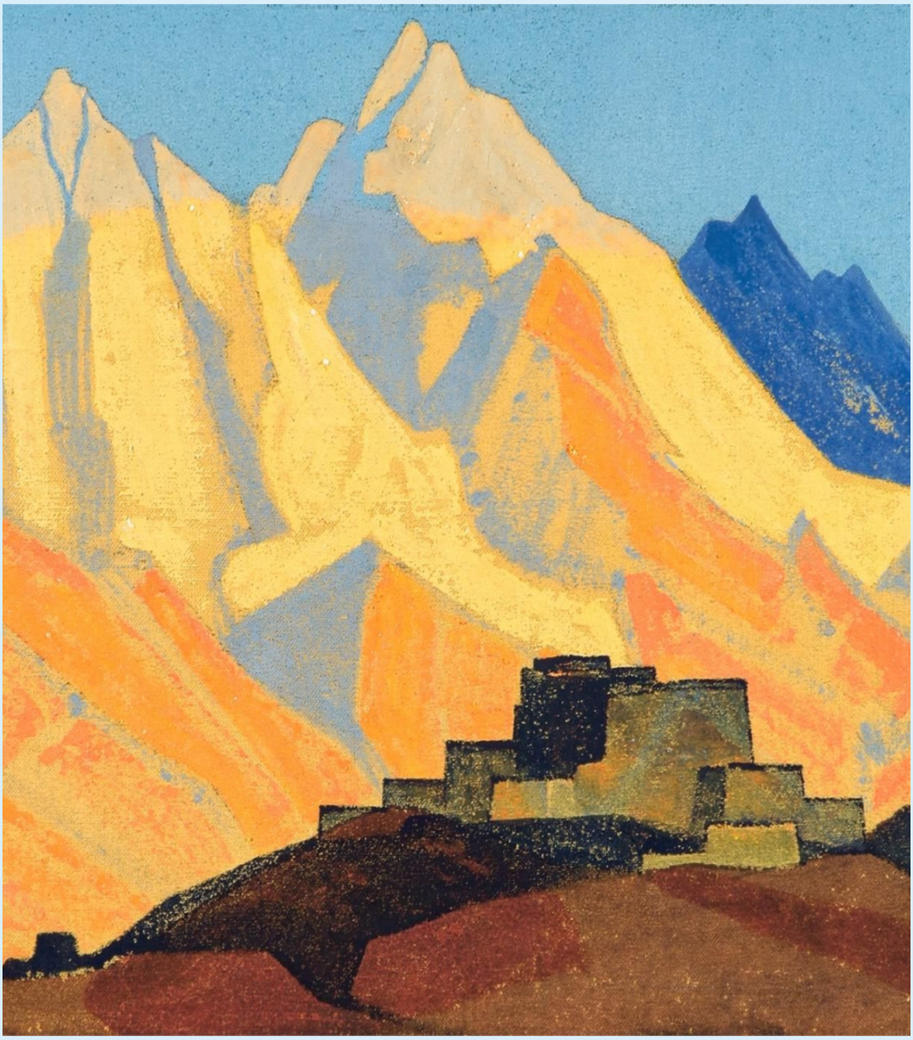

निकोलाई रेरिख : पवित्र हिमालय, 1933 भू-दृश्य चित्रण

मुख पृष्ठ तथा अंतिम आवरण के मिक्स मीडिया चित्र : प्रयाग शुक्ल

वरिष्ठ कवि तथा प्रख्यात कला समीक्षक प्रयाग शुक्ल ने करीब आधी सदी तक कला समीक्षा करते हुए अस्सी साल की उम्र में स्वयं चित्रांकन शुरू किया है। पिछले तीन सालों में उन्होंने करीब एक हज़ार चित्र और लगभग तीन सौ रेखांकन तैयार किए हैं। उनका यह कला कर्म एक्रिलिक, तैल व जल रंग आयल पेस्ट तथा कलम व स्याही के माध्यमों से हो रहा है। कला समीक्षक के चित्रों की व्यापक चर्चा हो रही है। वाराणसी, दिल्ली, जयपुर और अहमदाबाद में इनके चित्रों की प्रदर्शनियाँ लग चुकी हैं।

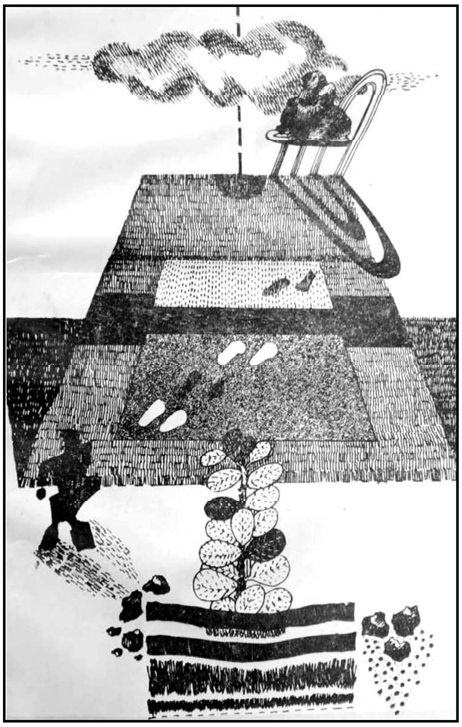

विपाशा

साहित्य, संस्कृति एवं कला की द्वैमासिकी

वर्ष : 38-39, अंक : 216-218, सितम्बर, 2022-फरवरी, 2023

मुख्य संपादक

डॉ. पंकज ललित

निदेशक, भाषा एवं संस्कृति, हि.प्र.

उपसंपादक
अजय शर्मा

संचयन संपादक
तुलसी रमण

सम्पर्क : संपादक-विपाशा, भाषा एवं संस्कृति विभाग, हि.प्र.
39-एस.डी.ए., शिमला-171009,
दूरभाष : 0177-2626614-15-16, फैक्स : 2628789

सदस्यता शुल्क बैंक खाते में जमा करवाकर उसका विवरण और अपना पूरा पता
e-mail : vipashapatrika@gmail.com पर भेजें।
बैंक खाता संख्या : 50100562040901, **IFSC:** HDFC0002447
खाता धारक : निदेशक, भाषा एवं संस्कृति

त्रैवार्षिक शुल्क : 150 रुपये, वार्षिक : 60 रुपये, यह अंक : 45 रुपये

क्रम

पत्र संचयन / 4
संपादकीय / 9

काव्य भूमि

अज्ञेय /13, ज. स्वामीनाथन /16, कुमार विकल /22, रमेश कुंतल मेघ /24

कथा क्रम : एक

सुंदर लोहिया /27, स्वयं प्रकाश /32, हिमेश /35, योगेश्वर शर्मा /38,
योगेश भटनागर /46

पाहुन कवि

केदारनाथ सिंह /53, विनोद कुमार शुक्ल /55, चंद्रकांत देवताले /57,
प्रयाग शुक्ल /61, ऋतुराज /63, सत्यपाल सहगल /65, निर्मला गर्ग /67

कथा क्रम : दो

अवधेश कुमार /69, पद्म गुप्त अमिताभ /75, महाराज कृष्ण काव /88,
बद्री सिंह भाटिया /92, सुशील कुमार फुल्ल /99

कविता खंड : तीन

लीलाधर जगूड़ी /103, ज्ञानेन्द्रपति /105, नंद किशोर आचार्य /107,
भगवत रावत /109, नरेश सक्सेना /111, निदा फाज़ली /113,
अवधेश कुमार /115, जितेन्द्र कुमार /117, अष्टभुजा शुक्ल /119

कथा क्रम : तीन

राजकुमार राकेश /121, संजय सिंह /131, अरुण भारती /144,
नरेश पंडित /151, जयवंती डिमरी /156

कविता खंड : चार

मंगलेश डबराल /160, राजेश जोशी /162, असद ज़ैदी /164, सोमदत्त /166,
पंकज सिंह /168, अरुण कमल /169, वीरेन डंगवाल /171,
विजय कुमार /173, लीलाधर मंडलोई /175, नरेन्द्र जैन /177

कथा क्रम : चार

रेखा /179, डॉ. जे. बाबू /184, श्रीनिवास जोशी /192, सुदर्शन वशिष्ठ /196,
एस. आर. हरनोट /201, त्रिलोक मेहरा /212, ओम भारद्वाज /220,
अर्पणा धीमान /226,

कविता खंड : पाँच

स्वप्निल श्रीवास्तव /230, विनोद दास /232, अग्निशेखर /233,
दुर्गा प्रसाद गुप्त /234, हरीशचन्द्र पांडेय /235, महाराज कृष्ण संतोषी /236,
मदन कश्यप /238, कात्यायनी /240, पंकज चतुर्वेदी /241,
ओम प्रकाश वाल्मीकि /243, निर्मला पुतुल /245, शिरीष कुमार मौर्य /246,
सुंदर चंद ठाकुर /248

भाषांतर कविता

हर प्रसाद दास, ओड़िया /249, तेलुगु कविताएँ /252,
सुरजीत पातर, पंजाबी /255, ना. मोगसाले, कन्नड़ /257,
वी.सी. कुलंदैस्वामी, तमिल /259, के. सच्चिदानंदन, मलयालम /261

भाषांतर कहानी

जयंती पापाराव, तेलुगु /264, उत्पलेंदु चक्रवर्ती, बांग्ला /267

देशांतर कविता

अन्ना अख्मातोवा /274, बेर्टोल्ट ब्रेष्ट /277, ओक्तावियो पाज़ /279,
रसूल हमज़ातोव /283, विस्लावा शिम्बोर्स्का /286, डेनिस ब्रूटस /289,
जेब्न्यू हर्बर्त /291, येव्गेनी येव्तुशेंको /294, योसिफ ब्रोद्स्की /296,
गब्रिएला मिस्त्राल /299

देशांतर कहानी

अंतोन चेखव /302, इसाक सिंगर /308, लियोपार्डो अलास /312

रचनाओं में व्यक्त विचार लेखकों के अपने हैं, इनमें संपादकीय सहमति आवश्यक नहीं। -**संपादक**

पत्र संचयन

धर्मपाल रेखी, हौशंगाबाद (18)

'विपाशा' के कई अंक देख चुका हूँ। मेरे पास अन्य राज्यों से भी सरकारी पत्रिकाएँ आती हैं—समझ में नहीं आता कि आपकी पत्रिका इतनी आकर्षक एवं साहित्यिक क्यों बनी हुई है। क्या यह पत्रिका सरकार के अधीन नहीं या हिमाचल सरकार हिन्दी साहित्य के प्रति कुछ अधिक ही संवेदनशील है या सरकार की नज़र अभी तक इस पत्रिका पर नहीं पड़ी। मुझे समझ में न ही आए और 'विपाशा' इसी प्रकार आगे बढ़ती रहे—इन्हीं शुभकामनाओं के साथ!

राजमोहन, उज्जैन, मध्य प्रदेश (41)

हिमालय क्षेत्र में अपार वन-सम्पदा और अनूठा वनस्पति संसार है। आपने पिछले अंकों में 'भोजपत्र' और 'चिलगोज़ा' के वृक्षों के रंगीन चित्र देकर दो महत्त्वपूर्ण वृक्षों के दर्शन कराए हैं। एक समय था जब वृक्षों को देवता मानकर पूजा जाता था। हिमालय का देवदार तो 'देव तरु' है ही, 'भोजपत्र' एक तरह से हमारे ज्ञान का वृक्ष है। जब कागज़ का आविष्कार नहीं हुआ था तो भोजपत्र पर ही पांडुलिपियाँ लिखी जाती थीं। यह सब जानते हुए भोजपत्र का पेड़ देखने की उत्सुकता भला किसमें नहीं होगी। इसी तरह पौष्टिक मेवा चिलगोज़ा से भी सब परिचित हैं, लेकिन यह कीमती मेवा जिस वृक्ष की देन है उससे भला लोग कहाँ परिचित। मैदानों में तो सेब का वृक्ष देखने की भी लोगों के मन में बहुत बार आती है। आप हिमालय के वनस्पति जगत् से परिचित कराते रहें तो अच्छा लगेगा। इन वृक्षों पर लेख भी जा सकते हैं। पिछले दो अंकों में मुझे इन दो वृक्षों के चित्रों ने सर्वाधिक आकृष्ट किया।

अनूप सेठी, बोरिवली, पश्चिम बम्बई (48)

विपाशा के ताज़े अंक मिले। अर्से बाद आकर्षक अंक देखकर प्रसन्नता हुई। बढ़िया अंक निकाले जाने के लिए बधाई। अब तो उपहार चित्र देना भी शुरू कर दिए हैं।

आधुनिक तकनीक से छपी हुई पत्रिका पूर्वग्रह भी होती थी। साज-सज्जा और सामग्री की चका- चौंध से भय खड़ा किया जाता था। भाषा का घटाटोप भी पाठक को निरीह बनाता था। 'विपाशा' की छपाई भी प्रतिस्पर्धात्मक है, पर भय पैदा नहीं करती। रचनाएँ सहजता बरकरार रखती हैं। हिमाचल के रचनाकारों और हिमाचल सम्बंधी रचनाओं की वजह से हो सकता है, विपाशा मुझे ज़्यादा भली दिखती हो।

मनोहर शर्मा, लखनऊ (56)

विपाशा के शमशेर और राहुल विशेषांक पढ़कर लगा कि पत्रिका गंभीर साहित्य प्रस्तुत करने में अग्रसर है। प्रेम और सौंदर्य के प्रसिद्ध कवि शमशेर बहादुर सिंह का कलाकार रूप भी इस अंक में सामने आया है। कवि की कविताओं का चयन भी अच्छा हुआ है और उनके गद्य की बानगी भी पाठकों को मिल सकी है। शमशेर जी की कविताओं, चित्रों को एक

साथ पढ़ने, देखने से मालूम होता है कि एक रचनाकार दो अलग-अलग विधाओं में किस तरह समान रूप से चलता है। कहीं शब्दों में चित्र उभरते हैं और चित्रों की भी अपनी भाषा होती है। दोनों जगह शमशेर जी का रचना शिल्पी चरम पर दिखाई देता है।

विष्णु प्रभाकर, 818, कुंडेवालान चौक, अजमेरी गेट, दिल्ली (60)

विपाशा के दस वर्ष पूरे हुए यह जानकर प्रसन्नता हुई। वह निरन्तर इसी तरह सफलता के मार्ग पर चलती रहे, यही हमारी कामना है। उच्च रक्तचाप से आँखों की ज्योति बहुत कम हो गई है, इसलिए पढ़ना-लिखना भी प्रायः बन्द हो गया है। सहयोगी की सहायता से काम कर लेता हूँ। इसलिए मैं आपके आग्रह का पालन न कर पाऊँ तो कृपया क्षमा कर दीजिए। आपकी तरह और भी मित्र आग्रह करते रहते हैं पर 84 वर्ष का यह वृद्ध सबकुछ स्वीकार करने की स्थिति में नहीं रहा, बहुत लिख लिया। पत्रिका के लिए शुभकामनाएँ।

अग्निशेखर, लक्ष्मीनगर, जम्मू (64)

विपाशा के 'दशक अंक' की योजना कमाल की है। यह तो एक संदर्भ ग्रंथ-सा बन पड़ा है । 'संस्कृति-शोध' स्तंभ के अंतर्गत 'महासू एक लोकदेवता की पहेली' पढ़कर महसूस हुआ कि कश्मीर और हिमाचल में कितने ऐसे सूत्र हैं जिन्हें समझने की ज़रूरत है। दिलचस्पी के साथ सामग्री पढ़ने में लगा हूँ।

सुधीर शर्मा, नं. 307, केन्द्रीय कारागार, आग्वाद, गोवा (98)

'विपाशा' के मिलने पर मैंने आपको एक लम्बा पत्र लिखा था, उम्मीद करता हूँ मिला होगा, उसके बाद विपाशा मुझे नियमित रूप से मिल रही है।

आज विपाशा का नवम्बर-दिसम्बर, 2001 अंक मिला, देखकर हम सभी बंदी पाठक खुशी से खिल गए। संयोग से इन दिनों हमारी जेल में चौदह-पन्द्रह बंदी हिमाचलवासी हैं, जिनमें से सात-आठ साहित्यिक पत्रिकाओं पर नज़र मार लेते हैं। विपाशा को देखते ही ये साथी खुशी से भर उठे और उसे उत्सुकता से उलटने-पुलटने लगे। उनके चेहरों पर हिमाचली होने का आत्म-गौरव छलक उठा था। मैंने उनसे अनुरोध किया कि मैं सरसरी तौर पर विपाशा को देखने के बाद उन्हें दे दूँगा। मैंने उनसे विपाशा ली, और आपके संपादकीय को पढ़ा।

इस बार विपाशा के आने पर साथियों ने कहा—शर्मा भाई, रमण साहब को हम सभी की तरफ से आभार पत्र लिख दो। मैंने उनकी बात को परखा, मुझे लगा इन्होंने दिल से यह बात कही है। यह पत्र मैं इन साथियों की इच्छा का सम्मान करते हुए भी लिख रहा हूँ।

एच. के. शर्मा, जे.एन. कालेज, पासीघाट, अरुणाचल प्रदेश (105)

विपाशा का गौरवमय शतक अंक मिला। इसमें मेरे एक पत्र को चयन में लेने के लिए आभार। सुंदर अंक संयोजन हेतु बधाई। सौवाँ पार कर जाने हेतु विपाशा को वन्दन, शुभाशंसा एवं शुभकामना। इसी तरह वह सौवें से हज़ारवें तक पहुँचे।

शतक अंक क्या है—श्रेष्ठ कविता-कहानियों व अन्य रचनाओं का एक उत्कृष्ट संचयन, जिसको 'जब चाहो, तब नया पाओ' के भाव से कभी भी पढ़ा जा सकता है। इसके आदि में ही प्रकाशित दोनों व्याख्यान अंक की अमूल्य निधि हैं और किसी स्तर पर एक-दूसरे के पूरक भी। एक (निर्मल वर्मा) बोलने से बचने के लिए ही लिखते हैं तो दूसरे (विष्णुकान्त शास्त्री) लिखने का काम बोलने से चलाने के कारण ही अपने पूरे सामर्थ्य भर न लिख सके।

और दोनों की स्थिति है कि एक को 'लिखने' पर ही बोलने के लिए विवश होना पड़ता है तो दूसरे का बोला हुआ भी बहुत कुछ लिखित रूप में सामने आ सका है। इनके जीवन में बहुत कुछ सीखने योग्य है।

नरोत्तम शर्मा, जम्मू (108)

शिमला यात्रा के दौरान मालरोड की एक दुकान से 'विपाशा' के कुछ अंक मिले। इनमें 'शतक अंक' तो एक ग्रंथ की तरह संग्रहणीय है ही, इसके अतिरिक्त एक अंक में साहित्यकार भीष्म साहनी पर पर्याप्त सामग्री दी गई है और दूसरा अंक प्रख्यात चित्रकार भबेश चन्द्र सान्याल को समर्पित है। भले ही सारी सामग्री उन पर केन्द्रित नहीं है, लेकिन जिस तरह मुख पृष्ठ से लेकर अंतिम पृष्ठ तक उस महान कलाकार की कृतियों का प्रकाशन हुआ है, इससे पूरा अंक उन्हीं को समर्पित लगता है। किशोरी लाल वैद्य ने उनके जीवन और काम को लेकर विस्तार से प्रकाश डाला है। चित्रकार सान्याल के प्रति 'विपाशा' की यह श्रद्धांजलि इसलिए भी सार्थक है कि उनका हिमाचल के प्रति विशेष आकर्षण था। 'प्रकृति की गोद में कला साधना' शीर्षक से संपादकीय में आपने हिमाचल प्रदेश की ओर आकृष्ट होते बड़े चित्रकारों का जो संदर्भ दिया है, उसी दिशा में भबेश सान्याल ने अंद्रेटा में 'कला ग्राम' बसाने का सपना संजोया था, लेकिन उनकी उम्र भी इतनी हो चुकी थी कि इसे पूरा करना रह गया।

जीवन सिंह, अलवर, राजस्थान (126)

'विपाशा' का कविता विशेषांक मिला। आवरण पृष्ठों पर विजेंद्र जी के चित्र इसकी खूबसूरती को बढ़ाने में अग्रणी भूमिका में हैं। पूरी सजधज और संयुक्त मोर्चे की तरह अंक निकाला गया है। सम्पादकीय में आपने समकालीन कविता से पाठक के रिश्ते के सवाल को उठाया है और इनके बीच आलोचकों-अध्यापकों और टीकाकारों की भूमिका को रेखांकित किया है। यह सही भी है। सोचने की बात यह है कि क्या संस्कृति, कला, साहित्य आज के सामाजिक एजेण्डे पर हैं या हमारे समाजों की ज़िन्दगी में ये हाशिये पर हैं। एजेण्डे पर उद्योग-धंधे और उद्योगपति हैं या कला-संस्कृति के वे व्यवसायी हैं, जो वस्तुओं को बिकवाने में मदद करते हैं। कविता इन प्रक्रियाओं के विरुद्ध चलती है, अतः उसे जीवन में प्रमोटर नहीं मिलते। मध्यवर्ग की मानसिकता को बदले बिना यह संभव नहीं कि कविता के पाठकों की भीड़ लग जाए। मनोरंजन वाली दूसरे तरह की कविता के सम्मेलनों में खूब भीड़ दिखाई देती है। वह एक कमाऊ व्यवसाय है। हम जानते हैं कि पूँजीवादी व्यवस्थाएँ सबसे पहले अपने नागरिक में सांस्कृतिक च्युति पैदा करती हैं। उसे वे अर्थसम्पन्न बनाती हुई एक सांस्कृतिक दारिद्रय को खत्म करने के लिए पूँजी की पराधीनता के विरुद्ध संस्कृति के लिए मुक्ति आंदोलन चलाने की ज़रूरत है।

ज्योति शर्मा, नाहन, हि.प्र. (135)

विपाशा का 'शिमला अंक' पढ़ने को मिला। इसमें शिमला का अतीत भरा पड़ा है। खास तौर से शिमला शहर को लेकर जो कहानियाँ रची गई हैं और जिन कविताओं में शिमला का चरित्र आया है ये प्रभावित करती हैं। जिस शिमला में निर्मल वर्मा, राम कुमार, जे. स्वामीनाथन, अमृता शेरगिल जैसे साहित्यकार-चित्रकार रहे, वहीं मनोहर सिंह, शिव शरण सिंह ठाकुर तथा मास्टर मदन जैसे कलाकार भी हुए। भला ऐसे शहर का इतिहास महत्त्वपूर्ण क्यों न होगा? इससे साबित होता है कि किसी भी शहर की गरिमा उसमें रहनेवाले जीवंत

लोगों से होती है, वे ही अपनी भूमि को महत्त्वपूर्ण बनाते हैं। रचनाकारों के कारण तो कोई भी शहर अपने अतीत और वर्तमान के साथ जीवंत हो जाता है। शिमला शहर के अतीत और वर्तमान की धड़कनों को संजोये हुए यह एक संग्रहणीय किताब बन पड़ी है।

लक्ष्यलीन सुमन, नखतपुर, गाजीपुर, उत्तर प्रदेश (138-140)

विपाशा प्राप्त हुई। 'भूरि सिंह संग्रहालय चम्बा, शताब्दी अंक' अच्छा लगा। चम्बा की सांस्कृतिक विरासत व प्राकृतिक छटा की अनमोल नैसर्गिक आभा के विषय में जानने, सुनने, पढ़ने की जिज्ञासा होने के पश्चात् भी हिमाचल की यायावरी न कर सका। परन्तु विपाशा 'मेरी यायावरी व चम्बा की दूरियाँ' समेटने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाएगी, यह मुझे विश्वास है। विपाशा का साहित्यिक सौष्ठव अनूठा है। पत्रिका की छपाई अच्छी है। कागज़ भी उत्कृष्ट है।

मधुरेश, 372 - छोटी बम्मनपुरी, बरेली (142)

अखिल भारतीय कहानी प्रतियोगिता पर केंद्रित 'विपाशा' का अंक मिला। धन्यवाद। पुरस्कृत कहानियाँ अपने चयन की विश्वसनीयता बढ़ाती हैं। परिचर्चा की सामग्री भी स्तरीय और विश्वसनीय है। इधर अनेक पत्रिकाओं ने कहानी पर विशेषांक निकाले हैं। 'विपाशा' का यह विशेषांक भी उनके बीच अपनी जगह बनाएगा और चर्चा में आएगा।

पद्‌मगुप्त अमिताभ, अम्बाला शहर (149)

'विपाशा' को पच्चीस बरस हो गए, यह एक सुखद आश्चर्य है। यह निरंतर आपके कुशल सम्पादन में हुआ है। इसे भी एक उपलब्धि ही माना जाएगा। हिन्दी पत्रिकाओं की भीड़ में 'विपाशा' ने अपनी एक विशिष्ट पहचान स्थापित कर ली है। पहले हिन्दी जगत् की श्रेष्ठ कविता का प्रतिनिधित्व करता 'कविता विशेषांक' और फिर अखिल भारतीय स्तर पर आयोजित सफल कहानी प्रतियोगिता।

डॉ. कमल किशोर गोयनका, दिल्ली (150)

'विपाशा' का कविता विशेषांक मिला। यह अंक निश्चय ही संग्रहणीय और सन्दर्भ के रूप में उपयोगी है। 'विपाशा' के रजत जयन्ती अंक के रूप में भी यह एक उपलब्धि है तथा अखिल भारतीय कविता प्रतियोगिता के आयोजन तथा पुरस्कृत लेखकों की रचनाओं के प्रकाशन आदि के कारण भी महत्त्वपूर्ण बन गया है। ऐसी प्रतियोगिताएँ अब हिन्दी में कम ही होती हैं, परन्तु नई पीढ़ी को सामने लाने के लिए इनका आयोजन आवश्यक है। 'कवि का आत्म-संघर्ष' में कुछ कवियों ने बेबाक बातें कही हैं और वे निश्चय ही विचारणीय हैं। इस अंक का एक बड़ा महत्त्व यह है कि इससे कवियों की एक नई पीढ़ी साहित्य रंगमंच पर आ गई है। हम सभी को उसका स्वागत करना चाहिए।

श्रीनिवास श्रीकांत, संदल हिल, चक्कर, शिमला (151)

विपाशा के कवितांक से गुज़रते हुए मन को भला लगा। वर्तमान और अतीत के बीच समय का एक खुलता हुआ कॉरिडोर। एक द्वीपान्तर भूखण्ड। अपने जल प्रदेश के साथ खुलता एक तरंगायित परिदृश्य। कविता और चर्चित विषयों का चयन रसज्ञ को सहज ही आन्दोलित कर देगा। त्वरित उत्पादित कला के इस युग में कविता की बात करना धैर्य और साहस की बात है। कविता अब चुपचाप पढ़ी जाती है। ज़्यादातर कवि ही लिखते हैं और वे ही पढ़ते भी हैं। मंच पर तो वह हल्की-फुल्की और गुलज़ार होने के लिए ही आती है।

विपाशा-सम्पादक द्वारा पत्रिका की अब तक की आयु में यह दूसरा प्रयास है, जब एक साथ इतने सारे कवि नमूदार हुए हैं। हिमाचल प्रदेश के संस्कृति विभाग की पत्रिका ने गत पच्चीस वर्ष के प्रकाशन काल में अपने समय के भाषा-साहित्य में अपनी एक सघन पहचान बनायी है और यह इस लम्बी अवधि में एक ही संपादक के रहते हुआ है।

आनन्द स्वरूप श्रीवास्तव, रायबरेली, उत्तर प्रदेश (165-166)

विपाशा का अंक 160 पाकर प्रसन्नता हुई। यादगार निर्मल पर्व का संयोजन आपने बहुत ही बेहतरीन ढंग से किया है। निर्मल वर्मा पर यह अंक पठनीय और संग्रहणीय है। शिमला और शिमला के आस-पास रहने वाले लेखक-लेखिकाओं ने इस अंक को अपनी लेखनी से उत्कृष्ट बनाने में जो सहयोग पत्रिका को दिया, वह सराहनीय है। वे सभी लेखक, लेखिकाएँ बधाई के पात्र हैं। सच में पहाड़ के लोगों ने एक अप्रतिम पहाड़ी लेखक को बड़ी शिद्दत से इस अंक में याद किया है।

राहुल राजेश, अहमदाबाद (173)

विपाशा का भवानी प्रसाद मिश्र पर केंद्रित अंक मिला। इससे पहले विपाशा का राजभाषा हिन्दी पर केन्द्रित अंक भी मिला था। दोनों अंकों में मेरे आलेख अविकल प्रकाशित करने का कोटिशः आभार। इसी बहाने कई वर्षों बाद विपाशा के नए अंक दुबारा देखने को मिले और विपाशा से दुबारा जुड़ने का मौका भी मिला। आप विपाशा को बहुत सादगी और समर्पण से निकाल रहे हैं। सादगीपूर्ण साज-सज्जा, साफ-सुथरी छपाई और उम्दा क्वालिटी के कागज़ के अलावा विपाशा के अंकों में सामग्री भी पठनीय और स्तरीय होती है। सबसे अच्छी और संतोष की बात तो यह है कि विपाशा के अंकों में मुद्रण की त्रुटियाँ या प्रूफ की गलतियाँ नगण्य होती हैं। इस मामले में दिल्ली से निकलने वाली स्वनामधन्य तमाम नामचीन पत्रिकाओं की स्थिति अत्यंत खराब है। विपाशा को पठनीय और स्तरीय बनाए रखने के लिए पूरी सम्पादकीय टीम को बधाई और शुभकामनाएँ।

ओम भारद्वाज, गाँव वलन, ठियोग, शिमला (209)

विपाशा ने दोहरा शतक लगा लिया। आज के समय में एक साहित्यिक पत्रिका को इतना लम्बा सफर तय करना जोखिम भरा काम है। पूर्व संपादकों ने विपाशा का जो स्तर कायम किया था, वही स्तर आज भी बना हुआ है। किसी ऊँचाई को छू पाना एक कठिन कार्य है और उस ऊँचाई पर बने रहना उससे भी कठिन। विपाशा का यह अंक देश की प्रतिष्ठित लेखिका कृष्णा सोबती पर केन्द्रित है। लेखिका पर डॉ. तुलसी रमण का संस्मरण उल्लेखनीय है, जिसमें कृष्णा सोबती कहती हैं, "मैं अपने समूचे होने में रचकर, पैठकर जीने की तरह लिखती हूँ। उसी वक्त लिखती हूँ, जब लिख डालने के सिवा कोई चारा न रह जाए।" इस संस्मरण में लेखक ने कृष्णा जी के सम्पूर्ण कृतित्व पर प्रखर नज़र डाली है, वहीं दूसरी ओर डॉ. निरंजन देव ने भी कृष्णा सोबती के उपन्यास 'गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिन्दुस्तान' पर शिल्प में आत्मकथा होने का एहसास जताया है।

सेराज खान बातिश की कहानी 'आउटलुक' मानव संवेदना को झकझोर कर रख देती है। हमेशा की तरह बद्री सिंह भाटिया की कहानी में ग्रामीण पात्रों की मजबूरी व लाचारी देखने को मिली। यादवेंद्र शर्मा की कविता 'आवारा कुत्ते' और 'गुड़ गोबर' छोटी होने के बावजूद पाठक को सोचने पर मजबूर करती है—"जलील होकर भी/ ज़िन्दगी गुज़ारी जा सकती है।"

संपादकीय

काव्य भूमि हिमाचल

करीब एक दशक बाद 'विपाशा' के संपादकीय पन्ने पर इस 'संचयन विशेषांक' के बहाने लौटना हुआ है। जैसे सालों बाद कुछ देर के लिए अपने पुराने घर में लौट आते हैं तो गुज़रे वक्त की अनेकानेक स्मृतियाँ जाग उठती हैं। वर्ष 2012 में जब सेवा-निवृत्ति से पहले अपने अकादमी कार्यालय में विभिन्न प्रकाशनों और विभाग में पत्रिका का काम समेटने में लगा तो अकादमी की कई किताबें प्रैस में भेजने को तैयार की थीं और 'विपाशा' के अंकों की सारी तैयार सामग्री पहले ही सरकारी मुद्रणालय को दे दी गई थी। उस व्यस्तता के बीच मेरे मन में विचार चल रहा था कि पिछले अट्ठाईस सालों में 'विपाशा' में हर तरह की जो रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं, उनमें से चुनकर अलग-अलग विधाओं के संकलन प्रकाशित किए जा सकते हैं। लेकिन तभी मौसम बदल गया था। सरकारी विभागों और संस्थानों का मौसम अधिकारियों के स्थानांतरण से अक्सर बदल जाता है। गुज़रे सालों में इस तरह के अनेक बदलाव होते रहे हैं।

अब फिर मौसम बदला है। वर्ष 2012 में विभाग के निदेशक रहे श्री राकेश कंवर पदोन्नति के बाद सरकार में भाषा-संस्कृति विभाग के सचिव नियुक्त हुए हैं। साहित्य के सघन अध्येता होने के साथ विभागीय कार्य के पूर्वानुभव से उन्होंने अनेक योजनाएँ और कार्यक्रम शुरू करवाए हैं। इसी के अंतर्गत विपाशा का ऐसा अंक संपादित करने का काम उन्होंने हमें सौंपा, जिसमें अब तक प्रकाशित अंकों में से विभिन्न विधाओं की रचनाओं का संचयन दिया जाना है। आजकल लेखकों की विभिन्न रचनाओं के पुस्तकाकार संचयन प्रकाशित करने का भी चलन है, जिसमें रचनाकार का बेहतरीन लेखन पाठकों को एक जगह मिल पाता है। कुछ उसी तर्ज पर पत्रिका के पाठकों के लिए यह 'संचयन विशेषांक' निस्संदेह एक उपहार की मानिंद होगा।

आज़ादी का 'अमृत महोत्सव' और हिमाचल प्रदेश के 'पूर्ण राज्यत्व के पचास वर्ष' पूरे होने के उपलक्ष्यों से भी इस विशेषांक को जोड़ा गया है। देश और प्रदेश की ऐतिहासिक घटनाओं और समसामयिक गतिविधियों से साहित्यिक उपक्रमों को जोड़ना समाज-सांस्कृतिक दृष्टि से भी सार्थक कदम कहा जा सकता है।

शुरू में मुझे संचयन तैयार करने का यह काम आसान लगा, क्योंकि ज़्यादातर अंक हमारे निकाले हुए थे। बाद के दस वर्षों में भी हमारे सहयोगी रहे उप संपादक ही काम करते रहे, सो अंक नज़र से गुज़रते रहे। लेकिन जब करीब 200 अंकों की बाइंड फाइलें घर के तख्तपोश पर क्रम से सज गईं तो उनमें छपे अधिकांश लेखक भले ही परिचित थे, मगर रचनाएँ अजनबी की तरह मुँह मोड़ती रहीं। क्रमशः पन्ने पलटने में ही महीनों लग गए। तब जाकर पहले बार-बार पढ़ी गई कविताएँ, कहानियाँ अपनी रहस्यभरी मुस्कान देने लगीं। कहानियों के पात्र स्मृति में आने लगे और कविताओं की पंक्तियों में फिर 'बात बोलने' लगी।

सबसे पहले ये तय किया कि पत्रिका में प्रकाशित सामग्री में से कविताएँ और कहानियाँ ही इस अंक में दी जाएँ। बाकी सामग्री का इस विशेषांक में मेल नहीं बनेगा। हिन्दी की रचनाओं के साथ 'भाषांतर' और 'देशांतर' स्तंभों से कुछ अनूदित कहानियों व कविताओं का भी चयन किया गया। ये स्तंभ पाठकों की खास पसंद के रहे हैं और अनुवादकों के इस श्रम और कौशल से पाठकों के लिए चारों दिशाओं के गवाक्ष खुलने के साथ विभिन्न भारतीय व वैश्विक भाषाओं के साहित्य से हिन्दी साहित्य भी समृद्ध होता है। विशेषांक में स्थान की सीमा को ध्यान में रखते हुए, बड़े आकार की रचनाएँ इसमें नहीं ले पाए। सीमित आकार की रचनाओं के संकलन से अधिक लेखकों को स्थान मिल सकेगा और रचनाओं की विविधता भी बनी रह सकेगी।

चयन के लिए रचनाओं का स्तर आँकना भी सरल काम नहीं रहा। हर प्रकाशित रचना की अपनी विशेषता होती है। मगर कथ्य, भाषा-शिल्प और समग्र प्रभाव की दृष्टि से एक बेहतर रचना स्वयं अपने दावे के साथ सामने आ जाती है। यह बात भी सही है कि इस विशेषांक की सीमा के रहते जो रचनाएँ इसमें नहीं आ सकीं, वे कम महत्त्व की नहीं हैं। वे भी संपादक द्वारा चुनकर ही अंकों में छापी गई हैं और वहाँ मौजूद हैं। उन्हें भी पाठकों ने पढ़ा और सराहा है, आगे भी पढ़ी जाएँगी।

इस अंक में हिन्दी कविता को पाँच खंडों में दिया जा रहा है और अंत में एक खंड 'भाषांतर' यानी भारतीय भाषाओं से अनूदित कविताओं का तथा एक खंड 'देशांतर' के प्रख्यात कवियों की अनूदित रचनाओं का है। इस तरह कविता के कुल सात खंड बनते हैं। भारतीय भाषाओं की कविताओं में दक्षिण तथा पूर्व के अहिन्दी भाषी राज्यों के चर्चित कवि शामिल हैं। ये अधिकांश अनुवाद उनकी मूल भाषाओं से हुए हैं। देशांतर कविता में सभी दस कवि वैश्विक ख्याति के हैं। इनमें ज़्यादातर कविता के लिए नोबेल पुरस्कार प्राप्त कवि हैं।

पहले दो खंडों में वे कवि शामिल हैं जिन्होंने हिमाचल प्रवास के दौरान यहाँ की पृष्ठभूमि के संदर्भ के साथ कविताएँ रची हैं। इनमें अज्ञेय, ज. स्वामीनाथन और कुमार विकल की कविताएँ विपाशा में पूर्व प्रकाशित ली गई थीं। यायावर कवि अज्ञेय ने देश-विदेश की यात्राओं के दौरान जो कविताएँ लिखीं हैं, उनके अंत में स्थान व दिनांक अंकित किया है। इससे रचना और यात्रा के देश-काल का संदर्भ पाठक को मिल जाता है। इन कविताओं में कुछ आँचलिक संदर्भों के साथ कवि की चिंतन मुद्रा की झलक मिलती है। मानो स्थानिक प्रकृति उनके चिंतन को उर्वरता प्रदान करती है। कुमार विकल चंडीगढ़ से हिमाचल की यात्रा पर निकल आते तो कविता का संग-साथ बना रहता। उन्होंने पहाड़ की भूमि और आबोहवा को अपनी कालजयी कविताओं में खूब रचाया है।

प्रख्यात चित्रकार जगदीश स्वामीनाथन शिमला में जन्मे, बचपन यहाँ गुज़रा। लेकिन पहाड़ के गाँव का अनुभव दिल्ली आदि मैदानी भूमि से लौटकर पाया, जब उन्हें खुद सेब पैदा करने की सूझी और कोटखाई के एक गाँव में ज़मीन खरीद कर बागीचा लगाया। उस छोटे-से गाँव में आना-जाना रहा। उनसे बागीचा तो नहीं संभाला गया, मगर ग्रामीण प्रकृति और जीवन की लय को उन्होंने इस कदर पकड़ा कि पहली बार हिन्दी में सात छोटी कविताएँ रच डालीं। ऐसी कि जिनमें गवंई बोली-वाणी का अर्क भी समेट लिया। ये उनकी पहली और आखरी, मगर अद्भुत कविताएँ हैं महाराज! कला मर्मज्ञ विद्वान रमेश कुंतल मेघ से हमने 'चंबा अंक'

के लिए कुछ कला विषयक देने का आग्रह किया तो उन्होंने चंबा के देश-काल, कला और इतिहास को इन कविताओं में सघनता से पिरो दिया था।

दूसरे कविता खंड का शीर्षक 'पाहुन' है। जो रचनाकार हिमाचल की यात्रा पर आकर यहाँ की पृष्ठभूमि के सहारे रचना करते हैं, ऐसे कवि-लेखकों को प्रकाशित करने के लिए मित्र कवि-चित्रकार अवधेश कुमार ने यह 'पाहुन' शीर्षक सुझाया था। वह खुद हिमाचल के पाहुन बनकर प्रसन्न होते थे। इस खंड में केदारनाथ सिंह से लेकर निर्मला गर्ग तक कुल सात कवियों की कविताएँ हैं जिनमें हिमाचल भूमि के संदर्भ स्पष्ट हैं। देवताले और विनोद कुमार शुक्ल मध्य प्रदेश के लेखकों के दल में 'हिमाचल की सृजनानुभव यात्रा' पर आए थे और प्रयाग शुक्ल व सत्यपाल सहगल हिमाचल के हर मौसम के प्रेमी कवि हैं।

इस तरह के कवियों और उनकी रचनाओं को देखकर आभास होता है कि हिमाचल काव्य-भूमि है। जबकि हमारी राजनीति और संस्कृति के प्रचार में इसे देव-भूमि कहने पर ज़ोर रहता है। जो मनुष्य भूमि से हटकर कुछ मायावी ही प्रतीत होता है।

कविता का संगीत, प्रेम और प्रकृति से सदा सम्बंध बना रहता है। संस्कृत काव्य में तो इन तीनों को मुख्य विषय के रूप में लिया जाता रहा है। खुद कवि कालिदास की कविता में किन्नौर आदि के हिमालय वर्णन हैं। हिन्दी की शुरुआती कविता में भी प्रेम और प्रकृति की बहुतायत रही है। दरअसल कविता स्वच्छंदता, कोमलता और मुक्त व्यवहार की तलाश में रहती है और इस नज़रिये से प्रकृति उसके अनुकूल ठहरती है। वैसे तो प्रकृति सब जगह मौजूद है, लेकिन पहाड़ों में प्रकृति का सघन, विस्तृत और अनुपम रूप मिलता है। पहाड़, नदी, घाटियाँ, दर्रे और गहन देवदार वन! इस बीच घाटियों की पृथकता में समाज-सांस्कृतिक विविधता! अनेकानेक कष्टों से भरा पहाड़ का श्रमसाध्य कठिन जीवन! मगर फिर भी दर्शनीय! प्रकृति और जनजीवन की अंतरंगता में यह सब रचना के लिए प्रेरणादायक रहता है। जो रचनाकार मैदानों से आकर पहाड़ पर कुछ दिन बिता लेते हैं, उनका बिना कुछ कहे या लिखे निकलना संभव नहीं होता। यहाँ आए, रहे, कविता का मूल सम्बंध प्रकृति और जीवन के साथ महसूस किया, इसी का फलितार्थ कविता में आता रहा है।

कविता की प्रेरणा इतनी बलवती रहती है कि कवि बता नहीं पाता कि ये प्रेरणा कब, कैसे ग्रहण की। इस प्रेरणा और प्रभाव की छाप आलोचक ही खोज निकालते हैं। माना कवि के भीतर भी अपना आलोचक बैठा रहता है, यथा मुक्तिबोध और अज्ञेय। लेकिन वे अपनी कविता की व्याख्या नहीं कर पाते या करना भी नहीं चाहते।

कविता खंड तीन और चार में समकालीन कविता की विभिन्न पीढ़ियों के प्रमुख कवि शामिल हैं और खंड पाँच में बहुचर्चित आठवें दशक से बाद की पीढ़ी के प्रखर कवियों की रचनाएँ ली गई हैं।

हिन्दी कहानियों के इसमें चार 'कथा क्रम' हैं। इनमें अधिकांशतः हिमाचल के कहानीकार शामिल हैं। योगेश्वर शर्मा, योगेश भटनागर, अरुण भारती, नरेश पंडित, जयवंती डिमरी, बद्री सिंह भाटिया और श्रीनिवास जोशी आदि यहाँ ऐसे कथाकार हैं जिन्होंने अपनी अधिकतर कहानियाँ विपाशा को दी हैं। राज कुमार राकेश, नरेश पंडित, योगेश भटनागर, महाराज कृष्ण काव और श्रीनिवास जोशी आदि ऐसे अनेक कथाकार हैं जिनकी पहली कहानी विपाशा में प्रकाशित हुई है। ऐसे कवि भी अनेक हैं जिनकी शुरुआती कविताएँ

इस पत्रिका में छपी हैं। अंतिम दो 'कथा क्रम' अन्य भारतीय तथा विदेशी भाषाओं की अनूदित कहानियों के हैं।

कहानीकार पहाड़ की यात्रा पर आकर यात्रा-कथा ज़रूर लिख सकते हैं, मगर ज़मीन से जुड़ी कहानी आसानी से नहीं रच पाते। कवियों की अपेक्षा कथाकार विषय पर तर्क संगत बात करते हैं। इसके लिए परिवेश का अध्ययन ज़रूरी होता है। यही कारण है कि कहानीकार राम कुमार की 'सिमिट्री', वीरेंद्र मेंहदीरत्ता की 'शिमले की क्रीम' और निर्मल वर्मा की अनेक कहानियाँ अनुभव के रहते शिमला शहर के आसपास घूमती हैं। यशपाल भले ही हिमाचल में यात्री बनकर आते रहे, मगर उन्होंने 'डायन' और 'खच्चर' जैसी कहानियाँ पांगी और लाहुल के दूर-दराज क्षेत्रों तक पहुँकर ढूँढीं और अपने विचार व शिल्प के बल पर लिख डालीं।

इस संचयन में हिमाचल के कथाकारों की कहानियाँ अपने-अपने वातावरण और ज़मीनी अनुभव के बूते रची गई हैं। सुंदर लोहिया, हिमेश और योगेश्वर शर्मा से लेकर ओम भारद्वाज और अर्पणा धीमान तक विभिन्न पीढ़ियों के रचनाकारों की कहानियाँ इसमें जा रही हैं। कविता और कहानी इन दोनों विधाओं का यह संकलन गद्य और पद्य को मिलाकर, परंपरा में जाकर कहें तो काव्य ही है। उम्मीद है पाठक इसे पसंद करेंगे।

भाषा-संस्कृति विभाग के सचिव श्री राकेश कंवर और निदेशक डॉ. पंकज ललित के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ कि उन्होंने मुझे अपने अतीत के काम से पुनः गुज़रने का अवसर दिया। विपाशा में अब तक प्रकाशित सामग्री के इस पुनरवगाहन से भी हमने बहुत कुछ हासिल किया है। फिर से जान पाया कि पत्रिका के तमाम प्रकाशित अंकों में कला-संस्कृति और साहित्य विषयक महत्त्वपूर्ण सामग्री भरी पड़ी है।

इस संचयन के संपादन में उप संपादक श्री अजय शर्मा का यथापेक्षा सहयोग तत्परता से मिलता रहा। लंबे अनुभव के रहते प्रोडक्शन का सारा काम वह महारत के साथ कर लेते हैं। 2012 में पत्रिका संपादक के सेवानिवृत्त होने के बाद अजय शर्मा ही संपादकीय कार्य देख रहे हैं। समझ सकता हूँ कि पत्रिका का आकार-प्रकार उनकी वजह से ही पूर्ववत कायम है। सस्नेह आभार!

इस संचयन विशेषांक में हिमाचल के कवियों की कविताएँ संकलित नहीं की गई, जबकि पत्रिका में कुल मिलाकर हिमाचली कवि सर्वाधिक प्रकाशित हुए हैं। कारण यह कि विभाग द्वारा विपाशा की पृष्ठभूमि पर ही 'हिमाचल की कविता' पर केंद्रित एक विशेषांक इससे पहले प्रकाशित किया गया है, जिसमें विपाशा के अतिरिक्त भी कविताएँ जोड़ी गई हैं। अतः दुहराव से बचते हुए विभाग द्वारा यह निर्णय लिया गया है। —संपादक

काव्य भूमि

❑ **अज्ञेय**

सूर्यास्त

अंतिम रवि की अंतिम रक्तिम किरण छू चुकी हिमगिरि-भाल,
अंतिम रक्त रश्मि के नर्तन को दे चुके चीड़ तरु ताल।
नीलिम शिलाखंड के पीछे दीप्त अरुण की अंतिम ज्वाल
जग को दे अंतिम आश्वासन अस्ताचल की ओट हुए रवि!

खोल हृदय-पट तू दिखला दे अपना उल्लस प्राणोन्माद,
शब्द-शब्द के कम्पन-कम्पन में भर दे अतुलित आह्लाद,
अक्षर अक्षर हो समर्थ बिखराने को जीवन-अवसाद
फिर भी वर्णित हुई न होगी इसकी एक किरण भर की छवि!

स्वयं उसी वैभव सौन्दर्य नदी में बह जा!
नीरवता द्वारा अपनी असफलता कह जा!
निरुद्वेग, मीठे विषाद में चुप ही रह जा
इस रहस्य अपरिय के आगे जादर से नतभर तक, रे कवि।

डलहौजी, 3 जून 1934

खद्योतदर्शन

चाँद तो थक गया, गगन भी बादलों से ढक गया
बन तो बनैला है—अभी क्या ठिकाना कितनी दूर तक फैला है?
अंधकार, घनसार।
अरे पर देखो तो वो पत्तियों में
जुगनू टिमक गया।

बैजनाथ, कांगड़ा, जून 1950

तारा-दर्शन

हमने हाथ नहीं बढ़ाया : हमने आँखों से चूम लिया।
खड़े हो रहे हम, थिर, हाँ, हमारे भीतर ही ब्रह्मांड घूम लिया।

'कितनी दूर होते हैं तारे", हम सोचते तो सोचते ही रह जाते—
'कल भला भाग्य जागेंगे हमारे?"

पर हम सोच कुछ सके नहीं, बस अपलक
खड़े रहे, उद्ग्रीव मानो चातक रह जाए ठिठक,
फिर, हाँ, स्वाती तो हमारी आँखों में ही उतर आया!
(खड़े रहे हम, थिर, हाँ हमने हाथ नहीं बढ़ाया।)

वशिष्ठमुनि, मनाली, जून 1950

काँगड़े की छोरियाँ

काँगड़े की छोरियाँ कुछ भोरियाँ सब गोरियाँ
लाला जी, जेवर बनवा दो खाली करो तिजोरियाँ!
काँगड़े की छोरियाँ!

ज्वार मका की क्यारियाँ हरियाँ-भरियाँ प्यारियाँ
धन खेतों में लहर हवा की सुना रही हैं लोरियाँ—
काँगड़े की छोरियाँ!
पुतलियाँ चंचल कालियाँ कानों झुमके—बालियाँ
हम चौड़े में खड़े लूट गए बनी न हमसे चोरियाँ—
काँगड़े की छोरियाँ!

काँगड़े की छोरियाँ कुछ भोरियाँ सब गोरियाँ।

काँगड़ा-नूरपुर,. (बस में), 24 जून, 1950

कौन-सा सच है

दिन के उजाले में
अनेकों नाम सबके समाज में
हँसी-हँसी सहज
पुकारना
रात के सहमे अँधेरे में
अपने ही सामने अकेला एक नाम
बड़े कष्ट से, अनिच्छा से
सकारना

कौन-सा सच है?

सब की जीत की खोज कर लाई थी हुई खुशी में
अपनी हार को
नकारना
या कि यह : कि एक ही विकल्प है
हार को लब्धि मान
अपने मिटने पर ही अपने को
वारना?

कसौली, हिमाचल प्रदेश, 23 अक्तूबर, 1968

ध्रुव

मानव की अंधी आशा के दीप! अतीन्द्रिय तारे!
आलोक-स्तम्भ सा स्थावर तू खड़ा भवाब्धि किनारे!

किस अकथ कल्प से मानव तेरी ध्रुवता को गाते
हो प्रार्थी प्रत्याशी वे उसको हैं शीश नवाते।

वे भूल-भूल जाते हैं जीवन का जीवन-स्पन्दन
तुझ में ही स्थिर कुछ तो है तेरा यह अस्थिर कम्पन!

डलहौजी, 14 मई, 1934

प्रेरणा

जब-जब थके हुए हाथों से छूट लेखनी गिर जाती है
'सूखा उर का रस-स्रोत" यह शंका मन में फिर जाती है,

तभी देवि, क्यों सहसा दीख, झपक, छिप जाता तेरा स्मित-मुख—
कविता की सजीव रेखा-सी मानस-पट पर तिर आती है?

डलहौजी, 14 सितम्बर, 1934

❑ ज. स्वामीनाथन्

पुराना रिश्ता

परबत की धार पर बाहें फैलाये खड़ा है
जैसे एक दिन
बादलों के साथ आकाश में उड़ जाएगा जंगल
कहते हैं पहले कभी
कोकूनाले तक उतरे थे ये देवदार
और आसमान को ले आये थे इतने पास
कि रात को तारे जुगनू से
गाँव में विचरते थे
अब तो बस
जब मक्की तैयार होती है
तब एक सुसरा रीछ
पास से उतरता है
छापेमार की तरह बरबादी मचाता है
अजी क्या तमंचे, क्या दुनाली बंदूक
सभी फेल हो गए महाराज
बस, अपने ढंग का एक ही, बूढ़ा खुर्राट
न जाने कहाँ रह गया इस साल।

सेब और सुग्गा

मैं कहता हूँ महाराज
इस डिंगली में आग लगा दो
पेड़ जल जाएँगे तो कहाँ बनाएँगे घोंसले
ये सुग्गे
देखो न, इकट्ठा हमला करते हैं
एक मिनट बैठे, एक चोंच मारा और गए
कि सौ दाने बेकार
सुसरों का रंग कैसा चोखा है लेकिन
देखो न
बादलों के बीच हरी बिजली कौंध रही है

भगवान का दिया है।
लेने दो इनको भी अपना हिस्सा
क्यों महाराज?

दूसरा पहाड़

यह जो सामने पहाड़ है
इसके पीछे एक और पहाड़ है
जो दिखायी नहीं देता
धार-धार चढ़ जाओ इसके ऊपर
राणा के कोट तक
और वहाँ से पार झाँको
तो भी नहीं
कभी-कभी जैसे
यह पहाड़
धुंध में दुबक जाता है
और फिर चुपके से
अपनी जगह लौट कर ऐसे थिर हो जाता है
मानों कहीं गया ही न हो
— देखो न
वैसे ही आकाश को थामे खड़े हैं दयार
वैसे ही चमक रही है घराट की छत
वैसे ही बिछी हैं मक्की की पीली चादरें
और डिंगली में पूँछ हिलाते डंगर
ज्यों के त्यों बने हैं, ठूंठ-सा बैठा है चरवाहा
आप कहते हो, वह पहाड़ भी
वैसे ही धुंध में लुपका है, उबर आएगा
अजी ज़रा आकाश को तो देखो
कितना निम्मल है
न कहीं धुंध, न कोहरा, न जंगल के ऊपर अटकी
कोई बादल की फुही
वह पहाड़ दिखायी नहीं देता महाराज
उस पहाड़ में गूजरों का एक पड़ाव है
वह भी दिखाई नहीं देता
न गूजर, न काली पोशाक तनी
कमर वाली उनकी औरतें
न उनके मवेशी न झबड़े कुत्ते

रात में जिनकी आँखें
अंगारों-सा धधकती हैं
इस पहाड़ के पीछे जो बादी है महाराज
वह बादी नहीं, उस पहाड़ की चुप्पी है
जो बघेरे की तरह घात लगाये बैठा है।

जलता दयार

झींगुर टर्राने लगे हैं
और खड्ड में दादुर
अभी हुआ-हुआ के शोर से
इस चुप्पी को छितरा देंगे सियार
ज़रा जल्दी चलें महाराज
यह जंगल का टुकड़ा पार हो जाए
फिर कोई चिंता की बात नहीं
हम तो शाट-कट से उतर रहे हैं
वर्ना अब जंगल कहाँ रहे
देखा नहीं आपने
ठेकेदार के उस्तरे ने
इन पहाड़ों की मुंडिया किस तरह साफ कर दी
डर जानवरों का नहीं महाराज
वे तो खुद हम आप से डर कर
कहीं छुपे पड़े होंगे
डर है उसका
उस एक बूढ़े दयार का
जो रात के अंधेरे में कभी-कभी निकलता है
जड़ से शिखर तक
मशाल-सा जल उठता है
एक जगह नहीं टिकता
संतरी की तरह इस जंगल में गश्त लगाता रहता है
उसे जो देख ले
पागल कुत्ते के काटे के समान
पानी के लिए तड़प-तड़प कर
दम तोड़ देता है।
ज़रा हौसला करो महाराज
अब तो बस, बीस पचास कदम की बात है
वह देखो उस सितारे के नीचे

बनिये की दुकान की लालटेन टिमटिमा रही है
वहाँ पहुँचकर
घड़ी भर सुस्ता लेंगे।

मनचला पेड़

बीज चले रहते हैं हवा के साथ
जहाँ गिरते हैं जम जाते हैं ढीठ
बिरक्स बन जाते हैं
और टिके रहते हैं कम्बख्त
बगलों की तरह, या कि जोगी हैं महाराज
आज तो आकाश निम्मल है
पर पार साल
पानी ऐसा बरसा कि पूछो मत
हम पहाड़ के मानुस भी सहम गए
एक रात
ढाक गिरा और उसके साथ
हमारा पंद्रह साल बूढ़ा रायल का पेड़
जड़ समेत उखड़ कर चला आया
धार की ऊँचाई से धान की क्यार तक
(अबे जहाँ खड़ा था वहाँ तुझे तकलीफ़ थी
या बोरड़ खा गए थे बेवकूफ)
सेटिंग ठीक होने पर दस पेटी देता था, दस
मैं तो सिर पीट कर रह गया मगर
लंबरदारिन ने नगाड़े पर दी चोट पर चोट
इकट्ठा हो गया सारा गाँव
गड्ढा खोदा, रात भर लगे रहे पानी में
और खड़ा किया मनचले को नए मुकाम पर
अचरज है, सुसरा इस साल फिर फल से लदा है।

कौन मरा

वह आग देखते हो आप
सामने वह जो खड्ड में पुल बन रहा है
अरे, नीचे, नाले में वह जो टरक ज़ोर मार रहा था
पार जाने के लिए
ठीक उसकी सीध में
जहाँ यह बेतहाशा दौड़ती, कलाबाजियाँ खाती

सर धुनती नदिया
गिरिगंगा में जा भिड़ी है
वहीं किनारे पर है, हमारे गाँव का श्मशान
ऊपर पुड़ग में या पार जंगल के पास
मास्टर के गाँव में
या फिर ढाक पर ये जो दस-बीस घर टिके हैं
या अपने ही इस चमरौते में
जब कोई मानुस खत्म हो जाता है
तब हम लोग नगाड़े की चोट पर
उसे उठाते हुए
यहीं लाते हैं, आग के हवाले करते हैं
लेकिन महाराज
न कोई खबर न संदेसा
न घाटी में कहीं नगाड़े की गूँज
सुसरी मौत की-सी इस चुप्पी में
यह आग कैसे जल रही है।

गाँव का झल्ला

हम मानुस की कोई जात नहीं महाराज
जैसे, कौवा कौवा होता है, सुग्गा, सुग्गा
और ये छितरी पूँछ वाले अबाबील अबाबील
तीर की तरह ढाक से घाटी में उतरता बाज, बाज
शेर शेर होता है, अकेला चलता है

सियार, सियार
बंदर सो बंदर, और कगार से कगार पर
कूद जाने वाला काकड़ काकड़
जानवर तो जानवर सही
वनस्पति भी अपनी-अपनी जात के होते हैं
कैल कैल है, दयार दयार
मगर हम मानुस की कोई जात नहीं
आप समझे न
मेरा मतलब इससे नहीं कि ये मंगत कोली है
मैं राजपूत
और वह जो पगडंडी पर छड़ी टेकता
लंगड़ाता चला आ रहा है इधर

बामन है, गाँव का पंडत
और आप, आप की क्या कहें
आप तो पढ़े लिखे हो महाराज
समझे न आप, हम मानुस की कोई जात नहीं
हम तो बस, यूँ समझें आप
कि मुखौटे हैं, मुखौटे
किसी के पीछे कौवा छुपा है
तो किसी के पीछे सुग्गा
सियार भतेरे, भतेरे बंदर
और सब बच्चे काकड़ काकड़ या हरिन, क्यों महाराज
शेर कोई कोई, भेड़िये अनेक
वैसे कुछ ऐसे भी, जिनकी आँखों में कौवा भी देख लो
सियार भी, भेड़िया भी
मगर ज़्यादातर मवेशी
इधर उधर सींगें उछाल
इतराते हैं
फिर जिधर को चला दो, चल देते हैं
लेकिन कभी-कभी कोई ऐसा भी टकराता है
जिसके मुखौटे के पीछे, जंगल का जंगल लहराता है
और आकाश का विस्तार
आँखों से झरने बरसते हैं, और ओंठ यों फैलते हैं
जैसे घाटी में बिछी धूप
मगर वह हमारी जात का नहीं
देखो न मंदर की सीढ़ी पर कब से बैठा है
सूरज को तकता, ये हमारे गाँव का झल्ला।

[ज. स्वामीनाथन् ने कोटखाई के एक गाँव में बागीचा खरीदा था, जो कुछ वर्षों बाद छोड़ दिया। ये सभी कविताएँ उसी बागीचे में लिखी गई हैं। इनमें आसपास के कोकूनाला, डिंगली, राणा का कोट, पुड़ग व चमरौता आदि गाँव भी मौजूद हैं और इन्हीं के आर-पार बिम्ब भी उभरते हैं। इन पहाड़ों का विरासती सम्बोधन 'महाराज' कवि ने भी गाँठ बाँध लिया है। ये कविताएँ एक पुस्तिका के रूप में भी प्रकाशित हुई थीं। चित्रकार स्वामीनाथन् की ये सात कविताएँ ही हैं, जबकि उन पर अनेक कवियों ने कविताएँ लिखी हैं। —सं.]

❑ **कुमार विकल**

चम्बा की धूप

ठहरो भाई,
धूप अभी आएगी
इतने आतुर क्यों हो
आखिर यह चम्बा की धूप है–
एक पहाड़ी गाय–
आराम से आएगी।

यहीं कहीं चौगान में घास चरेगी
गद्दी महिलाओं के संग सुस्तायेगी
किलकारी भरते बच्चों के संग खेलेगी
रावी के पानी में तिर जाएगी।
और खेलकूद के बाद
यह सूरज की भूखी बिटिया
आटे के पेड़े लेने को
हर घर का चूल्हा चौखट चूमेगी।

और अचानक थक कर
दूध बेचकर लौट रहे
गुज्जर-परिवारों के संग
अपनी छोटी-सी पीठ पर
अँधेरे का बोझ उठाए
उधर–
जिधर से उतरी थी
चढ़ जाएगी–
यह चम्बा की धूप–
पहाड़ी गाय।

एक पहाड़ी यात्रा

बहुत पीछे छोड़ आया हूँ
अपने शरीर से घटिया शराब की दुर्गन्ध

जिससे उड़ गए हैं मेरे डर
तुच्छताएँ, कमीनापन।
चट्टान से फूटा है झरना
बह गया मेरा अकेलापन।

सुरमई आकाश के नीचे
कौन है अकेला
कौन है निस्संग।

जब तक बहता है झरना
और मंडराती है
मेरे जिस्म के आसपास
एक पहाड़ी कस्बे की गंध
मैं नहीं अकेला
मैं नहीं निस्संग।

शहर को लौटूँगा तो
ले जाऊँगा
पलकों के बटुओं में सुरमई आकाश
थर्मस में झरने का जल
और जिस्म में एक पहाड़ी कस्बे की गंध।

[प्रख्यात कवि कुमार विकल चंडीगढ़ से निकलकर हिमाचल प्रदेश की यात्रा पर चले आते थे। चंबा, मंडी और शिमला उनके प्रिय शहर थे। हिमाचल में विकल के अनेक दोस्त भी थे। मंडी में कथाकार नरेश पंडित के घर पर उनका ठिकाना था। वहाँ रहते हुए आपातकाल के दौर में कवि ने 'विपाशा' शीर्षक से भी महत्त्वपूर्ण कविताएँ रची थीं, जो स्थानाभाव के कारण यहाँ नहीं दे पा रहे।]

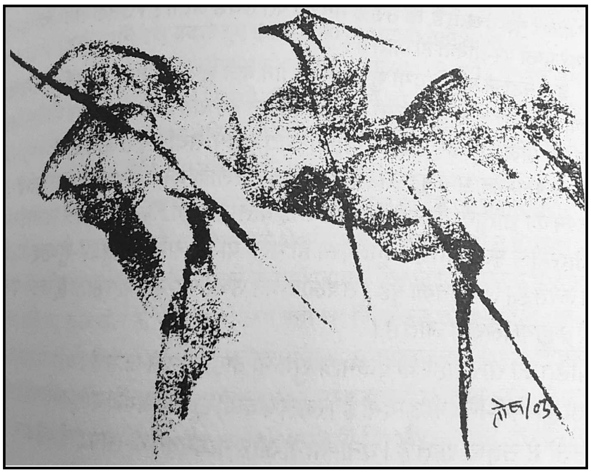

❑ **रमेश कुंतल मेघ**

चम्बा के लिए उदात्त कविताएँ

एक हेमंत-दिन

हेमंत का शिशु दिन
चौकड़ी भरने लगा
चम्बा के चौगान में।
सूर्य गेंद से खेलने लगे
अनंतनाग, शेषनाग
          हाथीनाग, शामनाग—
          सूड़ें हिलाकर झूमने।

सूर्य और शिशु
इस तरफ
स्थापित कर गए
चम्बा को—चित्रों में
          आदमकद नृसिंह, गौरीशंकर, दुर्गा की
          कांस्य प्रतिमाओं में
          भरमौर और पांगी और चम्बा
          छेनियों और मंदिरों से
          शिलीभूत हो गए।

उस तरफ चम्बा
तन गई है
त्रिपुरसुंदरी गद्दिन-सी
तंत्रसिद्ध पर्वतों के इन्द्राणी-आसन में
बाँके कामधन-सी।
शिशु दिन
सुबह और शाम
कुंकुमी और नीली
छतरियाँ ताने
मंदिरों में छिप गया है

तीन बार
रूमाली चम्बा का सारा आकाश
भूरे-काले शिखरों में
ढल गया है।
रावी के जल में
चम्बा का हिंडोला
तैर गया है
धाराधार।
यह दिन, यह सूर्य, यह शमा
हमें कभी मरने नहीं देते—ये तीनों !!

ये तीनों—बदल देते हैं
अजनबीपन को
अद्वितीयता में।
अद्वितीयता में जी चुकी है चम्बा।
अजनबीपन में मर गए हैं हम ड्ड

धौलाधार से दोनों ओर पूर्णिमा का चाँद देखना

उर्ध्वमुखी त्रिकोणों का सिलसिला
गिरिजा-ललाट पर तारांशुक का
थरथराता झिलमिला!
ठीक मोती-माँग की घाटी से
निकला
अँगूरी चंद्रमा!!
खुल गई सीप
एक पंख धुँधली धर्मशाला में
एक पंख बैंगनी चम्बा में खुला।
धर्मशाला हो गई झागों की डोरी
बिंध गई राहों में
नथ गोरी-गोरी!
धौलाधार के शिखरों के शंखों को
उस ओर फूँक-फूँक हाँफा
कलाई में बाँध रक्षासूत्र चंद्रधनुष का
चम्बा ने हँस
हमें ताका!!

हिमालय-डोली

उस पार है—गोरियों का चम्बा शहर!
इस पार है—छोरियों का काँगड़ा शहर!!
बीच में डोली
हिमालय की
(रेशमी बर्फ़ की)।
आए हैं बादल बाराती
आए हैं कौवे संघाती !!
लाना ओ सूरज! सिंदूर!
लाना ओ चँदा! कपूर!!

अलविदा हिमालय

अलविदा रूमालें चम्बा की
धर रहा यात्रा कदमों में
हिमालय के।

कल ये ऊःषाएँ
खिड़की से
झिलझिला बनाएँगी इन्हें
कुंकुंमपत्र!
वे नीले शेष
नील गगन हो
मुझे फण पर
उठा लेंगे—इतिहास के चौराहों पर।

यात्रा-पंख
मेरे चरणों से झरेंगे।
मेरी नन्हीं बेटियाँ, कांता
हिमशय्या की
शम्माएँ दिपाएँगी ड्ड

[फ्लैट-3, भूतल, स्वास्तिक विहार-III, मनसादेवी काम्पलेक्स, पंचकूला-134109]

कथा क्रम : एक

मंगलाचारी

❑ सुन्दर लोहिया

त्रिनाल महादेव का मंदिर लम्बीधार की चोटी पर है। मंदिर के तीन ओर चील का जंगल है और एक ओर, यानि दक्षिण की ओर ढलान शुरू हो जाती है। मंदिर के पूर्व की ओर एक गड्ढा है जिसमें पानी जमा होता है और कई बार गर्मियों में भी यहाँ पानी देखा जाता है। पानी के आस-पास पहाड़ी बांस का झुरमुट है। यह बांस मैदानी इलाकों के बांस की तरह मोटा और ऊँचा नहीं होता है। चैत्र मास के तीसरे इतवार को यहाँ मेला लगता है और इस बांस के तीन पत्ते त्रिनाल महादेव को अर्पित किये जाते हैं। पिछले पंद्रह-बीस सालों से इस मेले में काफी रौनक होने लगी है। आस-पास के गाँव के लोगों के साथ-साथ अब यहाँ के हलवाई और मनियारी वाले भी अपनी दुकानें लगाने लगे हैं।

त्रिनाल महादेव का अपना रथ तो है, लेकिन इस मेले के अतिरिक्त यह ग्राम देवता कहीं बाहर नहीं जाता। कुल्लू के दशहरे में भी नहीं।

मंदिर के आगे एक छोटा-सा मैदान है, जो मंदिर के आँगन का काम देता है। जिस समय मंदिर में रथ सजाया जा रहा होता है, उस समय आँगन में नाटी चलती है। नरसिंघा, करनाल और नगाड़े की आवाज़ों के बीच फुहणू की शहनाई पर लोक नर्तकों के पाँव थिरकने लगते। देखते ही देखते नर्तकों की कतार बढ़ने लगती। कई बार मन्दिर का आँगन छोटा पड़ता दिखाई देता।

पिछले तीस-पैंतीस सालों से फुहणू मंगलाचारी इस मौके पर अपनी शहनाई से समा बाँधता रहा है। पुजारी फुहणू और नगाड़े वाले रुणिया के माथे पर कुंगु का टीका लगाता और देवता की ओर से एक टोपी देता है। फुहणू को तो इस मेले का जैसे नशा-सा हो गया था। महीना-भर पहले वह शहनाई पर नई-नई धुनें बजाना शुरू कर देता था।

लेकिन इस साल फुहणू ने सात-आठ महीनों से शहनाई को हाथ भी नहीं लगाया। किसी शादी-ब्याह में भी शामिल नहीं हुआ। अपनी औरत की मौत के बाद रुणिये के कहने पर वह शादी में शहनाई बजाने गया तो सही, लेकिन अब वह पहले जैसी मस्ती कहाँ थी। बार-बार बेसुरा हो जाता तो रुणिया टेढ़ी आँखों देखकर उसे सचेत करता। वैसे रुणिया उसके दिल का दर्द जानता था। वह उसे शादी-ब्याह में इसलिए ले आता कि इससे वह अपनी औरत को भूल जाये। लेकिन ऐसा हुआ नहीं। उल्टे फुहणू ही शहनाई भूल गया।

आज चैत का तीसरा इतवार है। त्रिनाल महादेव का मेला लगने वाला है। पिछले मेले पर जब वह शहनाई बजाने गया था तो उसकी औरत बीमार थी। फुहणू का मन मेले में जाने का नहीं हो रहा था। रुणिये ने आकर कहा था– ''उमर हो गई देवता की चाकरी करते। आज नहीं जायेंगे तो देवता नाराज़ हो जायेगा। और फिर देवता के सत पर विश्वास रख। याद है न पार साल जंगल के ठेकेदार का लड़का कितना बीमार पड़ा था। वैद हकीम

सबने मुँह मोड़ लिया था। उसे त्रिनाल महादेव ने ठीक कर दिया था। तू तो इसका उमर-भर का चाकर है। तेरी नहीं सुनेगा क्या? तू चल।''

उसकी औरत ने भी कहा था—''देओ महाराज से मेरे लिए पूछ डलवाना। तुम उसकी इतनी सेवा करते हो, वह जरूर कुछ करेगा। तुम जाओ तो सही।'' तब कहीं वह मेले में शहनाई बजाने गया था।

देवता के रथ को पूरी तरह सजाकर, मंदिर से बाहर निकालने से पहले लोग देवता के 'गूर' से अपनी समस्याओं के समाधान पूछते हैं, फुहणू ने आँगन में खड़े होकर आवाज़ लगाई, ''देवा हो महाराज! मेरी घरवाली की बीमारी नहीं जाती।''

गूर ने कहा था—''सुन हो मंगलाचारी। तेरी घरवाली पर ग्रह बिगड़े हुए हैं। तू मेरा धागा-पानी ले जा। पंद्रह दिन में ठीक हो जायेगी। जा यह मेरा सत रहा।''

फुहणू को मन की मुराद मिल गई। तब मेले में फुहणू की शहनाई का अन्दाज़ ही कुछ और हो गया था। ऐसे-ऐसे रसीले बोल निकाले थे उसने कि लोग दंग रह गये। मेला रात ढले तक चलता रहा। एक तो चाँदनी रात, उस पर फुहणू की शहनाई, रुणिये का नगाड़ा, क्या बात थी।

जब वह देवता का धागा-पानी लेकर घर पहुँचा तो रात काफी बीत चुकी थी। शराब भी उसने खूब पी रखी थी। घर पहुँचा तो दरवाज़ा खुला पाया। दरवाज़े पर खड़े-खड़े ही कहा—''रूक्मो देवता ने धागा और जल दिया है। बोला है धागा गले में बाँधना और पानी पी लेना। तू ठीक हो जायेगी। तूने ठीक ही कहा था देवता की चाकरी की है, तो हमारी सुनेगा भी।''

वह बाहर फैली चाँदनी की उजास से भीतर के अन्धेरे में रूक्मों को टटोलता हुआ, अन्दाज से उसके बिस्तर तक पहुँचा। उसके गले में देवता का दिया हुआ धागा बाँधने लगा तो उसका झबरू कुत्ता दरवाज़े से बाहर निकल गया। फुहणू ने देखा तो एकदम बोला, ''अपनी मालकिन की टहल कर रहा था क्या?''

शराब के नशे में धागा रूक्मों के गले में बांध तो न पाया इसलिए लपेटते हुए बोला—''ले पानी पी ले...।'' तभी पता लगा कि पानी का बर्तन तो वह बाहर ही रख आया था। मंदिर के भण्डारी की मिन्नतें करके वह मिट्टी की छोटी-सी पारी में देवता का पानी लाया था। सारे रास्ते शराब के नशे में भी उसे सम्भाले रहा कि कहीं टूट न जाये। कमरें में अन्धेरा देखकर उसने वह बर्तन बाहर ही रख दिया था। अब उसमें इतनी हिम्मत नहीं थी कि बाहर से पानी का बरतन उठा लाता। इसलिए बोला—''पानी सुबह उठते ही पी लेना। तभी सत्र लगेगा।'' और धरती पर लुड़क गया।

सुबह जब उठा तो धूप कमरे की दहलीज लांघ चुकी थी। उसे बाहर रखी पानी की पारी का ध्यान आया। वह उठा और बाहर से पारी उठा लाया। देवता का नाम लेकर वह अपनी औरत के बिस्तर तक आया तो देखा कि देवता का दिया हुआ धागा तो छाती पर ही पड़ा हुआ है। सोचने लगा रात उसने यह धागा तो उसके गले में बांध दिया था। तो क्या इसने यह धागा तोड़ दिया? पास आकर देखा तो उसे अपनी घरवाली का मुँह नीला-सा दिखाई दिया। होंठ ऐसे खुले थे मानों दर्द में कराह रही हो। वह एकदम सन्ना-सा गया। उसे ज़ोर से पुकारा—रूक्मो! फिर भी उसे देवता के सत पर विश्वास था। उसने पारी का मुँह अपनी घरवाली के ओंठों पर ले जाकर पानी उड़ेला तो सारा पानी बाहर निकलकर फैल गया। तब उसने रूक्मो

के हाथ छुए। देखा एकदम बर्फ। वह पास ही धम्म से बैठ गया। धूप रूकमों के बिस्तर तक पसर कर पीछे हट रही थी।

कमरे से बाहर निकलकर फुहणू ने 'धाड़ें' मारनी शुरू कर दीं, ''लुटी गया वो लोगों ...डूबी गया...'' दस-पंद्रह मिनट में गाँव वाले इक्कट्ठे हो गये। पता लगा कि रूक्मो मर गई है। गाँव वालों ने उसकी बेटी के घर आदमी भिजवाया। फुहणू से दो-चार शब्द सहानुभूति के बोले और चल दिये। अब हरिजन की लाश को कंधा तो वे दे नहीं सकते थे।

शाम तक उसके बेटी-दामाद आये। साथ में वे अपनी बिरादरी के तीन-चार आदमी भी ले आये थे। पता था कि उस गाँव में उनकी बिरादरी के लोग नहीं हैं। रात को ही शव दाह करके वे लोग फुहणू को अपने साथ लेकर पौ फटने से पहले ही उस गाँव से विदा हो गये थे।

रूक्मो की मौत के बाद फुहणू ने शहनाई से अपना रिश्ता ही तोड़ लिया था। आज भी मेले में आने से पहले वह बहुत उधेड़-बुन में था। कभी सोचता था जाऊँ और कभी सोचता क्या करूँगा जाकर? पिछली बार रूक्मो के बहुत कहने पर ही वह वहाँ गया था। लेकिन क्या हुआ उसके विश्वास का? मेरी सेवादारी का ही क्या फल मिला मुझे?

उसने मन ही मन बांध लिया कि आज वह देवता से अपनी नाराज़गी जाहिर करेगा। उसने देवता के सत पर विश्वास किया और देवता ने... चलो आज वहीं जाकर पूछूँगा।

फुहणू मेले में तो पहुँच गया। मन्दिर में माथा टेका। बजंतरी रुणिया के साथ 'राम राम' कहा और चुपचाप बैठ गया। बजंतरी ने देखा कि फुहणू ने शहनाई उल्टी करके अपने सामने रख दी है और बिना कुछ बात किये मंदिर के भीतर झांक रहा है। उसने भांप लिया कि फुहणू मेले में आया तो है, पर उसके भीतर बड़ी हलचल है। रुणिया जानता था कि पिछले साल मेले से जाने के बाद फुहणू की घरवाली मर गई थी। उस रात वह भी नशे में अपने घर चला गया था। रूक्मो की मौत की खबर तो उसे तीसरे दिन लगी थी। फिर यह भी पता चला था कि वह अपनी बेटी के घर रहता है, वहाँ रुणिये ने जाना उचित नहीं समझा। आज वह उससे रूक्मो की मौत का दुःख जताना चाहता था, लेकिन फुहणू उसकी ओर तो देख ही नहीं रहा था। 'राम-राम' भी उसने बहुत ही मरियल आवाज़ में कही थी। पहले तो उसे लगा कि फुहणू उससे नाराज़ है, क्योंकि वह रूक्मो की मौत पर उससे दुःख प्रकट करने नहीं पहुँचा था। पर फुहणू की इतनी लम्बी खामोशी और मन्दिर के भीतर एकटक देखते रहने से उसने भांप लिया कि फुहणू एक उसी से नहीं सारे मेले से ही नाराज़ लगता है।

मन्दिर के भीतर देवता के मोहरे निकाले जा रहे थे। उन्हें गंगाजल में स्नान करवाया जा रहा था। अचानक पुजारी का ध्यान बाहर की तरफ गया। बाहर सन्नाटा सूंघकर उसने भण्डारी से कहा—''बाहर क्या हो रहा है भण्डारी जी! सब चुप क्यों हैं''?

भण्डारी ने भीतर से ही आवाज़ लगाई—''वे बजंतरियो मर गये हो क्या?''

बाहर फिर भी सन्नाटा छाया रहा। लोग-बाग खड़े थे। सबकी नजरें बजंतरियों पर थीं। रुणिये ने नगाड़े पर धमक की और फुहणू की ओर देखा मानों कह रहा हो—''शहनाई उठाओ मंगलाचारी।'' मगर वह तो चुपचाप, सब कुछ से बेखबर-सा मंदिर के भीतर ही देखे जा रहा था।

भण्डारी बाहर आया, ''चुप क्यों हो मंगलाचारी। देवता नहलाया जा रहा है इस वक्त

नहीं बजाओगे, तो तुम किस काम के...समझ...।''

भण्डारी की कड़क से केवल नगाड़े वाला हिला, उसने नगाड़े पर धमक की और अध ा-मुंदी आँखों से मंगलाचारी की ओर देखता रहा कि कब वह शहनाई उठाता है। मगर फुहणू पर जैसे इस सब कुछ का कोई असर ही नहीं हो रहा था। रुणिये ने भी दो-चार गतें (धुनें) ठोक कर चुप्पी साध ली।

अब भण्डारी से नहीं रहा गया। इस बार उसकी आवाज़ में आदेश भरा अनुनय-विनय नहीं था, बल्कि एक ऐसी कड़क थी जिसमें हुकम अदूली के भयंकर परिणाम की गूंज थी– ''क्या वे फुहणू शहनाई नहीं बजानी?'' कहता हुआ वह फुहणू के सिर पर खड़ा हो गया। लोग भी इधर-उधर से उठकर तमाशा देखने इकट्ठे हो गये। भण्डारी ने फुहणू का कंधा झकझोरते हुए पूछा–''क्या हुआ है?''

''कुछ नहीं मालका।''

''फिर बजाता क्यों नहीं?''

''ये जो पूछ जो भीतर बैठा है।''

''कौन? यहाँ किसी ने कुछ कहा? पुजारी ने बोला है कुछ?...गूर ने कोई गंदी बात कही?''

''नहीं मालका नहीं।''

''फिर किससे नाराज़गी है?''

''राजो पूछ जो भीतर है।''

भण्डारी को कुछ समझ पड़ गया सहानुभूति दिखाते हुए बोला–''देवता से पूछना है कुछ?''

''हाँ मालका, पूछना है।''

भण्डारी का धैर्य अब साथ छोड़ने लगा था। पुजारी और दूसरे लोग जो देवता को नहलाने और सजाने का काम कर रहे थे भीतर से ही ऊँचे-ऊँचे बोले जा रहे थे। जिसकी ठीक-ठीक शब्दावली तो वह सुन नहीं पा रहा था, लेकिन उन सभी आवाज़ों का सरलार्थ वह अच्छी तरह जानता है पर नये ज़माने के तेवर समझते हुए वह बहुत सब्र से काम ले रहा था। भीतर से तो जैसे फुहणू को 'चार जूते लगाने', 'सिर फोड़ने' और न जाने क्या-क्या हुक्म आ रहे थे। लेकिन भण्डारी उन सब का परिणाम जानता है इसलिए उकसावे के बावजूद वह स्थिति को सम्भालने की कोशिश कर रहा था। अपनी आवाज़ और ज़्यादा नर्म बनाते हुए भण्डारी बोला, ''जब पूछ (देवता से सवाल करना) का वक्त आयेगा तो तू भी पूछ लेना।''

''नहीं मालका। पहले मेरा जवाब मांग।''

आस-पास खड़े लोगों के हजूम में खुसर-पुसर होने लगी। बीच से एक आवाज़ आई–''इसकी घरवाली मर गई है, उसी के बारे पूछ रहा होगा?''

भीड़ में से किसी ने कहा–''मरे हुओं के बारे में तो चारज (मृतकों का दान लेने वाला ब्राह्मण) ही बता सकता है, देवता नहीं।'' इस बात पर भीड़ में हंसी की खनखनाहट गूँज उठी। जैसे इस बात का भीड़ ने रस लेते हुए समर्थन किया। इससे भण्डारी का हौंसला बढ़ गया। उसे लगा कि यदि अब वह फुहणू पर हाथ भी उठा दे तो भी भीड़ उसका समर्थन ही करेगी। लेकिन फिर भी समझदारी का सबूत देते हुए उसने उसी मुलायम आवाज़ में कहा, ''देख फुहण मरना-जीना तो लगा रहता है। इसमें किसी का क्या कसूर। उसकी जितनी लिखी

थी, उतनी उसने भोग ली। फिर भी तुझे कोई गिला है तो पूछ के वक्त उसका समाधान बता देंगे।''

मगर फुहणू तो सुई अटके हुए ग्रामोफोन की तरह बोले जा रहा था—''मिंजो सत देई कने, असत्त किंहा हुआ। मालका पंद्रह दिन का वायदा भी नहीं निभा पाया...पूछता सही ... भला मेरा क्या कसूर?''

जो भीड़ अब तक इसे एक तमाशा समझ कर देख रही थी, फुहणू की ज़िद से चिढ़ कर अब हिंसक होने की तैयारी करने लगी। तरह-तरह की आवाज़ें आने लगी, ''दिमाग खराब हो गया है इन लोगों का।''

''सरकार ने सिर चढ़ा रखा है। अब देवता पर भी धौंस जमाने लगे हैं।''

''इन लोगों को अब निकाल ही देना चाहिये। शादी-ब्याह तक में भी अब पैसों के बारे में अकड़ने लगे हैं।''

''रहने दो शहनाई। नगाड़े से ही काम चला लो। क्या जरूरी है। पहले बता देता तो हेसियों की कमी नहीं इलाके में।''

''अरे होमगार्ड का बैंड आ सकता था।''

भीड़ में से किसी एक ने हाथ बढ़ा कर फुहणू को उठा दिया—चल निकल जा बाहर जो देवता की सेवा नहीं कर सकता, उसे देवता के मंदिर में भी जगह नहीं मिल सकती। भीड़ ने उसे धकिया कर अलग कर दिया। फुहणू ने भीड़ की ओर देखा तो लगा मानों बाघ का परिवार उसे घूर रहा था।

भीड़ ने नगाड़े वाले को हुक्म दिया—''बजंतरी बजा नगाड़ा, आज तेरी ही धुन पर नाच होगा। देखते हैं, यह कब तक देवता से नाराज़ रहता है।''

''शहनाई के बगैर नगाड़ा गूंगा होता है मालको। यह नहीं बजेगा।'' रुणिये ने कहा और अपनी चोभें (लकड़ी के दो छोटे-छोटे टुकड़े, जिनसे नगाड़े पर चोट की जाती है) जमीन पर रख दीं।''

रुणिये की यह हरकत भीड़ को नागवार गुजरी। उन्होंने उसे पीटते हुए बाहर कर दिया। ये क्या समझते हैं, इनके बिना मेला नहीं होगा। देवता नहीं सजेगा?

मंदिर की ढलान उतरते हुए फुहणू ने कहा—''बजंतरी तूने मेरी लाज रखी। देवता से तो आदमी भला जो उसके दुःख को समझता हो।''

बजंतरी सोचने लगा—यह मंगलाचारी आज कैसे बोल बोल रहा है?

[मकान नं.- 47/10, खनक गली, मंडी, हि.प्र.-175001]

लाइलाज

❑ स्वयं प्रकाश

यदि दरवाज़े की घण्टी ठीक काम कर रही होगी, तो भी कोई ज़रूरी नहीं कि उसकी आवाज़ कोई भीतर सुन ही लेगा। आप पाँच-पाँच मिनिट के अन्तराल से तीन-चार बार घण्टी बजाएँगे और भीतर से कोई प्रत्युत्तर न पाकर दरवाज़े को धकेलकर देखेंगे कि कहीं ताला ही तो बन्द नहीं है? इस पर आप पाएँगे कि दरवाज़ा तो खुला हुआ ही था। लेकिन भीतर घुसते ही आप ज़रूर किसी न किसी चीज़ से ठोकर खाएँगे। वह चाहे छोटे बच्चों की ट्राइसिकल हो या गेहूँ का कनस्तर या जूते या और कुछ। भीतर घुसते ही आपको समझ में आ जाएगा कि क्यों घण्टी की आवाज़ किसी को सुनाई नहीं दी। ड्राइंगरूम में टीवी चल रहा होगा—हालाँकि उसे देखनेवाला कोई नहीं होगा, लड़के के कमरे में फुल वॉल्यूम पर म्यूज़िक सिस्टम—जबकि वह पढ़ रहा होगा, दूसरे कमरे की बालकनी से लड़की सड़क पार सहेली से ऊँची आवाज़ में गपशप कर रही होगी और पूजाघर में मेरी माताजी घण्टी बजाकर पूजा-आरती कर रही होंगी।

यदि आप चाहेंगे कि पहले हाथ-मुँह धो लिये जाएँ तो आप ड्राइंगरूप से सटे डाइनिंग स्पेस के वाश-बेसिन पर जाएँगे। वाश-बेसिन में यदि आपके सौभाग्य से किसी का थूका उगला बलगम इत्यादि न भी हुआ तो भी दो-चार चिपकनेवाली बिन्दियाँ, एक-दो टूटे रबड़ बैण्ड और एकाध बालों का गुच्छा जरूर पड़ा होगा। नल ठीक से बन्द नहीं होगा और टपक रहा होगा। सारे घर के नल ठीक से बन्द नहीं होते और टपकते रहते हैं। यह उनका सामान्य चरित्र बन गया है। वहाँ एक साबुनदानी भी रखी होगी जिसमें पानी भरा होगा। उसमें एक घिसी हुई साबुन की टिकिया भी होगी लेकिन वह जलकमलवूत नहीं होगी, कढ़ी में पकौड़ीवत होगी। कोई चाहे तो सिर्फ साबुनदानी के रसे से हाथ धोकर दस-पन्द्रह दिन काम चला ले, जैसे मैं चला लेता हूँ। यदि आपने इस वाश-बेसिन पर हाथ धो लिए तो वह चोक हो जाएगा, उसमें ऊपर तक पानी भर जाएगा और आप केवल प्रार्थना के शिल्प में सोचते रह जाएँगे कि पन्द्रह-बीस मिनिट या आधे घण्टे में यह पानी की तरह निकल जाए। वहाँ एक तौलिया भी टँगा होगा, लेकिन वह इस कदर स्वच्छ होगा कि उससे जूते भी पोंछ लिए जाएँ तो जूतों पर फिर पॉलिश करनी पड़े। खैर, इतनी अपेक्षा तो आपसे की ही जाती है कि आपकी जेब में आपका निजी रूमाल भी होगा। आईने में कुछ नज़र नहीं आएगा सिवाय कोहरे के जिसका ताल्लुक मौसम से कतई नहीं है। यदि हाथ-मुँह धोने के बाद आप उसमें देखकर अपने बाल जमाने का दुस्साहस करेंगे तो बहुत संभव है आप अपनी माँग बायीं तरफ की बजाय दाहिनी तरफ निकाल लें और फलस्वरूप खुद को ही पहचान में नहीं आएँ।

डाइनिंग स्पेस में एक डाइनिंग टेबल भी होगी। ध्यान से देखने पर नज़र आ जाएगी। उस पर अचार-मुरब्बे के मर्तबान, ऊन के गोलों में घोंपी गयी सलाइयाँ, ताज़ी तोड़ी गयी

मंगोड़ियाँ और इनसे लेकर बच्चों की किताबों तक कुछ भी हो सकता है। चाय के जूठे कप, सब्जियों के डंठल-छिलके और इधर-उधर बिखरे-लुढ़के पानी के गिलास तो होंगे ही। दरअसल डाइनिंग टेबल का उपयोग हमारे घर में रामलीला मैदान या चौपाटी की तरह किया जाता है। वह खाना खाने के अलावा हर काम में आती है। उसकी सनमाइका टॉप का मूल रंग और डिज़ाइन कैसा था, यह शोध का विषय बन चुका है, जबकि अभी उसने अपने जीवन के पाँच बसंत भी नहीं देखे हैं।

यहीं एक तरफ ड्रेसिंग टेबल पड़ी होगी। उस पर धूल, सिन्दूर और पाउडर की ऐसी महीन परत बिछी होगी मानों उस पर डीडीटी का छिड़काव किया गया हो। पाउडर का डिब्बा खड़ा नहीं, लेटा होगा, सिन्दूर की डिबिया खुली होगी, तेल की शीशी का ढक्कन गायब होगा, नेलपॉलिश की अधखुली शीशियाँ नींद में गाफिल बच्चों की तरह एक-दूसरे पर लुढ़क रही होंगी, टूटी चूड़ियों के टुकड़े यूँ पड़े होंगे जैसे उन्हें बाहर फेंक देने से पाप लगता हो। टूटे दाँत वाले कंघे में बालों के गुच्छे फँसे होंगे और आईना चुटीलों, रिबिनों, हेयरबेण्डों को कंधा दे रहा होगा। अलावा इसके आईने पर कुछ बच्चों की लाल-काली चित्रकारी भी नज़र आएगी, जो असल में बच्चों की चित्रकारी नहीं, मस्करा आइलाइनर और लिपस्टिक के शेड और चालूपने का टेस्ट ट्रेक, यानी चलाकर देखने का स्थान है। यदि आपने अफ्रीका के आदिवासी के रूप में कभी अपनी कल्पना करना चाही हो, तो उस रूप में अपनी छवि निहारने के लिए इस ड्रेसिंग टेबल के आगे एक बार खड़े हो जाना पर्याप्त होगा।

आपका मन करेगा क्यों न पहले दो घूँट पानी ही पी लिया जाए। पानी लेने के लिए फ्रिज खोलेंगे तो आप पर एक भयंकर किस्म की मिली-जुली गंध हमला करेगी। यह गंध उन दवाइयों की है जो माताजी फ्रिज में रखती हैं और उन मसालों की जिनको साप्ताहिक पिसाई के बाद यहाँ रखा जाता है और उस सड़े खट्टे दही की भी जिससे लड़की सिर धोती है और जिसे रखने का सर्वोत्तम स्थान यही है। कोई अजब नहीं यदि प्लेन पानी में भी आपको मुफ्त में इन गंधों और इनके स्वादों का भी मज़ा मिल जाए।

विद्वानों का कहना है कि महाभारत का युद्ध सैकड़ों साल पहले हुआ था। उन्होंने हमारा किचन नहीं देखा। लेकिन जरा रुकिए। आप सोच रहे हैं कि मैं अपने घर का इतना दारुण चित्र क्यों खींच रहा हूँ। है न? क्या बताऊँ। मैं खुद नहीं जानता। मेरे घरवाले भी नहीं जानते कि आखिर मेरी प्रॉब्लम क्या है? सच पूछिए तो शायद कोई मनोवैज्ञानिक ही इसका ठीक विश्लेषण कर सकता है। शायद मैं पुराने ज़माने का-सा आदमी हूँ। हर चीज़ में सलीका, नफासत, सफाई और सिस्टम पसन्द करता हूँ, भले ही उससे कुछ हासिल न होता हो। इससे उलट मेरा पूरा परिवार घोर अव्यवस्थाप्रिय है। वहाँ कोई चीज़ सही जगह पर रखना, किसी भी चीज़ का ज़रूरत के वक्त फौरन मिल जाना, चीज़ों को किफायतशारी के साथ इस्तेमाल करना, चीज़ों की सार-संभाल करना और उन्हें समझदारी से बरतना गुज़रे ज़माने की छोड़ दी जाने लायक कद्रें हैं। हो सकता है जैसा बाहर देखते हों वैसा ही घर में करते हों। या हो सकता है बाहर ऐसा करने की गुंजाइशें जैसे-जैसे कम होती जा रही हों—ये घर में उसकी गुंजाइश बढ़ाते जा रहे हों। कभी-कभी मूड आता है तो मैं घर की बहुत सारी चीज़ें झाड़-पोंछकर सही जगह रख देता हूँ। इससे सारा घर परेशानी में पड़ जाता है। हमारे यहाँ मोजों की जगह सिलाई मशीन से मसालदान तक कुछ भी हो सकती है, जूतों का रैक नहीं चश्मे का केस गमले से

गॅराज तक कहीं भी छोड़ा जा सकता है, बुक-शेल्फ पर नहीं। अब यदि मैं मोजों को जूतों के रैक में और चश्मे के केस को बुक-शेल्फ पर रख दूँगा तो ढूँढने में परेशानी तो होगी ही। सब चाहते हैं उनकी अव्यवस्था और जंगलतंत्र को कतई डिस्टर्ब न किया जाए। लड़के ने तो अपने कमरे के दरवाज़े पर बाकायदा एक पोस्टर लगा रखा है जिस पर लिखा है—भीतर घुसो तो अपनी जोखिम पर। ठीक है। यह भी ठीक है। शायद विक्टोरिया युग के अदब-लिहाज और औपचारिकता का इसी तरह सत्यानास किया जा सकता है। पर मैं कहता हूँ उसकी जगह भारतीय सादगी और संयम को बिठाने की बजाय अमरीकी अय्याशी और उजड्डपन को बिठाने में क्या तुक है? लेकिन मेरी बात किसी को समझ में नहीं आती।

जब परिवार कहीं बाहर चला जाता है तो पहले तो मैं सारे घर को अपने हिसाब से झाड़ता-पोंछता-सजाता-जमाता हूँ। फिर कम से कम एक दिन इसी बात पर खुश होता हूँ कि इस सुव्यवस्था को किसी ने बरबाद नहीं किया। फिर एक-दो दिन इस तरफ से निरपेक्ष और उदासीन जैसा रहता हूँ। और फिर यह सुव्यवस्था मुझे काटने को दौड़ने लगती है। चाहता हूँ कोई आए और सबकुछ को पहले की तरह बिखरा जाए।

मेरा कोई इलाज है?

[3/33, ग्रीन सिटी, ई-8, अरेरा कॉलोनी, भोपाल, म.प्र.]

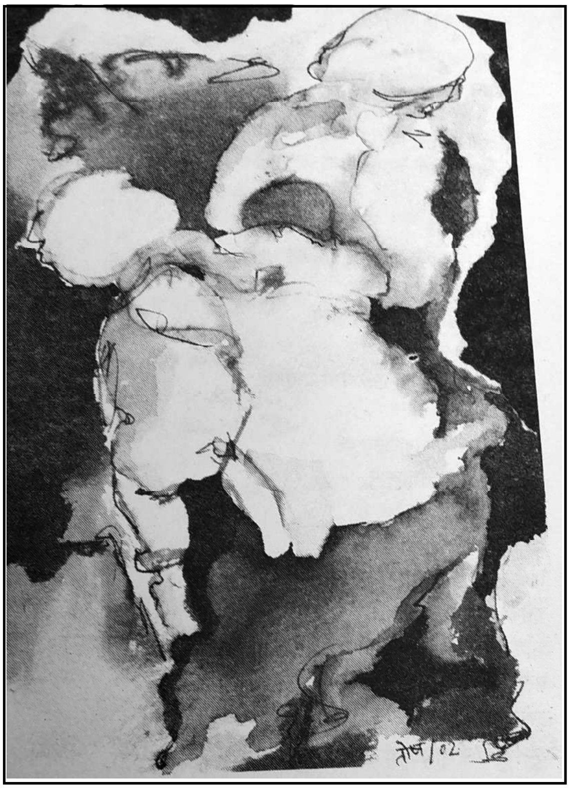

धुएँ में लुप्त एक याद

❑ हिमेश

मैं जिस मकान में किरायेदार की हैसियत से पिछले साल ही आया हूँ वो जीर्ण-शीर्ण हालत में था। इस मकान का असली मालिक मैक्डोनल्ड एक अंग्रेज़ था जिसकी मृत्यु 1949 में हो गई थी। 1951 में इस मकान को लाला वीरचन्द ने खरीदा, वो भी दस साल बाद मर गया। उसके बेटे की मृत्यु एक दुर्घटना में हो गई थी। और लाला वीरचन्द का पोता दुर्गाचन्द व्यसनों में पड़कर बरबादी की राह पर चल पड़ा। उसी से मैंने मकान किराए पर लिया। शर्त ये थी कि मुरम्मत वगैरह मैं खुद करवाऊँगा। किराया कम था, इसलिए मान गया।

मुरम्मत तो बहुत बड़ी करने की ज़रूरत थी अगर मकान रहने के लायक बनाना होता। मैंने छोटी-मोटी मुरम्मत की। इस मुरम्मत के दौरान एक छोटा-सा कमरा खोला गया, वो कबाड़खाना ही कहा जाएगा। शायद मैक्डोनल्ड साहब के ज़माने से ही ये स्टोर बन्द पड़ा था। इसमें एक टूटा-फूटा सोफा था जिसकी लकड़ी तक सड़ गई थी। एक छोटी मेज़ थी जिसके दराज़ में मुझे कुछ कागज़ मिले। न जाने क्या सोचकर मैंने उन गले-सड़े कागज़ों को सम्भाल कर रख लिया। आज कई दिनों बाद धूप निकली थी तो धूप सेकने के लिए बैठकर उन्हीं कागज़ों को लेकर पढ़ने लगा और एक आश्चर्यजनक कहानी का उद्‌घाटन हुआ।

बात सन् 1840 की थी और वो भी कांगड़ा जिले के नूरपुर की। मेरा चौंकना वाजिब था। उन कागज़ों में नूरपुर के लक्खू मोची का ज़िक्र था। एक अंग्रेज़ के निजी कागज़ों में एक मोची के ज़िक्र ने ही मुझे चौंकाया था। सन् 1840 की वो भी शायद आज ही की तरह सर्दी की सुबह थी, जब लक्खू मोची बड़ी तन्मयता से बड़ी नान्द से साम्भर की खालों को एहतियात से निकाल-निकाल कर बियुल के पेड़ों में टंगी मूंज की रस्सी पर टांग रहा था और अपनी कारीगरी पर प्रसन्न हो रहा था। आज ही अम्बाला से टालबट साहब को आना था और लक्खू ने उसे साम्भर की चालीस खालें कमा कर देनी थीं।

लक्खू की कारीगरी उसकी अपनी नहीं बल्कि सदियों की विरासत की कारीगरी थी। उसने सुन रखा था कि उसके पूर्वजों को चमड़ा बनाने में कमाल हासिल था। बादशाह शाहजहां के दरबार में उसके पूर्वजों की बड़ी कद्र थी। उसके पूर्वजों द्वारा तैयार किया गया लाल रंग का चमड़ा इतना मुलायम, इतना पतला और इतना चमकीला होता था कि बादशाह शाहजहां ने उसके पूर्वज को सोने की सौ मोहरें इनाम में दी थीं। उसके एक पूर्वज ने खरगोश की खालों को कुछ इस ढंग से तैयार किया था कि शाहजहां ने उनका अपने लिए एक चोगा बनाया था और कश्मीर में उसे पहन कर शाहजहां शिकार खेलने जाया करता था।

लक्खू ने साम्भर की दो ताज़ा खालों को भिगोकर चूने और पानी से भरे मटके में डालकर उस पर चिकनी मिट्टी के लेप से ढक्कन लगा दिया था। आज बीस दिन हो गए थे और उन खालों को देखना ज़रूरी था। लेकिन सबसे पहले नान्द में रखी खालों को निकाल

कर टांगना ज़रूरी था। उसने इन चालीस खालों को पहले नमक के एक ढेले से अच्छी तरह रगड़ा और फिर दिन भर धूप में सुखाया। सूखने पर अच्छी तरह धोकर उन्हें लकड़ी की राख से मला। साम्भर की खालों के बाल जड़ों से कुछ ढीले पड़ गए थे तब राम्बी से अच्छी तरह खुरच कर बालों को निकाला था। फिर खालों को पानी में डुबोकर मिट्टी के बर्तन के टुकड़ों से उन्हें और रगड़ा। इस तरह उनके सब बाल झड़ गए थे। अन्दरूनी हिस्से को फिर राम्बी से खुर्चा था।

एक बहुत बड़ी नान्द (मिट्टी का मटका) में छह सेर जौ का आटा, अढ़ाई सेर नमक और पानी डालकर घुल जाने दिया। फिर खालें उस नान्द में डालकर चार दिन तक पड़ी रहने दीं। चार दिन के बाद खालों को निकाल कर धो-सुखा कर फिर दो सेर बणकठ के घोल में डुबो दिया। पाँच दिन तक उसमें रखने के बाद खुरपी से खालों को फिर अच्छी तरह रगड़ा। उसके बाद सात सेर जौ का आटा, तीन सेर नमक का ताजे पानी में घोल बनाकर खालों को तीन दिनों तक उसमें डुबाए रखा।

अब सब से नाजुक काम था रंगाई का। इसी में लक्खू का कमाल था। नूरपुर में और भी मोची थे, खास कर झाकू। लेकिन मजाल कि कोई लक्खू का मुकाबला कर पाता। रंगाई के लिए चार सेर लाख, दो छटांक सज्जो और दो छटांक लोदर के छिलकों को गर्म पानी में डालकर खालों को उस में उबालना पड़ता था। इस काम में ही असली कामयाबी का राज़ छुपा था। ज़रा-सा ज़्यादा उबालो तो चमड़ा किसी काम का नहीं रहता, कम उबालो तो लाल रंग उतर जाता। तीन-चार दिनों तक इस प्रक्रिया के बाद फिर खालों को अमलतास की छाल के काढ़े में चार दिनों तक रखना पड़ता था। इसके बाद खालों को नमक के चूर्ण से रगड़ना पड़ता था। जो लक्खू का अपना ही नुस्खा था और सदियों की विरासत में मिला था। ये काम रात को सरसों के तेल के दीपक की रोशनी में वो करता था, ताकि और किसी को इस भेद का पता न लगे। इस क्रिया से रंग तो पक्का होता ही था साथ ही चमड़े में अजब चमक और नरमाई आ जाती थी। इस प्रकार से तैयार की गयी चालीस खालों को लक्खू ने एक-एक करके मूँज की रस्सी पर टांग दिया और फिर हुक्का सुलगाकर पास रखे घास के ढेर पर बैठकर अपनी कारीगरी का मुआइना करता रहा। मैक्डोनल्ड साहब के कागज़ों से मुझे पता लगा कि इस प्रकार तैयार की गई चालीस खालों पर 12 रुपये 9 आने और 6 पाई का खर्चा आता था मगर वे बिकती थीं 350 से 400 रुपये तक में।

लक्खू का क्या हुआ ये किस्सा तो मैक्डोनल्ड के कागज़ों में मुझे मिल गया। उसका ज़िक्र मैं बाद में करूँगा। लेकिन एक किंवदन्ती मुझे मेरे एक दोस्त ने बताई जो नूरपुर का रहने वाला है। उस किंवदन्ती ने मेरी इस कहानी में वो रंग भरा जो लक्खू चमड़े की खालों में भरता था। किंवदन्ती कुछ इस तरह थी :–

लक्खू के पूर्वजों द्वारा कमाया जाने वाला चमड़ा दस्तानों, बिरजिस (ब्रीचिज़) बनाने के काम आता था। कांगड़ा के राजे वहीं से बिरजिस के लिए चमड़ा लिया करते थे। ऐसे ही किसी राजा ने कुछ खालें बादशाह शाहजहां को भेंट की थीं, जिससे शाहजहां की पारखी नज़र ने इस कला को सराहा।

नूरपुर के मियां निहाल सिंह को शिकार का बहुत शौक था और वो साम्भर, घुरल, कक्कड़, खरगोश की खालें लक्खू को दिया करता था। मियां निहाल सिंह की बेटी कमला

का विवाह जम्मू के राजा खानदान में हुआ था, परन्तु उसका पति एक युद्ध में मारा गया था और कमला गृह-कलह से दुखी होकर अपने पिता के पास आ गई थी। जैसा कि किंवदन्तियों में होता है, लक्खू एक गबरू जवान था और बहुत खूबसूरत था। लोग भी यही कहते हैं लक्खू अपने बाप का नहीं एक राजपूत की औलाद था जिसकी माँ के संगीत से वो राजपूत मोहित हो गया था। लक्खू भी स्वयं जब गाता था तो उच्च कुल तक की लड़कियों के हृदयों में गुदगुदी हो जाया करती थी। कमला भी लक्खू के गले के जादू से मोहित होकर उसके प्रेम के रंग में रंग गई। लक्खू कमला से विवाह तो कर नहीं सकता था, परन्तु उसने अपनी बिरादरी में भी विवाह नहीं किया। प्रेम के इसी रंग को वो चमड़े में कुछ इस तरह से भर देता था, कि देखने वाले चकित रह जाते थे। इस प्रेम का नतीज़ा यह हुआ कि कमला का पैर भारी हो गया। उसे आत्महत्या करनी पड़ी। लक्खू उसके बाद वो लक्खू न रहा जो पहले था।

मैक्डोनल्ड के कागज़ों से जो एक और आश्चर्यचकित करने वाली बात सामने आई वो ये थी कि लक्खू द्वारा तैयार किये गये चमड़े की धूम इंगलैण्ड के चमड़ा उद्योग के क्षेत्रों में मच गई। तब तक भारत से कच्चा चमड़ा निर्यात होता था और रंगाई के बाद वही खालें चमड़ा बनकर वापिस भारत आती थीं। कांगड़ा के तात्कालिक डिप्टी कमिश्नर, उसके अमले के अंग्रेज़ अधिकारी और जालन्धर डिविज़न के अंग्रेज़ कमिश्नर जब लक्खू के बने चमड़े के बूट, बिरजिसें और दस्ताने लेकर इंगलैण्ड वापिस गये तो इस चमड़े के चर्चे हुए। नतीजा यह हुआ कि इस चमड़े की मांग बढ़ी, मगर वहाँ के चमड़ा उद्योग के चन्नासेठ इससे क्षुब्ध हुए।

फिर ये हुआ कि अंग्रेज़ अधिकारियों को उन्होंने घूंस दी। अम्बाला से अंग्रेज अधिकारी टालबट साहब को इस काम के लिये नियुक्त किया गया। टालबट साहब जब नूरपुर आये तो लक्खू की कारीगरी का कमाल उन्होंने खुद देखा। नूरपुर में तब मोचियों के 18 घर थे लेकिन किसी के कमाये हुए चमड़े में वो कमाल नहीं था जो लक्खू के चमड़े में था।

टालबट साहब इस बात में कामयाब हो गए कि लक्खू उनके साथ चल पड़े। इसमें मियां निहाल सिंह का हाथ भी बताया जाता है। टालबट साहब, लक्खू को यह कह कर अपने साथ ले गए कि कानपुर में उसके लिये एक स्वर्ग इन्तज़ार कर रहा है। तब तक कानुपर में चमड़ा उद्योग बहुत मज़बूती इख्तयार कर चुका था।

कमला की आत्महत्या के बाद लक्खू का नूरपुर में जी नहीं लगता था, इसलिये वो भी टालबट साहब के साथ हो लिया।

मैक्डोनल्ड के कागज़ों में इसका जिक्र नहीं मिलता कि लक्खू कानपुर पहुँचा या नहीं। पहुँचा तो उसका वहाँ क्या हुआ, मगर इतना ज़रूर हुआ कि नूरपुर में चमड़े का उद्योग धीरे-धीरे ठप्प हो गया और इण्गलैंड के चमड़ा उद्योग की साख बनी रही।

एक हवा का झोंका आया और मैक्डोनल्ड के भुरभुरे कागज़ मेरे हाथ में फरफरा गए। मैं उठा और उन कागज़ों को मकान के आँगन में जलते हमाम में डाल दिया। हमाम से एक बार तेज़ लपटें उठीं, फिर हवा के झोंके से लपटें बुझ गईं और धुएँ का एक रेला मेरी तरफ लपका। आँखों में मिर्चें-सी डालकर धुआँ आकाश में विलीन हो गया। साथ ही नूरपुर के इतिहास की एक याद भी लुप्त हो गई।

[शिमला, हि.प्र.]

आ गया भराड़ीघाट

❑ योगेश्वर शर्मा

यह उन दिनों की बात है जब पहाड़ की सड़कों पर गाड़ियाँ बहुत धीमे चलती थीं। सड़कें भी बहुत कम थीं। उन दिनों दुनिया इतनी नज़दीक नहीं थी।

मंडी से शिमला सुबह चार बजे बस चलती थी और रात आठ बजे के करीब बस शिमला पहुँचती थी। उन दिनों उस बस में जो नहीं बैठा, उसका जन्म अकारथ और जो शिमला नहीं गया, उसका जन्म भी अकारथ। मंडी और शिमला के बीच में एक पड़ाव था—भराड़ीघाट, जो उन दिनों बीच में आता ही था। बस वहाँ हर हालत में रुकती ही थी। भराड़ीघाट में एक प्रसिद्ध ढाबा होता था। उस ढाबे में शुद्ध, स्वादिष्ट, बहुत ही लज़ीज़ खाना—कढ़ी-भात मिलता था। जिसने उस कढ़ी और भात का स्वाद नहीं चखा, उसका जन्म भी अकारथ।

यह उन दिनों की बात है जब पहाड़ की प्राकृतिक हवा में कोई मिलावट नहीं थी। हवा बड़ी खुली-खुली थी। प्राकृतिक बयार बड़ी सीधी, सच्ची निश्छल, निष्कपट। साँस लेना सुलभ था। सुबह-सुबह चार बजे शिमला जानेवाली बस में बैठने की बात ही कुछ और थी।

"सिर बाजू अन्दर।" कंडक्टर भोलू बार-बार हिदायत देता रहता। गर्मियों के दिन। शिमला जानेवाली बस। खिड़की के पास सीट। मन्द-मन्द हवा। अपनी सुरक्षा के लिए सिर-बाजू बस के अन्दर। कंडक्टर भोलू का समयोचित रक्षात्मक आदेश। आदमी को और क्या चाहिए?

मैं उन दिनों सातवीं जमात में पढ़ता था, जब अपने एक रिश्तेदार के साथ पहली बार शिमला गया था। मैं उस बस में बैठा हूँ जो सुबह चार बजे मंडी से चलती थी और रात आठ बजे के आसपास शिमला पहुँचती थी। मैंने उस्ताद माधोराम को देखा है जो उस बस के ड्राइवर थे। मैंने कंडक्टर भोलू को देखा है। मैंने भराड़ीघाट के उस ढाबे में कढ़ी-भात खाया है। मेरा जीवन अकारथ नहीं गया।

मुझे कंडक्टर भोलू के भाग्य से ईर्ष्या होती। गुरु शिवानंद जी ने सातवीं जमात में एक प्रस्ताव लिखने को दिया था— 'जीवन का लक्ष्य'। कापी पर पता नहीं मैं क्या-क्या लिख आया था... लेकिन मुझे लिखना चाहिए था कि अगर मैं शिमला जानेवाली उस बस का ड्राईवर नहीं बन सका तो मेरा जीवन विरथा और अगर उस बस का कंडक्टर भी न बन सका तो यह जीवन और भी विरथा। सातवीं जमात तक कुछ ऐसा ही मेरे जीवन का स्तर था।

सुबह-सुबह हमें बस में छोड़ने, घर से लगभग सभी आये थे। पास-पड़ोस में भी खबर हो गयी थी।

"पंडित जी रा भाऊ शिमला जाणे लगेया।"

पड़ोस की दुर्गा बुआ ने मुझे दो रुपये दिए, "भाऊ, ठीक रहणा। दूर परदेस की बात

है। चिट्ठी-पत्र लिखते रहणा। गर्म कपड़े पहने रखणा। सुना है शिमला में बहुत ठंड है।"

मोहनी बुआ ने मुझे अखरोट की पोटली दी। किसी ने अनारदाने की गोलियाँ। किसी ने सुखायी हुई खुमानियाँ। किसी ने सुखाये हुए आँवले। जितना धनाढ्य मैं उस दिन था, उससे बड़ा धनाढ्य मैं फिर कभी नहीं बन सका।

उन दिनों गाड़ी को हैंडल लगाने पड़ते थे—"घर्र-घर्र घरर घरर...।"

"भोलू, और जोर से हैण्डल मार।" उस्ताद जी आदेश देते और भोलू हैण्डल चलाते-चलाते कभी-कभी हॉफने लगता। हैण्डल चलाना भी बड़ी कसरत का काम था।

अल्ल सुबह की उनींदी भोर में गाड़ी की वह घर्र-घर्र, घरर-घरर दूर-दूर तक सुनाई देती। हार्न की आवाज़ सुनसान, बियाबान सड़क पर सन्नाटे को चीरती हुई आगे बढ़ती।

"शिमला की गाड़ी छूट गई।" लोग रास्ते के इक्के-दुक्के घरों से झाँकते दीखते।

"क्यों उस्ताद जी, भराड़ीघाट कितनी देर में पहुँचेंगे?"

उस्ताद जी जिस किसी यात्री से बात कर लेते, वह बहुत भाग्यशाली समझा जाता। जिसकी इतनी ऊँची पहुँच है, वह बस का मालिक समझो, उसे हवा में दौड़ानेवाला कलाबाज़।

मंडी से शिमला जाने वाली वह बस धीर, गम्भीर गति से आगे बढ़ती। कच्ची सड़क पर कई बार हिचकोले लगते। गाड़ी कई बार धुआँ छोड़ती। सड़क का मोड़। उसके आगे फिर मोड़। मोड़ पर मोड़। यदि तबीयत ठीक रहे तो हर मोड़ को आँखों में बिठाने का मन होता। सामने की पर्वत-शृंखलाएँ एक-एक कर गिनी जा सकती थीं। पेड़ों पर कलरव करते पक्षी सघन पत्तियों के झुरमुट में भी ढूँढे जा सकते थे। पेड़ का लगभग एक-एक पत्ता महसूसा जा सकता था। दूर कहीं खेतों में काम करती ग्राम-बधुओं की लोकगीत की टेर मन्त्रमुग्ध होकर सुनी जा सकती थी। उन दिनों लोकगीतों में कोई मिलावट नहीं थी। भोर की बेला का वह सुमधुर संगीत ध्यान की सस्वर पराकाष्ठा थी। यह उस दिन तो नहीं, जब मैं पहली बार उस बस में बैठा था, परन्तु वर्षों बाद मैंने उसी हृदयंगम किए संगीत को एकाएक अपने भीतर झंकृत होते सुना था। जो बस के भीतर था, वही उन पहाड़ों में था। जो पहाड़ों में था, वही उस बस के भीतर था। तभी तो लोग बस में गुनगुना भी रहे थे और भावातिरेक में झपकी भी ले रहे थे।

बस में पूरी आत्मीयता थी। रह-रहकर बस के यात्री मुझे समझाते, "भाऊ, ठीक से बैठे हो न। तबीयत ठीक है? ऊबकाई आने लगे तो बाहर पेड़ के हरे-हरे पत्ते देखना। कोयल की कूक को सुनना। झरनों के गीत को सुनना।... और यह लो, मुँह में अनारदाने की गोली रख लो। संतरा खा लो...।"

"ओए भोलू!!" उस्ताद जी बुलंद आवाज़ में पुकारते, "गाड़ी में पानी डालना है। वह रहा झरना। निकाल कनस्तर।"

गाड़ी एकाएक रुक जाती। कोई हड़बड़ी नहीं। सब मंथर। बहुत मंथर।

"जिसने चश्मे का ठण्डा पानी पीना है, पी ले। यह जड़ी-बूटियों वाला पानी है। कई बीमारियों को ठीक करता है।"

सवारियाँ चश्मे का ठंडा-ठंडा पानी पीने लगतीं।

थोड़ा रुको यहाँ। रुककर बतिया लो। निर्भर करता है कि भोलू कंडक्टर गाड़ी में पानी डालने में कितनी देर करता है और उस्ताद माधो राम की कृपा कितनी देर रुकने की

होती है। वैसे उस्ताद माधो राम बहुत सौम्य स्वभाव के थे। कड़क भी थे, लेकिन खास मौकों के लिए। सिर पर झालरदार पगड़ी। बड़ी-बड़ी नुकीली मूँछें। उन दिनों बस के ड्राईवर को यही बाना सजता था। वे हमारी बालसुलभ कल्पना के प्राणी थे। उस कल्पना से बाहर आना न उनके लिए संभव था, न हमारे लिए।

"चलो, बैठो भई सभी सवारियाँ बस के अन्दर।" उस्ताद जी ने गर्जना भरा आदेश दिया और बस का हॉर्न बजा दिया।

"ओए अभी पानी ही पी रहे हो। पेट है कि भिश्ती की मशक।... देख ओए भोलू आ गए सब बस में। अब रुकेंगे भराड़ीघाट में ही।"

"उस्ताद जी भराड़ीघाट कितनी दूर है?"

भराड़ीघाट इतनी दूर होना नहीं चाहिए था। यह हम सबकी हार्दिक अभिलाषा थी। भराड़ीघाट एक गंतव्य नहीं, एक पुलक थी, अनुभूति थी। हमारे और बस के ड्राईवर-कंडक्टर के मध्य परस्पर आत्मीय वार्तालाप का एक बहाना था। यात्रियों में वार्तालाप के और भी सूत्र थे। जैसे—"मेरा बेटा शिमला पुलिस में है। उसके लिए घराट का पीसा आटा ले जा रहा हूँ मक्की का। उसने मंगवाया है।...आपका बेटा क्या करता है शिमला में?"

"क्लर्क है। बालूगंज में क्वार्टर है। एक सौ दस रुपये महीना पाता है। तनखाह के आधे पैसे घर भेज देता है। कहता है आधे में गुज़ारा हो जाता है। कुछ दिन बेटे के पास रहूँगा, लेकिन पंद्रह अगस्त से पहले मंडी लौट आऊँगा। देश की आजादी का यह महान और पवित्र त्योहार अपने शहर मंडी में ही मनाऊँगा, जहाँ स्वामी कृष्णानंद जी और भाई हिरदाराम जी जैसे देशभक्तों ने देश की आजादी के लिए इतना संघर्ष किया और कष्ट झेले। पंद्रह अगस्त को मैं व्रत रखता हूँ और उन महान स्वतंत्रता सेनानियों को श्रद्धापूर्वक नमन करता हूँ जिन्हें हम जानते हैं और उन्हें भी जो अनाम हैं।"

यह उन दिनों की बात है जब स्वतंत्रता दिवस का त्योहार एक शब्दातीत ललक थी।

"क्यों उस्ताद जी, भराड़ीघाट कितने बजे पहुँचेंगे?"

भराड़ीघाट पहुँचने की उतावली सभी को थी। बस में जितनी बातें हो सकती थीं हो गई थीं। कंडक्टर भोलू भी जितनी सीटियाँ बजाना वाजिब था, उतनी बजा चुका था। उस्ताद माधोराम अपनी झालरदार पगड़ी को जितनी बार झटका देना चाहते थे, दे चुके थे। रही मूँछों को ताव की बात उनके स्टीयरिंग व्हील और हाथों के बीच में जो थोड़ी-बहुत गुंजाईश थी, एक हाथ से मूँछों को ताव दे चुके थे। पहाड़ी रास्ते के बहुत से मोड़ गिने जा चुके थे और बहुत से मोड़ अनगिने रह गये थे। लेकिन पता नहीं वह कौन-सा मोड़ था जिसके आगे भराड़ीघाट था। बहुत-सी सवारियों ने अपना खाना अपने साथ बांधा था, लेकिन भराड़ीघाट के कढ़ी-भात के सम्मोहन ने खाने की सभी पोटलियाँ बंद ही रखी थीं।

दोपहर की धूप सिर पर थी, लेकिन हवा अब भी ठंडी-ठंडी थी आखिर हम शिमला जा रहे थे और पहाड़ी रास्ता ऊँचे से ऊँचा होता जा रहा था।

एकाएक कंडक्टर भोलू ने लम्बी सीटी बजायी और ड्राईवर ने लम्बा हॉर्न। आखिर स्वप्निल उद्घोषणा हुई, "आ गया भराड़ीघाट।"

"बस यहाँ आधा घंटा रुकेगी। सभी मुसाफिर खाना खा लें।" और सचमुच भराड़ीघाट आ गया!

कढ़ी-भात का एक ही ढाबा। साफ-सुथरी मेज़। चमकीली स्वच्छ थालियाँ, निखरे गिलास। गोबर से लिपा हुआ चूल्हा-चौका। बिल्कुल घर के चौके की तरह आत्मीय, स्वच्छ, शुद्ध वातावरण। ढाबे के मालिक दो थे। शायद वे भाई-भाई थे। उस ढाबे में वे ही सबकुछ थे। बहुत आदर और स्नेह से सबका अभिवादन करते हुए वे अपने मृदुहास्य से सबको सादर आमंत्रित कर रहे थे, "यहाँ बैठिए हज़ूर। आईए, आप यहाँ आईए। हाथ धो लीजिए। थाली यहाँ है। गिलास यहाँ है। पानी, बस अभी लाया।"

कढ़ी-भात का वह ढाबा मंडी से शिमला जाने वाली बस का और शिमला से मंडी आने वाली बस का पलक-पांवड़े बिछाकर इन्तज़ार करता।

दोनों भाई फिरकी की तरह काम करते और अपने स्वभाव से मन मोह लेते। उस कढ़ी की खुशबू और थी। भात का स्वाद और था। उस ढाबे का अंतरंग वातावरण और था।

"भाऊ, कौन-सी जमात में पढ़ते हो?" उनसे मेरा यह पहला परिचय था। उन्होंने मेरा नाम नहीं पूछा, लेकिन 'भाऊ' सम्बोधन बाद तक चलता रहा।...

यह उन दिनों की बात है जब शिमला हिल स्टेशन हुआ करता था। वहाँ बहुत-सी ऐतिहासिक इमारतें थीं। चारों ओर घने ऊँचे पेड़ थे। सर्दियों में बहुत बर्फ़ पड़ती थी। हर साँझ अस्ताचल में डूबता हुआ सूरज क्षितिज में पेड़ों के झुरमुट से झाँकता हुआ यह सुनिश्चित कर लेता था कि शिमला सुरक्षित है। आकाश का चंदोवा सुरक्षित है। सुबह जब रोशनी की पहली किरण फूटेगी तो शिमला वही होगा जो पिछले कल था।

बरसात में धुंध की परतें शिमला को अपने आगोश में ले लेती थीं। कभी-कभार चारों ओर घना-घनेरा कुहासा छाया होता था। बरसात की रिमझिम में भीगने का एक अलग आनंद था। शिमला में ऊपर-नीचे सलीके से बनाई हुई पगडंडियाँ थीं। बस पगडंडियाँ ही थीं।

मालरोड पर अपने दोस्तों के साथ टहलते हुए हम दुनिया-भर की चर्चाओं में शरीक होते। मैं उनकी किसी बात से सहमत होता। किसी बात से सहमत नहीं होता। कभी उस वार्तालाप का हिस्सा बनता। कभी केवल श्रोता ही रह जाता। कुछ एक क्षण ऐसे भी आते जब मैं श्रोता भी नहीं होता। शिमला की ऐतिहासिक इमारतों को देखते हुए भी मेरे ज़हन में एकाएक एक तस्वीर उभरती—भराड़ीघाट के उस ढाबे की।

शायद इसी समय मंडी से शिमला आनेवाली बस या शिमला से मंडी जाने वाली बस भराड़ीघाट में रुकी होगी। कंडक्टर ने अपने चिर-परिचित स्वर में आवाज़ दी होगी, "आ गया भराड़ीघाट!"

सवारियाँ उतरी होंगी। स्वतः ही उनके पैर उस एकाकी ढाबे की ओर मुड़ गये होंगे। ढाबा मालिक उन दोनों भाइयों की वही चिर-परिचित मुस्कान पलक-पांवड़े बिछाकर उनका स्वागत करती होगी। फिरकी की तरह उनके हाथ काम करने लग गये होंगे। साफ चमकीली थालियाँ, गिलास लकड़ी की धुली हुई मेज़ों पर रखे जाने लगे होंगे।...

मालरोड पर चर्चा कुछ और हो रही थी और मैं भराड़ीघाट में कढ़ी-भात का स्वाद लेने बैठ गया था। भराड़ीघाट के उस ढाबे का महत्त्व मेरे लिए शिमला की किसी भी ऐतिहासिक इमारत से कम नहीं था। अपने दिलो-दिमाग के किसी अनाम खाने में उसकी सारी तस्वीरें मैंने सहला-संजोकर छिपा अवश्य ली थी।

मेरा दोस्त विनोद मुझसे पूछ रहा था, "यार शर्मा, तू बता तेरा क्या विचार है?"

दोस्तों की उस चर्चा का तारतम्य कब टूटा था। मुझे स्वयं अहसास नहीं था। कनेडी हाऊस, उसके बाद ए.जी. ऑफिस तक उस चर्चा में मैं अवश्य शामिल था एक श्रोता के रूप में, लेकिन उसके बाद एकदम लोप हो गया। कब गाड़ी में बैठा। गाड़ी कब चली। कब हम भराड़ीघाट पहुँचे। कब कंडक्टर ने आवाज़ दी, "आ गया भराड़ीघाट।"

दोस्तों के साथ उस वार्ता का तारतम्य टूट गया।

"यार शर्मा, तू बता तेरा क्या विचार है?" मेरे दोस्त विनोद ने मुझसे फिर पूछा।

मैं उसे अपलक देखने लगा और मुस्कराने लगा। उस समय मेरा यही विचार था और यही उत्तर। एकाएक आकाश में बादल छाये बूँदाबाँदी होने लगी। फिर ओले पड़ने लगे। फिर बारिश, फिर तेज़ बारिश।

हम कॉफी हॉऊस में घुस गए। सिगरेट के धुएँ में, कॉफी की हर चुस्की के साथ शिमला की वह बरसात बहुत रंगीन लगने लगी। हमारी बातचीत काफी लम्बी चलती जा रही थी। कॉफी के बाद फिर कॉफी। सिगरेट के बाद फिर सिगरेट। चर्चा के बाद फिर चर्चा। कॉफी हाऊस का पूरा हॉल खचाखच भरा हुआ था, लेकिन कुछ अर्से के लिए मुझे लगा जैसे हॉल बिल्कुल खाली है। ये मेरे बहुत निजी अंतरंग क्षण थे।

"पंडित जी कैसे हैं आप?" मेरा और भराड़ीघाट के उस ढाबा चलानेवालों का मौन संवाद चलता रहा।

"भाऊ, कौन सी जमात में पढ़ते हो?"

सातवीं जमात बहुत पीछे छूट गई थी। न उन्हें याद था। न मुझे याद रहा। याद रहा तो केवल उनका बहुत आत्मीय संबोधन 'भाऊ'। यह शब्दातीत पुलक का परिचायक था। मैंने कई बार भराड़ीघाट में कढ़ी-भात का स्वाद लिया। मैं हाथ जोड़कर सादर प्रणाम करता था और वे सस्नेह प्रणाम का विनम्र उत्तर देते थे। न मैंने कभी उनका नाम पूछा। न उन्होंने कभी मेरा नाम पूछा। ज़्यादा किताबें पढ़कर भी कभी आदमी अन्तर्द्वंद्व में फँस जाता है। मुझे संत कबीर बहुत याद आये—

तू कहता कागद की लेखी,
मैं कहता आँखन की देखी।

कॉफी हॉऊस में हम कब तक बैठे रहे। क्या-क्या चर्चाएँ हुईं। कितनी चर्चाओं के फैसले हुए। कितने फैसले मुल्तवी कर दिए गये। मैं नहीं बता सकता। अलवर्ट आईन्स्टाईन का सापेक्षवाद सिद्धान्त उस दिन सचमुच बहुत काम आया। पाँच-छह घंटे का वह सुखद अंतराल, यूँ लगा, जैसे कुछ क्षणों में सिमट गया।

"यार शर्मा, तेरा क्या विचार है?"

मेरा दोस्त विनोद बार-बार मुझसे ही क्यों पूछ रहा है कि मेरा क्या विचार है। हमारे साथ उपाध्याय जी हैं। नीलकमल हैं। डॉक्टर कृपाल हैं। साहित्यकार अतुल हैं। विनोद उनसे क्यों नहीं पूछता कि उनका क्या विचार है? कहीं ऐसा तो नहीं कि उस चर्चा पर वे सब अपने-अपने विचार दे चुके हों और मैं अकेला रह गया हूँ जिसने अभी तक अपना मुँह नहीं खोला और जिसने मुँह खोला भी तो भराड़ीघाट जाकर। वह भी उस लोकप्रिय ढाबे में कढ़ी-भात खाने के लिए।

बात गंभीर चल रही थी, लेकिन मैं हँस पड़ा। उन सबसे देशकाल की सभी स्थितियों

को बचाकर चुपके से हँस पड़ा और मेरा हँसना वाजिब था। बारिश थम चुकी थी। हम कॉफी हॉऊस से बाहर आए। दूसरे दिन मुझे शिमला से मंडी आना था।

वही बस। वही सड़क। सड़क के मोड़। हर मोड़ के बाद यह सुखद अहसास कि भराड़ीघाट आ गया। भराड़ीघाट ने तो आना ही था और वह आया भी। शिमला-मंडी के बीच और कोई रास्ता नहीं था।

बहुत वर्ष बीत गये। मंडी से शिमला जानेवाली बसें भी बहुत हो गईं। सड़कें भी बहुत बन गईं। दुकानें और ढाबे भी बहुत हो गए। दुनिया नज़दीक से नज़दीक आने लगी। रास्ते के पड़ाव भी बहुत हो गए। सुबह चलनेवाली बस अब रात को नहीं, बल्कि बहुत जल्दी पहुँच जाती है। तेज रफ्तार बसें। डीलक्स बसें। आवाजाही बहुत बढ़ गई। भराड़ीघाट अब भी है। इस बार मैं डीलक्स बस में आया था। बस में काफी लोग अपरिचित थे। ड्राईवर अपरिचित, कंडक्टर भी। भराड़ीघाट में बस रुक ज़रूर गई, लेकिन कंडक्टर ने आवाज़ नहीं लगायी कि भराड़ीघाट आ गया।

भराड़ीघाट में बहुत-सी दुकानें बन गई हैं। दुकानों की पूरी कतार। कुछ कच्ची। कुछ पक्की। इश्तहार और साइन बोर्ड लग गये हैं। विज्ञापनों की भरमार का युग प्रारंभ हो गया है। हर चीज़ में धक्का-मुक्की है। भराड़ीघाट में सवारियों को दुकानदार अपनी-अपनी दुकानों या ढाबों में खींचने का प्रयास भी करते हैं। लोग अलग-अलग दुकानों में गये भी, लेकिन मैं अपने उसी चिर-परिचित ढाबे में गया। एक बुज़ुर्ग-से सज्जन अपनी मृदुल मुस्कान के साथ स्वागत करते मिले। वही साफ उजली थालियाँ। वैसी ही मेज़। वैसी ही बैंच। लेकिन ढाबा आधा रह गया है। उन दो भाइयों में से मुझे केवल एक ही दिखायी दिया। दूसरा कहाँ है? मेरा दिल धक्क से रह गया। मैंने पूछा नहीं। एक सुखद अनुभूति थी कि शायद दूसरा भाई अभी अपने घर में ही हो। ढाबे में न आया हो। कढ़ी-भात में वही स्वाद था, लेकिन ढाबेवाले पंडित जी मुझे कुछ दुर्बल से लगे। बुज़ुर्ग तो उन्हें होना ही था लेकिन ऐसे क्षीणकाय और हर मुस्कराहट के बाद ऐसे चुप्प, उदास क्लांत जैसी मुद्रा में नहीं होना चाहिए था। मैं सोचता रहा। कैसे चुस्त थे वे। लेकिन अब थाली लगाते, गिलास थमाते, खाना परोसते कमर पर हाथ क्यों रखते हैं? और उनके वे दूसरे भाई कहाँ है? आधा ढाबा वीरान क्यों पड़ा है? थालियाँ, पतीलियाँ सरकते-सरकते इतनी सिमट क्यों गयी हैं? भाई साहब घर से क्यों नहीं आये?

भराड़ीघाट में अब तो बसों, कारों, गाड़ियों का जमघट लगा रहता है, लेकिन कुछ बसें यहाँ से सीधी आगे निकल जाती हैं। जैसे भराड़ीघाट का कोई वजूद ही न हो। भराड़ीघाट आ भी गया। भराड़ीघाट से निकल भी गए। ऐसी हड़बड़ी भी कहाँ तक उचित है?

कढ़ी-भात का स्वाद अब भी बरकरार था, लेकिन वह ढाबा बहुत उदास लगा। उसने मुझे भी उदास कर दिया। पंडित जी टुकुर-टुकुर मुझे देख रहे थे जैसे पूछ रहे हों, “भाऊ, कौन-सी जमात में पढ़ते हो?”

मैंने विदा लेते हुए बहुत आदर से दोनों हाथ जोड़कर उन्हें सादर प्रणाम किया, लेकिन दिल भर आया। न मैंने उनसे कुछ पूछा। न उन्होंने मुझसे कोई बात की। वही मौन संवाद का सिलसिला बना रहा। लेकिन मेरा दिल भर आया। ये वे क्षण थे जिन्हें अलवर्ट आइन्स्टाईन के सापेक्षवाद के सिद्धान्त ने बोझिल कर दिया। बस चल पड़ी थी। अब शिमला से मंडी के बीच केवल पाँच-छह घंटों का सफर सिमट गया है।

शिमला भी धीरे-धीरे...धीरे-धीरे क्यों, बहुत तेज़ी से बदल रहा है। पेड़ ठूँठ बनकर नहीं, बिल्कुल हरे-भरे होकर गिर रहे हैं। कंक्रीट का एक जंगल बदहवास यहाँ-वहाँ उग रहा है। गोधूलि की बेला में सूरज पश्चिम से शिमला को देखता और उदास गुपचुप चल देता है। भोर की किरण शिमला पर पड़ती तो कुछ और हरे-भरे पेड़ उखड़े-कटे मिलते हैं। कुछ और ऐतिहासिक इमारतें धराशायी हुई मिलती हैं। कंक्रीट का एक भयावह ढाँचा बड़ी बेअदबी से सिर उठाये खड़ा मिलता है। अट्टहास करता हुआ। मेरे दोस्त विनोद ने मुझे फिर पूछा, "यार शर्मा, तेरा क्या विचार है?"

इस बार मैंने अपना विचार व्यक्त कर दिया, "ठीक है दोस्त, अब की गर्मियों में शिमला में पंखे की ज़रूरत पड़ जाएगी।"

यह हमारी चर्चा का ऐसा केंद्र बिंदु था जिसमें सभी मिलकर सहमत थे। शिमला धुँध की आगोश में सिमटा था, लेकिन उस धुँध में साँस लेना अब सहज नहीं था।

हट-फिर कर स्मृतियों का वही अनवरत सिलसिला। मालरोड। कॉफी हाऊस। कॉफी हाऊस से सीधी मेरी उड़ान भराड़ीघाट ।

इस बार मैं लगभग पाँच साल बाद भराड़ीघाट आया। इस बीच आना ही नहीं हो सका। इस बीच मैंने अपनी कार खरीद ली है। मैं कार से आया सपरिवार मेरी बीबी और मेरे बच्चे मुझसे बार-बार पूछ रहे थे कि कब आएगा भराड़ीघाट। मैंने कई बार भराड़ीघाट की कढ़ी और भात की प्रशस्ति उन्हें सुनाई थी। मेरी बीबी को तो पता भी था, लेकिन बच्चों को भराड़ीघाट के बारे में उतना मालूम न था।

इस बार आएगा तो बस का कंडक्टर नहीं, मैं आवाज़ दूँगा—आ गया भराड़ीघाट!

और भराड़ीघाट सचमुच आ गया।

मैंने उस अत्यन्त आत्मीय, चिर-परिचित ढाबे के आगे कार खड़ी भी की, लेकिन एकाएक दिल और दिमाग धक्क से रह गया। अब उस ढाबे में कुछ भी नहीं था।

ढाबा बिल्कुल खाली था। न थाली, न गिलास, न कढ़ी, न भात। बैंच और मेज़ औंधे पड़े थे। हैं!! यह खंडहर कैसे हो गया? यह वह क्षण था जब मेरे सामने एक पूरा जीवंत इतिहास ओझल हो गया था। पिछली बार एक बुज़ुर्ग सज्जन थे भी, अब वो भी नहीं।

दुकानें इर्द-गिर्द बहुत थीं। वे हमसे बार-बार सादर आग्रह कर रहे थे कि हम उनकी दुकान में जाएँ। कढ़ी-भात उन दुकानों में भी मिलेगा। लेकिन मैं जड़वत्।

"भाऊ, कौन-सी जमात में पढ़ते हो?" खंडहरनुमा उस ढाबे ने शायद मुझसे पूछा भी।

मैं कहना चाहता था, "पंडित जी अभी भी मैं सातवीं जमात में ही हूँ। सातवीं से आगे नहीं बढ़ सका। सातवीं से आगे जाने की मुझे जल्दी भी नहीं है। लेकिन आप कहाँ हैं? बुज़ुर्ग हो गए हैं। काम ज़्यादा नहीं चलता। कोई बात नहीं। लेकिन आप तो इस भराड़ीघाट की शान हैं। आपको तो इस ढाबे में बैठा होना चाहिए था। क्यों? अभी बस आएगी। कंडक्टर भोलू भारी भरकम आवाज़ में कहेगा, "आ गया भराड़ीघाट। गाड़ी यहाँ आधा घंटा रुकेगी। सभी सवारियाँ यहाँ कढ़ी-भात खा लें।"

अब कंडक्टर भोलू क्या जवाब देगा उन सवारियों को कि कहाँ है वह कढ़ी-भात? कहाँ है वह परीलोक-सा, सपनों की झिलमिल-सा स्वाद भरा ढाबा?

सब खंडहर-सा लगता रहा। मैंने इर्द-गिर्द की दुकानों में किसी से पूछा भी नहीं।

पूछना भी नहीं चाहता था। पता नहीं कोई क्या जवाब दे, दे!

फिलहाल मुझे उस ढाबे के अस्तित्व को बचाना बहुत ज़रूरी हो गया था। पहले यही एक ढाबा था तो पूरा भराड़ीघाट कलख था। आज पूरा भराड़ीघाट बाज़ार बन गया है सिवाय इस एक ढाबे के, लेकिन आज भराड़ीघाट 'सन्नाटा' लग रहा है। हो सकता है शिमला में कुछ और पेड़ ढह-कट गए हों। इस बार फिर शिमला में गोधूलि का सूरज उदास- उदास क्षितिज की पौड़ियाँ उतरा होगा। इस बार फिर साँझ की लालिमा में धूल-धुएँ की काली, घनी लकीरें उभरी होंगी। शिमला की कुछ और ऐतिहासिक इमारतें धराशायी हुई होंगी। कंक्रीट का जंगल भयंकर अट्टहास करता हुआ बहुत उद्दंड भाव से धीरे-धीरे अपनी आँखें दिखा रहा होगा।

जिस पर हमारा संपूर्ण अस्तित्व टिका होता है, वह ज़मीन इतना दरकती क्यों है? दुनिया कहाँ से कहाँ पहुँच गई। क्या दुनिया का इतना भी कर्त्तव्य नहीं कि इस एक ढाबे को बचा लेती? बस इस एक ढाबे को?

सवाल यह नहीं है कि हमने कितनी तरक्की कर ली है। सवाल यह है कि जो छूट गया है, वह ऐसा नहीं था, जिसको छोड़ा जाना चाहिए था। पीपल के पेड़ के पास लोग चबूतरा बनाते हैं। युग बदल गया है, लेकिन पीपल के चबूतरे को तोड़ना ज़रूरी तो नहीं। पीपल का पेड़ अब भी ऑक्सीजन देता है, जिस ऑक्सीजन के बिना जीवन अब भी असंभव है।...

जीवन में कुछ एक क्षण ऐसे आते हैं, जब हम अपनी संवेदनाओं को ठीक से भाषा नहीं दे पाते। आज वही भराड़ीघाट मेरे सामने मौन संवाद की तरह खड़ा है। टुकुर-टुकुर! मेरी आँखें भर आयी हैं। आँखों का यह भी एक धर्म है, मर्म है। इनका ठीक-ठीक उपयोग भी कभी-कभी हो जाए तो आँखें स्वनामधन्य हो जाती हैं।

मेरी बीबी मुझसे पूछ रही है, "किसी दूसरी दुकान में बैठकर खाना खा लेते हैं। वह ढाबा तो बंद है।"

मेरे बच्चे मुझसे पूछ रहे हैं, "पापा कहाँ मिलता है वह गजब स्वादिष्ट कढ़ी-भात?"

और मैं गुपचुप हूँ। किंकर्तव्यविमूढ़ हूँ। शिमला में मेरा दोस्त विनोद जैसे मुझसे पूछ रहा है, "यार शर्मा, तेरा क्या विचार है?"

मेरा विचार अब पक्का है। मैंने सोच लिया है कि यहाँ की ठौर अब ठौर नहीं रही। यह पड़ाव अब कौन-सा पड़ाव है जहाँ का मील पत्थर ही उखड़ गया। अब तो सड़क के दोनों ओर पत्थरों पर इश्तिहार चिपके हैं—जो रंगरोगन से लिखे जा रहे हैं, मिटाये भी जा रहे हैं।

मैंने बीबी-बच्चों को कार में बिठा दिया और एकाएक कार स्टार्ट कर दी।

"बेटे, भराड़ीघाट को ढूँढते हैं। दुनिया के नक्शे में आज मैं भूल गया हूँ कि वह भराड़ीघाट कहाँ है?"

"आज हम यहाँ खाना नहीं खायेंगे। इस बार टिफिन में जो आलू के परांठे बाँध लाए हैं, वही खाएँगे और बोतल में बंद मिनरल वाटर ही पीयेंगे।"

[मकान नं.-192/2, पुरानी मंडी, ज़िला मंडी, हि.प्र.-175001]

पीले पन्ने

❑ डॉ. योगेश भटनागर

मैं आज (26 अप्रैल, 1991) पूरे 26 बरस के बाद सप्रु हाऊस लायब्रेरी में आया हूँ। यह बात है तो 31 बरस पुरानी पर आज भी वैसी ही ताज़ा है जैसे कल की हो। मैं इसी शाम को 26 बरस पहले सरिता का सारा दिन इन्तज़ार करके आसाम की गाड़ी में बैठा था। तब मैं एम.ए. में पढ़ता था और 1960-65 तक सप्रु हाऊस लायब्रेरी में आया करता था।

मुझे अन्दर आता देखकर सबसे पुरानी मिसेज़ रे के मुँह से अनायास निकला, "हैलो डॉ. भटनागर, आप!! आफ्टर सच ए लॉग टाइम ! हाऊ नाइस टू सी यू! रीयली ग्रेट!" मिसेज़ रे अपनी सीट से उठकर मेरे साथ केटलॉग रूम में आ गयी और बस बातों का न रुकनेवाला सिलसिला शुरू हो गया। मिसेज़ रे शुरू से ही बहुत बातूनी थी। वैसे भी कितना सब तो था बताने-सुनने और जानने को।

"आप इतने सालों बाद आज लायब्रेरी में कैसे?"

"हाँ, मिसेज रे, मैं दिल्ली में नहीं था कई साल। बीच-बीच में आता भी था तो थोड़े वक्त के लिये। इसीलिये कभी इधर आना ही नहीं हुआ। आप तो जानती ही हैं...।"

"जानती हूँ कि आप दिल्ली में 1965 से नहीं हैं। यह भी जानती हूँ कि आप आसाम चले गए थे नौकरी पर। फिर मास्को स्कॉलरशिप पर पी-एच.डी. करने। रशियन लिटरेचर में पी-एच.डी. करने के बाद आपने अजन्ता-एलोरा की गुफाओं के लिये मशहूर शहर औरंगाबाद में फॉरेन लैंगवेजेस के हेड के पद पर नौकरी शुरू की और अब तक काफी किताबें भी लिख चुके हैं। ठीक है न?"

"बिलकुल ठीक है। लेकिन आप इतना सब मेरे बारे में कैसे जानती हैं?"

"प्रोफेशन, माई डियर भटनागर। आपकी हर किताब हमारी लायब्रेरी में है और हर किताब मेरी नज़रों से गुज़रती है।"

"और इधर मैं भी आ गया। इसी साल दो महीने पहले प्रोफेसर होकर जवाहर लाल नेहरू यूनिवर्सिटी में आया हूँ।"

"तो आजकल आप जे. एन. यू. में हैं। दुनिया भी कितनी छोटी है। तब तो आप भी बहुत बड़े आदमी हो गये हैं। मैं तो वहीं की वहीं रह गयी हूँ।"

"हाँ, पता नहीं बहुत बड़ा आदमी हो गया हूँ या कुछ और छोटा हुआ हूँ। लेकिन मैंने कभी सोचा भी नहीं था कि यहाँ तक पहुँच पाऊँगा।"

"क्या बातें कर रहे हैं? आप तो तब भी बहुत पढ़ते थे। आप उन रीडर्स में थे जो लायब्रेरी खुलवाते और शाम को बन्द करवा कर जाते थे।"

"हाँ, बात तो आप ठीक कहती हैं।" मैं यकायक पिछली यादों में खो गया। ज़िन्दगी का एक बहुत बड़ा वक्फा जुड़ा था इस सप्रु हाऊस से। कब तक ख़ामोश मिसेज़ रे को देखता

रहा, पता नहीं। यादों के समन्दर की लहरें कब तक मुझे किनारे से अपने अन्दर-बाहर फेंकती रहीं, कुछ पता नहीं। मिसेज़ रे की आवाज़ ने यादों का क्रम तोड़ा। वो कह रही थीं, "प्रोफेसर, यह मेम्बरशिप फार्म लीजिये और भरकर दे दीजिये। मैं अभी कार्ड बना दूँगी।"

"मेम्बरशिप फार्म लीजिये," यह सुनकर बहुत ही अच्छा लगा। आज की दिल्ली में दीजिये, लीजिये, कहिये, बैठिये तो सुनाई ही नहीं देता। आप बैठो, आप चलो, आप खाओ क्या ये बस मुनीरका जाएगा? ऐ बस तो एकदम फुल है—यही ज़बान हो गयी है ग़ालिब की दिल्ली की। 'ज' और 'ज़' एक हो गये हैं 'श' और 'स' में कोई फर्क नहीं रह गया है। दिल्ली के बस ड्रायवरों और कन्डक्टरों ने 'आप' और 'तुम' तो भाषा से निकाल फेंके हैं। रह गया है 'तू'। चाहे बूढ़ा हो या बच्चा, औरत हो या मर्द सिर्फ 'तू' ही है। भाषा एक ऐसे शहर की—जहाँ पर सरकार है, ब्योरोक्रेसी है, इन्टेलेक्चवल कैपिटल माना जाता है—कैसे बदल गयी—यह भी स्टडी करने के लायक है। इस शहर की भाषा भी ब्योरोक्रेसी की तरह सूखी और बेजान हो गयी है। खैर—असली बात कुछ और है। मैंने फार्म लिया भरकर मिसेज़ रे को दे दिया और उन्होंने कार्ड बना दिया। मैं कार्ड लेकर अन्दर गया उसी अपनी पुरानी सीट पर—सीधे हाथ पर आगे से तीसरी। यहीं बैठा करता था उन दिनों। इक्नोमिक्स की किताबें आज भी वहीं दाएँ हाथ के रैक पर रखी हैं। मेरी सीट पर कोई बैठा था।

मैं सबसे पीछे की सीट पर बैठ गया। कागज़ और पेन मेज़ पर रख दिया और देखने लगा तेज़ चलते हुए खामोश पंखे को। फिर मुड़कर देखा अन्दर की तरफ। मिसेज़ रे मुझे देख रही थीं और मुस्करा रही थीं। वो मेरी सप्रू हाऊस की ज़िन्दगी को काफी पास से जानती थी। मैं झेंप गया। अटपटी मुस्कान देकर बाहर तक आ गया।

सामने वही हरी मखमली घास का लॉन। गेट पर वही लाल बोगनवेलिया की बेल। वैसी ही ऊँची-ऊँची फैंस और कोने में वही पीले फूलोंवाला गुलमोहर का पेड़। एक नई चीज़ और बन गई थी, जो केन्टीन ऊपर थी वो अब नीचे आ गयी थी। वहीं एक कोने में तीन-चार स्कालर्स का ग्रुप बड़ा हॉट डिस्कशन कर रहा था। उन दिनों इन्डो-चाइना वार, सी. पी.आई. सी.पी.एम. के डिफरन्सेस और पर्सप्शन पर बहुत डिस्कशन हुआ करता था। पास जाकर सुनो तो वो लोग आज के मोरल्स कितने गिर गये हैं, पालिटिक्स कितनी घटिया हो गयी है, और आपर्चुनिज़्म ज़िन्दगी के हर एक्शन में कैसे आ गया है—यही सब डिस्कस कर रहे थे जैसे गल्फ वार का हिन्दोस्तान पर कोई असर ही नहीं पड़ा, या बिखरते हुए ईस्टर्न यूरोप और ढहते हुए सोशलिज़्म का दुनिया पर कुछ असर ही नहीं पड़ेगा। यह सब आज के स्कालर्स के लिये कुछ माने नहीं रखता।

ज़रा-सा हटकर दो प्रेमी बिज़ी थे। दूसरे कोने में वे गुस्से में अपना पाईन्ट आर्गयू कर रहे थे—मुझे हस्बैन्ड नहीं एक कम्पेनियन और दोस्त चाहिये। वाई डोन्ट यू अन्डरस्टेन्ड, मैं कोई कमोडिटी नहीं हूँ—लड़की कह रही थी। मैं उनकी बातें सुनना नहीं चाहता था, इसलिये दूर हट गया। धीरे-धीरे सप्रू हाऊस से बाहर आया। माडर्न स्कूल के बस-स्टेन्ड से बस लेकर स्टेटसमेन आया और वहाँ से सिंधिया हाऊस। वहीं से 615 नम्बर बस जे. एन. यू. के लिये मिलती है। बस थोड़ी देर में आ गयी और बाई चान्स बैठने की जगह भी मिल गयी। मेरे बैग में हमेशा की तरह 1958-1966 की डायरी पड़ी थी। उसके पन्ने पीले, भुरभुरे व कमज़ोर हो गये थे और शायद लिखे हुए हर्फ भी मद्धम पड़ गये थे।

मैंने इस डायरी को अब तक कहाँ नहीं पढ़ा—आसाम में, मास्को में, औरंगाबाद में। इसको मैंने बस में, गाड़ी में, हवाई जहाज़ में, कॉफी हाऊस में, घर में, गार्डन में, छत पर, नदी और समन्दर के किनारे सब जगह पढ़ा है। इसके हर लफ्ज़, हर सेन्टेंस, हर पेज को अच्छी तरह जानता हूँ, आज दिल्ली की बस में पहली बार पढ़ने का मौका मिला। उस दिल्ली में जो मेरा शहर था कभी। मैं यहीं पैदा हुआ, पढ़ा-लिखा और शहर को फैलते हुए देखा। इसी शहर में, इसी माडर्न स्कूल के बस स्टेन्ड पर मेरी ज़िन्दगी और मोहब्बत ने मुझे छोड़ा था। मेरी डायरी से मेरा अतीत झाँकता है।

11 अक्तूबर, 1954 : आज पहली बार लगा कि मुझे और सरिता को एक-दूसरे से प्यार हो गया है। कैसे हुआ याद नहीं। सिर्फ इतना याद है, उसने मुस्करा कर कहा, "कहाँ मैं, कहाँ आप, आपसे तो पढ़ाई में भी कोई मुकाबला नहीं कर सकता।"

तब मैं बी.ए. सेकेन्ड इयर में था और सरिता दसवीं में। सर्दी थोड़ी-थोड़ी पड़नी शुरू हुई थी। गर्म कपड़े निकले ही थे। उस दिन उसकी मोटी-मोटी दूधिया आँखों में एक नयी चमक थी। अजब-सी मस्ती थी और मुझे लगा सचमुच प्यार यही है। मैं और सरिता अब रोज़ मिलने लगे। कभी सड़क पर, कभी उसकी मौसी के घर पर, जो हमारे घर के पास ही रहती थी। हम लोग पुरानी दिल्ली में दरीबे के बाहर बाज़ार गुलियान में रहते थे। सरिता दरीबे के अन्दर छोटी-सी गली में रहती थी और उसकी मौसी जो मेरी माँ के स्कूल में टीचर थी, हमारे पीछेवाली गाँधी गली में रहती थी। सब उसको पंजाबियों का मुहल्ला कहते थे क्योंकि पार्टीशन के बाद मुसलमानों के घरों में रिफ्यूजी बसा दिये गये थे। सरिता की मौसी जो मेरे से उम्र में चार-पाँच साल बड़ी थी, वह मेरी पढ़ाई की, मेरे नम्बरों की, मेरी डिवीज़न की और समझदारी की बहुत तारीफ किया करती थी। अक्सर शाम को मैं उसके घर जाया करता था और वहीं सरिता से मुलाकात होती थी। दिन में भी मुलाकात हुआ करती थी। मुझे पता था सरिता के स्कूल की छुट्टी साढ़े बारह बजे हुआ करती है और जब भी कॉलेज की छुट्टी हुआ करती तो हमारी मुलाकात दिन में भी हो जाया करती थी। यह मुलाकातें सिर्फ मुस्कराने तक ही सीमित हुआ करतीं। शाम की मुलाकात ज़्यादा देर तक चलती थी, सरिता की मौसी के घर पर। सिर्फ आँखों ही आँखों में बात हुआ करती। अगर एक दिन मुलाकात न होती तो बड़ी बेचैनी होती थी।

25 दिसम्बर, 1958 की शाम साढ़े पाँच बजे थे। उसकी मौसी के घर गया था। सरिता पहले से ही पहुँच गई थी। मैंने पहली बार सरिता का हाथ छुआ था। उस वक्त कमरे में कोई नहीं था। मौसी और नानी रसोई में थीं। हाथ पकड़ते ही सरिता एकदम सिहर गयी और मेरे पास बैठ गयी। मेरे सारे बदन में कंपकपी-सी छूट गयी। मौसी के पैरों की आवाज़ से ही हमारे हाथ अलग हो गये। मौसी ने कहा, "अरे महेश तू कब आया। इसने बताया भी नहीं।" उसने सरिता की तरफ देखा। मैंने उत्तर में कहा, "अभी-अभी तो आया हूँ। दरवाज़ा खुला था, इसलिये बिना खटखटाये अन्दर आ गया।"

"कैसी चल रही है तेरी पढ़ाई?"

"इनकी पढ़ाई को क्या होगा? हमेशा ही अच्छे नम्बर लेते हैं।" सरिता ने कहा।

"अरे, ज़रा इसके सिर पर भी हाथ रख दे। इसके भी अच्छे नम्बर आने लगेंगे।"

"आप सब तो यूँ ही इस का मज़ाक उड़ाया करते हैं। ठीक तो पढ़ रही है।" मैंने मुस्कराते हुए कहा। थोड़ी देर इधर-उधर की बातें करके मैं मौसी के घर से चला आया। जाने

क्यों मुझे लगा कि सरिता भी मेरे पीछे-पीछे आ रही है। मैं गली के मोड़ पर रुक गया। वहाँ अँधेरा था। वही हुआ। पाँच मिनट में सरिता भी निकल आयी। पास आयी, शरमा कर कुछ रुकी और चल दी। मैंने कहा, "रुको।"

"क्या है?"

"कल शाम को साढ़े चार बजे लाल किले के बस स्टेंड पर मिलो।"

"नहीं मैं नहीं आऊँगी।"

"मैं तुम्हारा इंतज़ार करूँगा।"

अगले दिन साढ़े चार बजे सरिता आ गयी थी। मैं तो बस-स्टेंड पर पहले से ही खड़ा था। वो मेरे पास आकर खड़ी हो गयी, पूछा, "क्या है? क्यों बुलाया है।"

"चलो, यहाँ से चलो।" हम दोनों टैक्सी में बैठे और मैंने ड्रायवर से कहा, "इंडिया गेट ले चलो।" टैक्सी से उतरकर हम दोनों एक जामुन के घने पेड़ के नीचे बैंच पर बैठ गये। मैंने आहिस्ता से फिर सरिता का हाथ पकड़ लिया। फिर वही पिछले कलवाली सिहरन, वही कंपकंपी। आज सरिता ने अपना हाथ मेरे हाथ से नहीं छुड़ाया। मैंने सरिता के हाथों को पहली बार अच्छी तरह देखा, महसूस किया। उसके गुदेले हाथ, पतली लम्बी उंगलियाँ, मेरे हाथों में उलझी हुई थीं। उल्टे हाथ की छोटी उंगली का नाखून लम्बा था।

"यह नाखून क्यों बढ़ा रखा है," मैंने पूछा।

"सिर खुजाने के लिये। मैं तुम्हारी तरह पढ़ाई में अच्छी तो हूँ नहीं। जब कुछ समझ में नहीं आता तो इससे सिर खुजा लेती हूँ।"

"उसके बाद समझ में आ जाता है?"

"कभी आ भी जाता है, कभी नहीं भी।"

"जब नहीं आता तो क्या करती हो?"

"तब भगवान से कहती हूँ कि मुझे तुम्हारे जैसा दिमाग क्यों नहीं दिया?"

"सरिता, तुम मेरी इतनी तारीफ क्यों करती हो?"

"मैं क्या, सभी करते हैं।"

इसके बाद क्या-क्या बातें हुई याद नहीं। रोज़ मिलने का वादा हुआ, इतना ही याद है। रोज़ की मुलाकातें काफी महीने चलीं। कभी-कभी जब पैसे ज़्यादा हो जाते तो हम टैक्सी में बैठकर कनाट-प्लेस के गलार्ड रेस्तराँ में ऊपर की मंज़िल में एक कोने में बैठकर चाय पिया करते। पैसे भी झूठ बोलकर लिया करता था। कभी किताब के बहाने कभी किसी और बहाने। रोज़ पन्द्रह रुपये खर्च करना अब नामुमकिन होने लगा।

हमने मेरे घर पर ही मिलना शुरू कर दिया। मेरे पिता साढ़े नौ बजे ऑफिस चले जाते थे और छोटे भाई स्कूल। मैं अब कॉलेज भी मिस करने लगा था।

20 सितम्बर, 1959 : आज सरिता पहली बार हमारे घर आयी थी। कोई नहीं था। सिर्फ हम दोनों थे। सरिता पलंग पर बैठी थी। मैं उसके सामने खड़ा था। वो मुस्करा रही थी। उसने कहा, "लो आ गयी।" मैंने हर रोज़ की तरह उसका हाथ चुपचाप अपने हाथ में लिया। आज मेरी हथेली पसीने से गीली थी। जाने मुझे क्या हुआ। मैंने सरिता को अपनी बाहों में लपेट लिया और उसके होठों पर...। और इसके बाद जब भी मिलते तो यही हुआ करता और ढेर सारी बातें। इससे आगे हम कभी नहीं गये।

15 जुलाई, 1960 का दिन : मैं एम.ए. में आ गया था। सरिता ग्यारहवीं क्लास पास कर चुकी थी। मानव स्थली पूसा रोड पर किंडर गार्डन टीचर्स ट्रेनिंग कर रही थी। बाद में गुड़गाँव नौकरी करने जाने लगी थी। आज पहली तन्ख्वाह लेकर आयी है। हम दोनों ने आज गलार्डस में काफी दिनों के बाद चाय पी। अगस्त से मैंने सप्रु हाऊस लायब्रेरी आना शुरू कर दिया था। इसी बीच हमारे दोनों के घरवालों को हमारे बारे में पता लग गया था। अब घर पर मिलना मुश्किल हो गया था। इसलिए रोज़ मुलाकात भी न हो पाती। बेचैनी ज़्यादा बढ़ने लगी थी। अब हम हफ्ते में एक बार सन्डे की शाम को सप्रु हाऊस में ही मिला करते। घंटे- दो घंटे कोने में पीले गुलमोहर के पेड़ के नीचे बैठे बातें किया करते और ज़रा-सा अँधेरा हो जाने पर होठों पर होंठ रख लिया करते।

6 जनवरी, 62 : आज सरिता वही सफेद रंग की बनारसी साड़ी पहन कर आयी है, जो मैंने कभी उसके लिए खरीदी थी। सफेद रंग उस पर बहुत अच्छा लगता था, हालाँकि लाल और पीला भी। पर क्योंकि मुझे सफेद रंग पसंद था, इसलिये वो अक्सर सफेद रंग के कपड़े ही पहना करती थी। हम वहीं उस कोने में पीले फूलोंवाले गुलमोहर के पेड़ के नीचे बैठ गये। सरिता आज खामोश थी। कुछ बात नहीं कर रही थी। मैंने उसका हाथ अपने हाथ में लिया। सरिता ने मेरी तरफ देखा, मुस्कराई और कहने लगी, "सुनो महेश, अब तुम्हारा एम.ए. हो जाएगा। जून में हम शादी करके मद्रास रहने जायेंगे। वहाँ हमें कोई नहीं पहचानेगा, न कोई ताने ही कसेगा, न किसी का डर रहेगा। हमारा एक छोटा-सा घर होगा और...।"

"और क्या?" सरिता मुस्कराती रही, खामोश मेरी तरफ देखती रही, फिर कहा, "बहुत सारे बच्चे होंगे और क्या।"

"अभी तो नौकरी की तलाश करनी है। बिना नौकरी के शादी कैसे कर सकते हैं। जहाँ नौकरी होगी वहीं चलेंगे।"

इसके बाद वो खामोश हो गयी। उसकी मुस्कराहट गायब हो गयी। कुछ न बोली और उठकर चल दी। हम दोनों खामोश मंडी हाउस के बस स्टेंड पर आ गये।

मैंने कहा, "अगले सोमवार शाम को साढ़े चार बजे।"

"पता नहीं।"

"मैं तुम्हारा इंतज़ार करूँगा।"

सरिता अगले सोमवार को साढ़े चार बजे आयी। हम दोनों फिर अपने पेड़ के नीचे जा बैठे। मैंने उसका हाथ अपने हाथ में लिया। सरिता कुछ न बोली। जो भी पूछा उसका 'हाँ या न' या खामोशी में जवाब दिया। मैंने कहा, "अप्रैल में इम्तहान है फाइनल। अब 15 दिन में एक बार मिला करेंगे।"

"ठीक है।"

सरिता आने का वादा करके चली गयी। अब हम 15 दिन में एक बार मिला करते और ज़्यादा बात भी न हो पाती, क्योंकि मैं इम्तहान की तैयारी में लगा था।

18 जून, 1962 : एम.ए. का नतीजा आया। नम्बर अच्छे नहीं आये। मेरी खुद समझ में नहीं आया कि यह कैसे हो गया। मेरे सब दोस्त ताज्जुब कर रहे थे मेरे रिज़ल्ट पर। खैर नौकरी की तलाश शुरू हो गयी और हर शाम सप्रु हाऊस में मिलना फिर शुरू हो गया।

30 जुलाई, 1962 : रात के साढ़े आठ बजे थे। सब घर पर थे। अचानक सरिता

हमारे घर में। कुछ घबरायी हुई। कुछ गुस्से में। उसकी आँखें रो-रोकर सूज गयी थीं। सरिता सीधी मेरे पास आकर बैठ गयी। उसने कहा, "मुझसे अभी शादी करो। मैं घर छोड़कर आयी हूँ। मैं अब अपने घर नहीं जाऊँगी। मेरे माँ-बाप सब समझ गये हैं?"

मैंने कहा, "ज़रा थोड़ा इंतज़ार करो, अभी तो मेरे पास नौकरी भी नहीं है।" मैंने सरिता को एक गिलास पानी दिया और वो फौरन बिना कुछ कहे जाने को तैयार हो गयी। मेरे माँ-बाप सरिता को रिक्शा में बैठाकर उसके घर छोड़ आए।

एक हफ्ते बाद हमारा मिलना फिर शुरू हो गया। मैंने सरिता को समझाया कि अपने सपनों का शहर और घर तभी मिलेगा जब मेरे पास नौकरी होगी। सरिता हमेशा सुन लेती पर कुछ न कहती। वक्त गुज़रता गया। सरिता को लगता कि शायद मुझे नौकरी कभी नहीं मिलेगी। उसकी खामोशी और छोटे से 'हाँ और न' के जवाब दिन पर दिन बढ़ते गये। मैं कुछ भी कहता वो खामोश रहती। कभी उसको अपने इन्टरव्यू के बारे में बताता, या नौकरी की एप्लिकेशन के बारे में बताता तो वह सिर्फ खामोश रहती।

20 अक्तूबर, 1962 की दोपहर हम सप्रु हाऊस लॉन्स से उठकर माडर्न स्कूल के बस स्टेन्ड पर आ गये। रोज़ की तरह आज भी सरिता खामोश थी। हम दोनों बस स्टेन्ड पर खड़े थे। हमारे अलावा कोई नहीं था। सरिता ने अचानक कहा, "सुनो, तुम किसी और से शादी करके अपना घर बसा लो मुझे भूल जाओ।" मुझे चक्कर आ गया। दो मिनट तक में सरिता की दूधिया आँखों में झाँकता रहा। उसको समझने की कोशिश करता रहा। सरिता ने अपनी नज़रें झुका लीं। पैर से ज़मीन कुरेदने लगी पर और कुछ न बोली।

मैंने कहा, "मैं किसी और से शादी नहीं कर सकता।" इससे पहले कि में अपनी बात पूरी करूँ पता नहीं कहाँ से बस आ गयी और सरिता बस में बैठकर चली गयी। यह भी न बताया फिर कब आयेगी। वैसे हम रोज़ मिलते थे पर अगले दिन के वख्त के बारे में हमेशा तय किया करते थे। आज सरिता ने नहीं बताया कब आएगी। मैं भी उससे कुछ न कह सका।

उस दिन के बाद हर रोज़ मैं सरिता का इन्तज़ार करता। सारा-सारा दिन। पर वो न आयी। पता चला वे लोग पुराना घर छोड़ गये हैं और उसकी मौसी भी कहीं चली गई है। सचमुच ऐसा ही हुआ था। तीन साल तक उसे बहुत ढूँढा। न तो सरिता आयी और न घर पर मिली। मेरा हाल यह था कि अगर किसी ने कहा कि सरिता माता सुन्दरी रोड के किसी स्कूल में काम करती है तो वहाँ जाकर उसको ढूँढा। पर न मिली। किसी ने अगर कहा कि वो शाम को हर रोज़ पास के स्कूल में आती है तो वहाँ भी ढूँढा। फिर किसी ने कहा उसकी शादी हो गयी है, लन्दन चली गयी है। किसी ने कहा वो पागल हो गयी है। किसी ने कहा वो अब इस दुनिया में नहीं है। असलियत क्या थी, किसी भी तरह पता न लगा पाया। तीन साल तक पागलों की तरह सरिता को ढूँढा पर वो न मिली। इसी बीच मुझे नौकरी भी मिल गयी थी, दिल्ली में। पर मैं दिल्ली के बाहर नौकरी ढूँढ रहा था। क्योंकि सरिता दिल्ली में नहीं रहना चाहती थी। फिर आसाम में नौकरी मिल गयी। पर सरिता नहीं मिली। मैं 26 अप्रैल की शाम को आसाम चला गया। सरिता का इन्तज़ार किया पर वो न आयी।

26 अप्रैल, 1991 : मैंने जब भी डायरी के पन्ने पढ़े, हमेशा नये-नये सवाल मेरे दिमाग में उभरकर आते थे। जब कभी सरिता मिलेगी तो पूछूँगा मेरी गलती क्या थी? क्योंकि

मैं बेरोज़गार था, इसलिये मुझसे शादी का इंतज़ार न कर सकी? क्या तुमको इतनी मजबूर कर दिया था घरवालों ने कि मेरी मोहब्बत को ठुकराने के अलावा तुम्हारे पास कोई और चारा न था? क्या तुमको लगा था कि मैं तुम्हारे सपने कभी पूरे न कर पाऊँगा? मुझे असली वजह तो बता दी होती? क्या तुम्हें मुझसे मिलने की कभी चाह भी न हुई? क्या मैं तुम्हें कभी याद तक नहीं आया हूँ? तुम्हारी ज़िन्दगी कैसी गुज़र रही है? मेरे बारे में कुछ भी जानना नहीं चाहती? इसी तरह के सवाल मेरे दिमाग में उठा करते।

आज पहली बार सवाल के साथ मेरे विवेक ने जवाब भी दिया। आज का सवाल था—सरिता, क्या तुम मुझसे सिर्फ एक बार मिल सकती हो? मेरे विवेक ने पूछा—लेकिन क्यों? क्यों मिलना चाहते हो सरिता से? समझ गया—तुम सरिता से इसलिये मिलना चाहते हो कि तुम उसको बता सको कि तुम मुल्क के सात जाने-माने रशियन के प्रोफसरों में से एक हो। तुम अपने कैरियर के जेनिथ पर पहुँच गये हो। अपने शहर में आ गये हो। सोसायटी में तुम्हारी एक जगह है। तुमको कोट किये बिना कोई अपनी रिसर्च पूरी नहीं कर सकता। यही सब बताओगे न? तुम अपनी ईगो सटीसफाई करना चाहते हो। सरिता को उसकी गलती महसूस कराना चाहते हो। पर अगर सरिता तुमसे मिलने से इन्कार कर दे तो? हो सकता है वो तुमसे मिलना ही न चाहती हो?

फिर तुम उसका अता-पता भी नहीं जानते। तुम कुछ भी तो नहीं जानते सरिता के बारे में। अगर हिम्मत करके उसके किसी सम्बन्धी से पूछ भी लो और वो सरिता के बारे में बताने से इन्कार कर दे तो? वैसे जो तुम उसको बताना चाहते हो वो शायद किसी परिचित ने उसको अब तक बता भी दिया हो। फिर भी वो न मिलना चाहती हो। हो सकता है उस अतीत को जिसे तुम ताज़ा करना चाहते हो, वो 26 साल पहले ही भूल गयी हो। हो सकता है कि वो अपने वर्तमान से, अपनी ज़िंदगी से इतनी खुश हो, संतुष्ट हो कि उसे तुम्हारी याद भी न आती हो। हो सकता है उसका पति तुमसे कहीं आगे हो, उसके पास वो सबकुछ हो जो वह चाहती थी—छोटा-सा घर, बहुत से बच्चे। हो सकता है तुमसे मिलकर वो तुम्हें नीचा न दिखाना चाहती हो। तुमको छोटा महसूस न कराना चाहती हो। महेश तुम जिस अतीत को आज तक नहीं समझ पाये उससे इतना चिपट कर रहने से क्या फायदा? तुम कोई बन्दरिया तो हो नहीं। याद रखो तुम्हारी बीवी, तुम्हारे बच्चे, तुम्हारा वर्तमान इतना हैप्पी है कि इन पीले पन्नों का अब कोई वजूद नहीं रह गया है। इस तलाश का अब कोई मतलब नहीं है।

मैंने अपने विवेक से कहा, "तुम ठीक कहते हो। अब इन पन्नों को पढ़ने की ज़रूरत नहीं शायद।" यह जवाब-सवाल का सिलसिला बस के एक झटके के साथ रुकने से टूट गया। मैं अपने बैग को एक हाथ से पकड़े हुए था और बैग के अन्दर रखी हुई डायरी को दूसरे हाथ से। डायरी बैग में ही थी, हमेशा की तरह।

[फ्लैट नं. 9, सुधा एपार्टमेंट, मित्र नगर, औरंगाबाद, महाराष्ट्र-431005]

[कथाकार-अनुवादक प्रो. योगेश भटनागर की पहली कहानी 'पीले पन्ने' विपाशा के अंक-41, नवंबर-दिसम्बर, 1991 में प्रकाशित हुई थी।]

पाहुन कवि

❑ केदारनाथ सिंह

रोहतांग दर्रे में एक विशाल बर्फ़ीली चट्टान को देखकर

नहीं, वह हमला नहीं करेगी
उसकी पानीदार आँखें सिर्फ तुम्हें देखेंगी
और देखती रह जाएँगी

उसके नथुने / तुम्हारे ललाट और कंधों को
सूँघने की कोशिश करेंगे

उसकी बँधी हुई मुट्ठियाँ
खुलने के लिए ज़रा छटपटाएँगी तुम्हें देखकर
ज़्यादा से ज़्यादा इतना ही होगा
कि उसका विशाल आकार अपने ढाँचे से निकलकर
उड़ने के लिए मानों पंख फड़फड़ाएगा
और तुम्हारे कंधों पर गिर पड़ेगा

नहीं, तुम्हारे कंधों का कुछ नहीं होगा
वहाँ वह खुजली उसी तरह होती रहेगी
जैसे पहले हो रही थी

सच्चाई यह है कि जैसे तुमने बदले हैं शहर
उसने भी बदले हैं सूरज के साथ
अपने रंग और रिश्ते

जैसे तुम्हारे नाखून भूल गए हैं
अपने बहुत से काम—उसे भी याद नहीं
उसे क्यों वहाँ उस तरह बैठा दिया गया है
जैसे बैठी है वह
उसे देखो उसे छुओ / उसका सामना करो
सारी टूट-फूट और मौसम की सारी अफवाहों के बीच
अपनी जगह पर टिकी वह अकेली चीज़ है

जो तुम्हें अब भी आश्वस्त करेगी
नदियों के भविष्य
और स्त्रियों की प्रजनन शक्ति के बारे में।

मनाली

(जहाँ मनु का मंदिर है)

उस शहर में घुसते ही
पहली बार लगा जैसे देवदार के वृक्ष
तिब्बती बोल रहे हैं
कि मेरे कान में आवाज़ पड़ी
किसी किन्नौरी गीत की
जो शायद किसी पक्षी की आवाज़ थी
और मैं कुछ समझूँ-समझूँ
कि मेरी बगल से गुज़र गया सैलानियों का एक झुँड
पंजाबी में झूमता हुआ
और इन सारी आवाज़ों के पीछे
कहीं व्यास नदी थी जो लगातार बोले जा रही थी
किसी पुरातन हिमाचली बोली के शब्द
जो इतने सरल थे और अर्थ से ऐसे लबालब भरे हुए
कि उन्हें चिड़िया से आदमी तक सब समझ रहे थे
मेरे खामोश सहयात्री ने यहाँ मुझे रोका
और कहा—देखो
व्यास के पार धुँध में डूबे उन शिखरों को देखो
कहते हैं वहीं कहीं था वह उत्तुंग शिखर
जहाँ प्रलय के बीच जाकर टकरायी थी
मनु की नाव
और इस तरह उस दिन
बच गयी थी सृष्टि डूबते-डूबते
अब यहाँ तक आते-आते
सृष्टि का क्या हुआ इसे विद्वान लोग जानें
पर यहाँ मनु एक उदास पत्थर का नाम है
जो न जाने कब से पड़ा है एक मंदिर में।

[नई दिल्ली]

❑ विनोद कुमार शुक्ल

जो शाश्वत प्रकृति है उसमें पहाड़ हैं

जो शाश्वत प्रकृति है उसमें पहाड़ हैं
उनकी चट्टानों, पत्थरों में
बार-बार उगते पेड़ और वनस्पतियाँ हैं
वहाँ मैं जा रहा हूँ
वहाँ ऐसा एकांत हिमांचल है
कि कोई पहले गया न हो
वे मनुष्य की राह देख रहे हैं
वे पर्वत, श्रेणियों में उसी तरह स्थिर हैं
जैसे चित्र खिंचवाने के लिए
एक समूह होता है बाहर
उनके बीच एक मेरी जगह है
वहाँ में अटल स्थिर हो जाऊँगा क्या?
मैं स्थिर नहीं होऊँगा
घूमूँगा, दौड़ूँगा, हँसूँगा, चिल्लाऊँगा, रोऊँगा,
कि इस एकांत में पहाड़ों को
यह याद न आये कि एक समय था
जब पृथ्वी में मनुष्य नहीं थे
शायद उन्हें वह समय याद आ रहा हो
जब पृथ्वी में मनुष्य नहीं थे

धौलागिरि को देखकर

धौलागिरि को देखकर
मुझे याद आई
धौलागिरि की तस्वीर
क्योंकि तस्वीर पहले देखी गई थी।

पितामह पूर्वजों के भी चित्र हैं घर में
पूर्वजों को मैंने कभी नहीं देखा
मैं पूर्वजों को नहीं पूर्वजों के चित्र याद करता हूँ।

लेकिन धौलागिरि को देखने के बाद
मैं अपने पूर्वजों के चित्र नहीं
पूर्वजों को याद करता हूँ।

जहाँ पहाड़ हैं क्षितिज पर

जहाँ पहाड़ हैं क्षितिज पर
वहाँ आकाश नीचे कम उतरा है—
पहाड़ शिखरों की शृंखलाओं से
जो क्षितिज बना है।
वहाँ मेरे एकांत का भी एक शिखर है
एक शिखर वहाँ कहीं पहुँचने की इच्छा का है
एक शिखर वहाँ कहीं नहीं पहुँच सकूँगा का है।

इस मैदान में आकाश को क्षितिज के लिए
बहुत नीचे उतरना पड़ता है
मैदान के फैलाव में
एक फैलाव मेरे एकांत का है
दूर तक इस दूरी का फैलाव
कहीं नहीं जा सकने का है
मैं जहाँ हूँ, वहाँ मेरा एकांत है
और जहाँ नहीं वहाँ मैं
एकांत के साथ नहीं हूँ
वहाँ मैंने एकांत को अकेला छोड़ दिया है।

[सी-217, शैलेंद्र नगर, रायपुर, छत्तीसगढ़-492001]

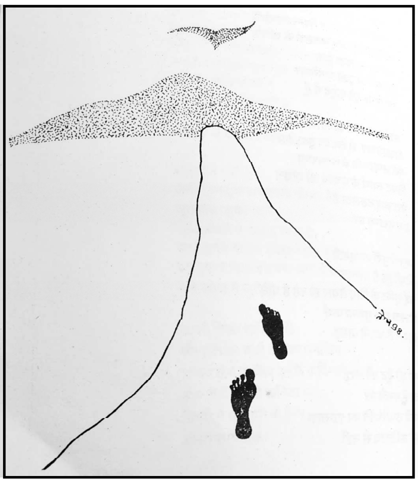

❑ चन्द्रकान्त देवताले

साथ पहाड़ों के नौ दिन

हम बारह दोस्त पहाड़ों पर रहे
पहाड़ों के बीच
साथ पहाड़ों के रहे नौ दिन हम बारह दोस्त

नौ दिन हम रहे
अपने जन्म के समय से बाहर
हम मृत्यु के समय के परे रहे

सिर्फ हम बारह
और इतने पहाड़ एक से अनेक होते हुए
देवदारुओं की रोमावलियों से रोमांचित पहाड़
अपनी देह के हिस्सों से
हम पर शीतल जलधार बरसाते रहे और
फूलों वनस्पतियों की गंधों वाला
नौ दिन-रातों का एक कल्प
हमारी चेतना के रन्ध्रों में समाता रहा

उबलते हुए जलकुण्डों की
भात में सिझाए हमने
भात की तरह / अपने शब्द

धुंध की जेब में डाले
हमने एक साथ बारह हाथ
और बादलों की घिसल पट्टी से फिसलकर आई
गिरी छपाक से / शीतल जल कुण्ड में
हमारी सबकी इतनी सारी हँसी
हमारे चेहरे भीज गए
अपनी ही हँसी के छींटों से
और हमारी आँखों में
उमच आई हिमालय की हरीतिमा

जैसे आँखें पैदा हुईं
धान के रोपों ही के बीच

व्यास, पार्वती, सतलुज को
हम रात भर अपनी नींद में
सुनते रहे और बुनते रहे
जल-ध्वनियों के तानों-बानों से
सपनों में पहाड़ों के अकेलेपन का समाज

हमने फलों के साथ कुछ कहा
पहाड़ के दिल में गहरे बहती
नदी के होठों से कुछ कहा
हमने अपने भीतर की स्मृतियों को
नशे में दहकाया
और आकाश छूते बर्फ़ के साथ
इस आग को मिलाकर
हमने अपने घरों को याद किया
बीबी-बच्चों को पुकारा
और अपने-अपने प्रेम के साथ
हमने अकेले देखे /पहाड़ों पर घाटियों में
दियाबत्ती की बिरिया टिमटिमाते घर

हमारे नथुनों तक आई
भूख और इच्छा को जगाती
पकते भात की गंध
अकेलेपन की पाल में रखी
आमों-सी कच्ची नींद

और हम विनीत ढलानों पर
लुढ़कते रहे
उद्धत चढ़ानों पर सांसें फुलाते रहे
हम पहाड़ों में ढूँढते रहे एक पहाड़
नदियों में एक नदी
पत्थरों-चट्टानों में एक पत्थर—एक चट्टान
और इसी तरह चढ़ते-उतरते
थकते-हाँफते-सुस्ताते
पहाड़ों के जीवन में हम खोदते रहे

अपनी शताब्दियों की स्मृतियों का पहाड़

और मासूम बच्चों / आलसी मर्दों
और कर्मठ औरतों में
हम ढूँढते रहे झरने-बादल
टट्टू और एक नदी
फिर भविष्य की आँख में झाँकते रहे
खामोश
पेड़ की कटी गर्दन की दहशत के साथ

पहाड़ से / हम लाए अपने साथ
कुतर कर थोड़ा-सा पहाड़
थोड़ा-सा जंगल
अपने भीतर रोप कर लाए
बर्फ़ का एक अदृश्य चन्द्रमा
अनंत में उड़ती हरीतिमा की एक पतंग
भाफ का छोटा-सा फाहा
और पानी का कच्चा धागा
लेकर आए / भात का स्वाद
एक नन्हें-से देवदारू की आँख का
लालटेन भर उजाला

और कुबेरों के जगमगाते महलों
के आस-पास की बड़ी दुनिया का
चाकू-सा खुपसाता हिंसक अँधेरा
पसीने में खदबदाता
चट्टानों से लगातार जूझते जीवन का
हाँफता संगीत थोड़ा-थोड़ा
हम अपनी आँखों और दिलों में
उतार सकते थे जितना
उतना साथ लेकर आए
और लौटे खामोश नौ दिन की
छोटी-सी फिल्म बनकर

फिर भोपाल के प्लेटफार्म ने
हमें बारह घरों की दिशाओं में
मोड़ दिया

अब अकेले दौड़े हम
घर में होने के लिए

घर में और चैन की
साँस ली मैंने
घर के चेहरों और हाथों से
मिटाई मैंने सारी थकान
फिर शाम को
अकेला बैठा कुछ देर
उड़ने लगी / आराम कुर्सी
होंठों पर आने लगे
ग्यारह नाम / ग्यारह चेहरे
धुँध से निकले
और बादलों में छिप गए
बादलों से निकले
और बसों में घुस गए

गरम पानी के कुण्ड से
नहाकर निकले
और पहाड़ के माथे की ग्यारह
टोपी बन सज गए ग्यारह दोस्त
ओर मैं बारहवाँ
जिसके पास कैमरा तक नहीं
आँखों से खींच रहा फोटो
सबके बेहद खुश
और हँसता और सोचता हुआ
इसके बाद कहूँगा
शशांक से अब तुम उतारो तस्वीर
हिमालय के सफेद माथे पर
भगवत और राजेश के बीच
मैं बनूँगा ग्यारहवीं टोपी।

[जून, 1987 में मध्य प्रदेश के 12 कवि-लेखकों का एक दल, हिमाचल प्रदेश की 'सृजनानुभव यात्रा' पर आया था। यह कविता उसी पृष्ठभूमि पर है]

[उज्जैन, मध्य प्रदेश]

❑ प्रयाग शुक्ल

जून में नारकण्डा की एक दोपहर

पहाड़ों के पार पहाड़ हैं।
छितरे हैं पहाड़ों पर घर
छतें जिनकी चमकती हैं
धूप में।
खड़े हैं कतारों में पेड़।
सीढ़ीदार खेत
आलू के।
बादल वहाँ दूर
पार पहाड़ों के –
धुनी हुई रुई से।
अंतिम पहाड़ वह!
वह नीली परत में।
सीमा-रेख
कितनी पगडंडियाँ
भरती हवा में
कूद चिड़ियाँ।
निरभ्र दिन।
अनगिन अनगिन
क्षण स्थिर।

एकांत

झींगुर बोलते हैं
चिड़ियाँ उड़ती हैं।
फूल हिलते हैं
हवा में।
पत्तियाँ गिरती हैं।
बूँदों से जाती
भीग धरती।
झरता ही रहता
कुछ भीतर हमारे।

छिटकते हैं तारे।
पहाड़ों के ऊपर
पहाड़ों के
किनारे।

शिमला कालका ट्रेन में शाम को

खड़े हैं अविचल पहाड़।
बची हुईं वनस्पतियाँ।
छायाएँ शाम की।
उड़ान हरे तोतों की।
वक्र गति सड़कों में,
बसें, कहीं गाड़ियाँ।
सुरंगों के पार / है उजास अभी।
पहाड़ों पर छितरे हैं
दूर-दूर तक मकान।
कहीं-कहीं खेत।
चट्टानें डिब्बे के पास।
घास, डालियाँ।
मुड़ती है ट्रेन
कुछ उदास-सी सवारियाँ
अलसायी।
बलखायी शाम –
वहाँ शिखरों पर
जाने को धूप।
चीज़ें हजारहा।
सूर्यास्त!!
ट्रेन–

[ये कविताएँ जून 1994 के एक पखवाड़े में सोलन, शिमला, नारकण्डा और थानाधार में रहते हुए लिखी गई थीं।]

[एच-416, पार्श्वनाथ प्रेस्टीज, सेक्टर-93 ए, नोएडा-201304]

❑ **ऋतुराज**

लाहौल की रागनियाँ

ताशी दलेक

लाल चट्टानों से फूटते झरने
नदी की तरफ भागते हैं
और नदी पहाड़ों के बीच से
अपने प्रेमी से मिलने दौड़ती है

ऋतु लौटती है तो बर्फ़ भी
अपने जन्मस्थान पर आ जाती है
सब लौटते हैं एक फेरे में
और भागते हैं गति के महाचक्र से बंधे

उनके मिलने पर ताशी दलेक ज़रूर कहें
और बस का इंतज़ार करती
स्कूल जाती उस नन्हीं लड़की को भी
ताशी दलेक।

जीवन्ती

जब बर्फ़ का पहाड़ औंधे मुँह गिरता है मियार में
तो वह उसके गले में अपना संगीत भर देती है

प्राग् प्राचीन चट्टानों से रिसता है मद
कोई घुमक्कड़ स्वामी उसे शिलाजीत पहचान कर
अपने थैले में खुरचकर भर लेता है

ऐसे ही कूठ सालममिश्री रतनजोत श्योनाक
और जीवन्ती आदि औषधियाँ
पीर-पंजाल के लौह शरीर को पुष्ट करती रहती हैं।

हिमवती

बाहर से कुंद मगर भीतर से विराट

खुला है उसका अनिंद्य सौंदर्य
घृत कुंवारी के फूल की तरह
सतरंगा उन्नत या फिर काई घास जैसा हरा

वह शब्दातीत है इसीलिए उसे ध्वनियाँ खोजती हैं
असंख्य प्रपात उसके माध्यम हैं
और माध्यम ही परिभाषा है उसके भूगोल की

प्रकृति के प्रचुर अपव्यय की महागाथा के लिए
पाथर और पानी के संगीतज्ञ
यहाँ एक कल्पनातीत सिंफनी रचने में लगे हैं

ढलानों पर धूप खिली है फूल खिले हैं
बेतहाशा भागता हुआ उतर रहा है एक प्रपात
और उसके संग बादल

सब पदार्थ और जीव नहाए हुए हैं बर्फ़ से
इसी कारण किसी को भी नहाने की ज़रूरत नहीं है

अस्तित्व ही साध्य है सौंदर्य का
ब्राह्मी के स्मृति कल्प से चाहे कितना भी
कोई याद करे भाषा
अनेक भाषाओं के होते हुए भी यह अपरूप शब्दातीत है।

[34/48, प्रतापनगर, सांगानेर, जयपुर, राजस्थान]

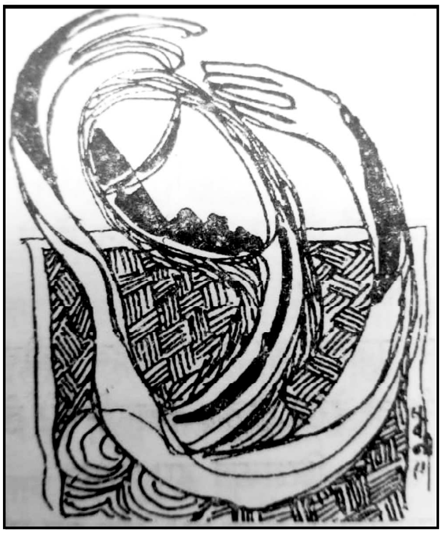

❑ सत्यपाल सहगल

पहाड़ संग

एक कविता की सीढ़ियाँ उतर कर
मैं एक दूसरी कविता में आ गया—
एक पहाड़ी घर
एक फिर भी बची रह गई
हवा और पेड़ और आसमान
एक फिर भी बची रह गई खोज
फिर भी बचा रह गया एक मनुष्य
एक पहाड़ के शहर बन जाने के बावजूद

2.

माएँ आर्तनाद करती हैं
हवाओं, घाटियों और अच्छे लोगों के
ऊपर उठ कर आती हैं चीखें
मैं गिर सकता हूँ
किसी पहाड़ से चीखता हुआ—माँ!

3.

जो आदमी नीचे से आता है
मुट्ठी भर रेत लाता है
यह मेरा काव्य-सच है
उसे अभी तक तो साफ कर रहे हैं
पहाड़ के लोग

4.

यहाँ से एक अच्छी कविता की शक्ति
प्राप्त होगी
यहाँ सपने रह सकेंगे
क्योंकि यहाँ देवदार हैं
यहाँ से नदियाँ बहेंगी
क्योंकि यहाँ है हवा
हवा हवा

5.
घाटी
लो, मैं तुम में
छलांग लगाता हूँ।

6.
पहाड़ी कौए जीते हुए अपना एकाँत
और साथ
घाटियों के रंग में मिली उनकी आवाज़
कौओं के किसी अभिशाप की छाया
उन पर नज़र नहीं आती
वे स्वस्थ हैं, स्वस्थ, देखो तो
वे हैं, उतने जितना घाटियों का वितान
वे हैं स्वायत्त
जैसे पहाड़ का पत्थर।

शिमला : जून की बारिश

धुँध की चादर ओढ़ दी गई है
यह चीज़ों के नहाने का वक्त है–
घर नहा रहे हैं
पेड़
रास्ते
ढलानें, घास नहा रही है

मल-मल के धोया जा रहा है हरेक अंग
देर का काम है
अभी वक्त नहीं है
गागरें छर-छर उड़ेली जा रही हैं
सब जगह उड़ेली जा रही हैं
अच्छी तरह निखर जाना चाहिए सबकुछ

तब तक तो रुकना ही पड़ेगा
टी.वी. देख लीजिए
तब तक बिस्तर में दुबक कर
पकौड़े तलने के लिए बीवी को कहिए
गप्प हाँकिए

[हिंदी विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़-160014]

❑ **निर्मला गर्ग**

सतलुज

1.

सतलुज बह रही है
पहाड़ फिर हैं

अब पहाड़ बह रहे हैं
सतलुज थिर है।

2.

सतलुज पारदर्शी है
पहाड़ झाँकता है
हरी हो उठती है

सतलुज का पारदर्शी होना
बचे रहना है
एक उम्मीद का

3.

पछाड़ खाती है
वीरागिनी यहाँ
तट की रेत पर
अतृप्त कामनाएँ बिछी हैं
तत्तापानी में
ज़रा-सा कुरेदते ही
देखा जा सकता है
उनका धधकना
सतलुज मेरे साथ
घर तक आती है
छूती है एक एक कर
गृहस्थी की छोटी-छोटी चीज़ें

4.

भिन्न-भिन्न आकार के
लुभावने पत्थरों का
ढेर है
रेती के इस किनारे
कुछ ले जाया जा सकता है
सजाया जा सकता है
मेहमानखाने में!

सतलुज के पसीने के मनके हैं ये
एक एक को गढ़ा है सतलुज ने
अपने हाथों
आपके मेहमानखाने में
कहाँ समा पाएगा
यह अद्‌भुत शिल्प
वहाँ दिखेगा वहाँ उनमें
कोई अर्थ?

5.

पहाड़ों के बीच
वही जा रही है सतलुज निःसंग
जंगलों से रात्रि की महक आ रही है
चरवाहे लौट रहे हैं
भेड़ों के साथ
कुछ भी माँगा जा सकता है
भू-देवता प्रसन्न हैं इस वक्त

माँगने को बहाए लिए जा रही है
सतलुज
काल-सी बहे जा रही।

[मुरादाबाद पट्‌टी, उ.प्र.]

कथा क्रम : दो

आखिरी खेल

❑ अवधेश कुमार

मिस थॉम्पसन के पहुँचने से पहले प्रार्थना शुरू नहीं होती थी। पहाड़ी की एक ढलान पर बने हमारे स्कूल की भौगोलिक स्थिति बड़ी विकट थी। नीचे मुख्य मार्ग माल रोड से शुरू होकर एक बेहद घुमावदार रास्ता बेतरतीब ढंग से ऊपर चढ़ता हुआ एक छोटे से समतल मैदान तक आता था, जो स्कूल का प्लेग्राउण्ड था। उसके बाद फिर आधे पक्के और आधे कच्चे रास्ते से होते हुए उन सीढ़ियों तक पहुँचता था जिन्हें चढ़ने के बाद हम एक छोटे-से हॉल मे पहुँचते थे जहाँ स्कूल की सुबह की सभा लगती थी। बच्चे हालाँकि ज़्यादा नहीं थे मगर हॉल इतना छोटा था कि उन्हें एक-दूसरे के कंधे से कंधा मिलाकर खड़ा होना पड़ता था।

घोड़े की नाल के आकार में बस से उस हिल स्टेशन के एक सिरे पर हमारा स्कूल था और दूसरे सिरे पर मिस थॉम्पसन का छोटा-सा कॉटेज था। जहाँ से उन्हें पैदल चल कर आना होता था। मिस थॉम्पसन हमारे स्कूल की न केवल एकमात्र अंग्रेज़ अध्यापिका थी। बल्कि उस जगह इने-गिने रह गए शुद्ध रक्त वाले गोरों में से एक थी। स्कूल के बच्चे और स्टाफ हॉल में इकट्ठा होते थे तो सबकी आँखें सीढ़ियों पर टिक जाती थी, जहाँ से हाँफते हुए छोटे-से कद की दुबली-पतली मिस थॉम्पसन अपनी सफेद झक्क झबरीली पामेरेरियन कुतिया के साथ दाएँ हाथ में ताजा फूलों का गुलदस्ता लिए हुए चढ़ कर आती थी।

मिस थॉम्पसन को देरी दरअसल अपनी उस कुतिया की वजह से ही होती थी, क्योंकि वह बहुत ही शरारती थी और मिस उसके गले में कभी जंजीर नहीं बांधती थी। वह कुतिया भी मिस की तरह ही हम सब की प्यारी थी। रास्ते में कभी फुदकती हुई, कहीं रूठती हुई। कहीं कुछ सूँघती हुई, कभी उन के चारों ओर चक्कर काटती हुई पूरे रास्ते में मिस थॉम्पसन को थका डालती थी।

सत्तर बरस की हाँफती हुई मिस थॉम्पसन सदा की तरह हर रोज़ मुस्कुराते हुए सभा में पहुँचती तो पूरा स्कूल चहक उठता—गुड मार्निंग मिस थॉम्पसन।

उनके पहुँचने से पहले संगीत शिक्षिका मिसेज दास अपना हारमोनियम का पर्दा खोले हुए तैयार रहती थी। तबला मास्टर विजय भाई अपने दाएँ-बाएँ को ठीक बजा कर दुरुस्त कर लेते थे। प्रिंसिपल साहब प्रार्थना पुस्तिका के उस पन्ने को खोल कर देख लेते थे। जिसमें उस दिन पढ़े जाने वाले आदर्शवाक्य छपे रहते थे। छोटे बच्चे सबसे आगे और बड़े लड़के-लड़कियाँ पिछली दीवार से सटे हुए हाथ जोड़कर बिना हिले-डुले खड़े रहते थे।

मिस थॉम्पसन अपने साथ लाया हुआ गुलदस्ता प्रिंसिपल के सामने खड़े स्टैंड पर रखे खाली गुलदान में सलीके के साथ सहेज कर रखती और चुपचाप आँखें मूंद कर प्रिंसिपल की बगल में खड़ी हो जाती। उनके परीनुमा छोटे-छोटे पैरों से सट कर उनकी कुतिया भी आँखें मूंदे गूदड़ी-सी बन कर बैठ जाती।

प्रिंसिपल साहब अपनी नाक पर ऐनक बिठाते और प्रार्थना शुरू हो जाती।

प्रार्थना सभा से लेकर रात्रि सफर तक दिन-भर का तय किया हुआ पब्लिक स्कूल वाला रूटीन बदस्तूर जारी रहता। मैं नया-नया ही स्कूल में अध्यापक नियुक्त हुआ था। नए माहौल में अपने आपको ढालने में मुझे ज़्यादा वक्त नहीं लगा और कुछ ही दिनों में मैं उस स्कूल के घनिष्ठ परिवार में समा गया। स्कूल से कुछ दूर अंग्रेज़ों के कब्रिस्तान के पास स्थित एक विशाल मगर वीरान लॉज के निचले तल में बने तीन बड़े-बड़े कमरों वाले हिस्से में हम तीन अध्यापकों के रहने की व्यवस्था थी। मैं—आर्ट मास्टर राणा जी—पी.टी.आई. और पंत जी साईंस टीचर। इत्तिफाक से हम तीनों ही छड़े-छांट थे और अपनी-अपनी जीवन शैली के प्रति एक से लापरवाह। तीनों ही अक्सर उस लॉज में न रहकर इधर-उधर टिक जाते थे। राणा जी ने अपने स्पोर्टस रूम के एक कोने में अपना बिस्तर जमा लिया था, जबकि पंत जी बच्चों की डोरमेटरी में ही किसी खाली पलंग पर पसर जाते थे। इस बीच मेरी हॉस्टल के वार्डन मिस्टर शर्मा से गहरी छनने लगी थी, वह भी अकेले थे सो मैंने भी उनके डबल बेड पर अपना डेरा जमा लिया।

धीरे-धीरे वह स्कूल मेरे लिए परिवार से बढ़कर एक समाज में बदलने लगा और उसकी हर गतिविधि, ऊँच-नीच, उठा-पटक, राग-विराग आशा-निराशा, अन्दरूनी घात-प्रतिघात और छोटी-छोटी राजनीतियाँ खुलकर सामने आने लगीं।

वार्डन मिस्टर शर्मा और मैं, हम निवाला के साथ-साथ हमप्याला भी हो चुके थे। शाम का डिनर अब हम दोनों साथ-साथ उनके डाइनिंग रूम में ही लेने लगे। खाना ऊपर स्कूल की कैंटीन से नीचे ही आ जाता और ड्रिंक्स के बाद जब भी फुर्सत होती हम हीटर पर गर्म करके उसे खा लिया करते। मिस्टर शर्मा की देखा-देखी मैं भी तवे पर देर तक सींकी हुई सख्त रोटी और अचार-मुरब्बे खाने का शौकीन बन गया। टी.वी. तब तक आया नहीं था लेकिन टू-इन-वन में लगा कोई न कोई कैसेट अनवरत बजता रहता। रूटीन इतना सुनिश्चित हो गया था कि सुबह ठीक पाँच बजे नींद खुल जाती। दोनों कुछ देर मॉर्निंग वॉक के लिए जाते। वापस लौट कर चाय पीते। शर्मा जी अपनी रोज़ाना की एक्सरसाइज करते और मैं अपनी ड्राइंग बुक में आड़ी-तिरछी लाइनें खींचने लगता। दिन-भर की व्यस्तता के बाद हम दोनों रम की एक बोतल खरीदते और कब्रिस्तान के लिच गेट के पास सड़क किनारे रखी एक बेंच पर बैठकर धीरे-धीरे बोतल नीट ही गटक जाते।

रात को सोने से पहले लड़कों की डॉरमेटरी का मुआयना किया जाता और दिन-भर की गतिविधियों का लेखा-जोखा करते हुए अगले दिन का कार्यक्रम तय किया जाता।

अंत हमेशा एक खेल से होता जिसे हम लास्ट गेम या आखिरी खेल कहते थे। खेल बहुत मज़ेदार था और खतरनाक भी। लड़कों और लड़कियों दोनों के हॉस्टलों में यह खेल नियमित खेला जाता था और बाकायदा उसके रजिस्टर भरे जाते थे और वीकएंडस् में बहुत गुप्त रूप से उनका आदान-प्रदान करके मज़ा लिया जाता था।

यह खेल अंग्रेज़ों के साथ भारत में आया था और आज भी कुछ पुराने पब्लिक स्कूलों के जीवन का यह एक अटूट हिस्सा है, ऐसा शर्मा जी ने मुझे बताया था। 'ऑड मैन आऊट' नाम का यह खेल सिर्फ मनोरंजन के लिए ही नहीं था, बल्कि स्कूल के दिनभर की गतिविधियों और उसके जीवन में आने वाले उतार-चढ़ावों का एक बेबाक आईना भी था। सत्यजीत राय

ने अपनी फिल्म 'अरण्येर दिन रात्रि' में इसी खेल का इस्तेमाल करके अपने पात्रों का चारित्रिक विश्लेषण प्रस्तुत किया था।

संक्षेप में खेल यह था कि शर्मा जी और परफेक्ट फाईव यानि कि स्कूल के पाँच सीनियर छात्र जो कि खेलकूद, पढ़ाई, वाद-विवाद, नाटक, गीत-संगीत आदि एकस्ट्रा केरिकुलर एक्टीविटीज़ में अव्वल थे, इस खेल में हिस्सा लेते थे। गोयनका, दोरजी, सुखविंदर, मयंक और देशपांडे। दोरजी एक तिब्बती लड़का था जिसे हाँगकांग में स्थापित कोई अमेरीकी व्यापारी स्पांसर करता था। सुखविन्दर सिख था जोकि थाइलैंड से यहाँ पढ़ने आया था और बाकी कलकत्ता, दिल्ली और बम्बई जैसे महानगरों के औद्योगिक घरानों से आए लड़के थे। खेल में होता यह था कि एक लड़का शुरू करता था किसी भी शब्द से—किसी व्यक्ति या वस्तु का नाम, कोई चिह्न, किसी घटना की ओर इशारा करने वाला कोई शब्द या कुछ भी, लेकिन एक ही शब्द। फिर दूसरा उसे दोहराते हुए अपनी तरफ से कोई नया शब्द जोड़ता था। तीसरा पहले और दूसरे के कहे हुए शब्दों को दोहराते हुए उसमें अपनी तरफ से नया इजाफा करता था। चौथा—पहले, दूसरे और तीसरे को उनके क्रम से दोहराता हुआ अपना शब्द जोड़ता था और पाँचवा अपने से पहले चारों द्वारा कहे गए शब्दों के क्रम को याद करके दोहराते हुए पाँचवा शब्द अपनी तरफ से जोड़ता था। अंत में मिस्टर शर्मा कहते थे 'लास्ट'। इस तरह पहले वाला शर्मा जी के लास्ट शब्द से शुरू करके अपने दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवें के शब्दों को याद करके दोहराते हुए फिर अपनी तरफ से एक नया शब्द जोड़ता था और यही क्रम दूसरे, तीसरे, चौथे और पाँचवें से होकर शर्मा जी के 'लास्ट' तक पहुँचता था। खेल का यह सिलसिला जारी रहता।

जब कोई शब्दों के इस क्रम को ठीक-ठीक याद रखकर दोहराने में भूल कर बैठता तो उसे खेल से बाहर हो जाना पड़ता। खेल का यह सिलसिला तब तक जारी रहता जब तक सब खेल से बाहर न निकल जाते। आश्चर्य की बात ये थी कि पाँचों लड़के इस खेल में भी परफेक्ट थे और देर तक हार नहीं मानते थे। मगर शर्मा जी की याददाश्त इतनी तेज़ थी कि हमेशा ठीक-ठाक अपने 'लास्ट' तक पहुँच जाते थे। हालाँकि यह खेल चार या पाँच राउण्ड से अधिक नहीं चलता था। मगर इसके माध्यम से जो कूट भाषा में स्कूल के आंतरिक जीवन का एक कच्चा चिट्ठा तैयार होता जिसके आयाम किसी विश्वकोष से बढ़कर थे और उसके आधार पर पब्लिक स्कूल में जीवन से जुड़े विभिन्न विषयों के बड़े-बड़े सारगर्भित ग्रंथ, उपन्यास, शोधप्रबंध आदि रचे जा सकते थे।

इस खेल का लेखा-जोखा रखना मेरे जिम्मे था। मैं एक तरह से वेदव्यास जैसा था जो कि स्कूल के महाभारत की सामग्री जुटा रहा था। रजिस्टर का एक-एक पन्ना खोलता हूँ तो इस महाभारत का एक-एक अध्याय सजीव हो उठता है।

गोयनका—डिनर। दोरजी—फ्रॉग जंप। सुखविन्दर—एफ एल। मयंक—मिस मैसी। देशपांडे—होम सिक। शर्मा जी—लास्ट।

गोयनका-डिनर। स्कूल का डिनर बहुत बेस्वाद और बेमज़ा होता था। गोश्त के अच्छे-अच्छे टुकड़े किचन से सीधे मैनेजर, एकाउंटेंट और मैनेजमेंट स्टाफ के बड़े कर्मचारियों के यहाँ पहुँच जाते थे। बच्चों को मीट के छींछड़ों के साथ पतली पानीदार तरी पीकर ही संतोष करना पड़ता था। अधपकी या जली-भुनी रोटियाँ जानबूझ कर इसलिए बनाई जाती थी कि

बच्चे ज़्यादा न खा सकें। वे भी कम चालाक नहीं थे। चार-छह रोटियाँ अपनी जेबों में ठूँस कर हॉस्टल-डॉरमेटरी में ले आते जिन्हें फिर से हीटर पर गर्म किया जाता। पॉकेट मनी से लाए गए मक्खन, जैम, जैली, अचार के साथ एक दूसरा सपर किया जाता। मैनेजमेंट को इसका पता था। मगर उनके लिए यह सौदा भी सस्ता ही था।

दोरजी—फ्रॉग जंप। राणा जी, पी.टी.आई. अजब ही परवरटेड आदमी था। हमेशा अश्लील हरकतें और मज़ाक करना उसकी आदत थी। डाइनिंग टेबल पर अक्सर नॉनवेज जोक्स क्रेक करना उसका शगल था। गेम्स के वक्त खेल का कोई गुर सिखाने के वक्त लड़कियों को छूकर अनावश्यक छेड़छाड़ करना उसकी फितरत में शामिल था। तिब्बती लड़कियों के पीछे तो वह हाथ धोकर ही पड़ता था। मासिक के दिनों में वह जानबूझ कर लड़कियों से फ्रॉग जंप करवाता था। मैनेजर की थुलथुल पत्नी का वह व्यक्तिगत योग प्रशिक्षक था। लड़कियों द्वारा बार-बार शिकायत करने के बावजूद उसके खिलाफ कोई एक्शन नहीं लिया गया।

सुखविन्दर—एफ एल। के. जी. और अपर के. जी. के बच्चे बहुत शरारती होते हैं और बहुत शोरोगुल मचाते हैं। बड़ी कक्षाओं के बच्चे डिस्टर्ब न हों इसलिए उनकी कक्षाएँ स्कूल के मुख्य भवन से हटकर अलग एक हिस्से में लगती थीं। हर सुबह वहाँ पर एक दो लिसलिसे फ्रेंच लैदर या खून से सने सैनिटरी नैपकिंस या बालों के गुच्छे पाया जाना आम बात थी। कई बार कन्डोम के पैकेट भी पाए गए। एक बार तो हद हो गई जब बच्चे उन्हें गुब्बारों की तरह फुला कर खुश हो रहे थे। चौकीदार को डांट पिलाई जाती। लेकिन वह हथेली पर खैनी रगड़ता हुआ अपनी खीसें निपोर देता। सीनियर लड़के उसकी जेब हमेशा गर्म रखते थे। गनीमत यह थी कि प्रिगनेंसी का कोई केस नहीं पकड़ा गया। ऐसा कोई लफड़ा खड़ा भी हुआ तो मैट्रन और नर्स ने सम्हाल लिया। होमो और लेस्बियन वाक्यों से तो यह स्थिति बेहतर ही थी। ड्रगस न लेकर लड़के-लड़कियाँ सेक्स तक सीमित रहते थे—मैनेजमेंट के लिए यही राहत की बात थी।

मयंक—मिस मैसी। मिस मैसी औरत थी। नशा करने के बाद वह छोटे-बड़े किसी का ख्याल नहीं रखती थी। मौका मिलते ही किसी भी लड़के को अपने कॉटेज में बुला लेती थी और उसे पूरा आदमी बना कर ही वापस भेजती थी। उसका मंगेतर अक्सर ही अपनी रातें उसके साथ गुज़ारता था। लेकिन उतनी ही अच्छी वह अध्यापिका और एक बेहतरीन इंसान थी। उसका रिजल्ट हमेशा टॉप पर रहता था। टेबल मैनर्स से लेकर ड्रेस, एटिकेट्स, बागवानी डेक्लेमेशन, गीत-संगीत, डांस, स्पोर्टस सभी चीज़ों में उसका कोई मुकाबला नहीं था। के.जी. से लेकर अन्तिम कक्षा पास करके बड़ी-बड़ी जगहों पर पहुँचे उसके पढ़ाए हुए लड़के-लड़कियाँ हमेशा उसे पत्र और तोहफे भेजते रहते थे। वह एक तरह से स्कूल की शान थी। एक बदनाम मगर अभिजात्यपूर्ण शान। वह एक तरह से स्कूल का ही प्रतिरूप थी।

देशपांडे—होम सिक। स्कूल का वातावरण कभी-कभी इतना बोझिल, बीमार और तनावपूर्ण हो उठता था कि भावुक और कमज़ोर दिलों के बच्चे उसमें अपने आप को सहेज नहीं पाते थे। उन्हें घर की याद कचोटती। वे अक्सर स्कूल से भाग जाते। शर्मा जी ऐसे मसले निबटाने में उस्ताद थे। उन्होंने बाकायदा एक नक्शा बनाया हुआ था कि कोई बच्चा किन-किन रास्तों से, कहाँ-कहाँ से होकर भाग सकता है और कौन-सी बस या कौन-सी

रेलगाड़ी किस समय पर कहाँ-कहाँ जाती है। कितने समय में उसे कहाँ पकड़ा जा सकता है और उनका अनुमान बिल्कुल सही निकलता। बैंकाक की फलाइट पकड़ने से पहले ही उन्होंने स्कूल में पढ़ने वाले भाई-बहन के एक जोड़े को पालम हवाई अड्डे के प्रवेशद्वार पर ही पकड़ लिया था। इसलिए मैनेजमेंट हमेशा उनका शुक्रगुज़ार रहता है और कैश व कांइड दोनों रूपों में उन्हें खुश रखता है क्योंकि स्कूल का एक-एक बच्चा उनके लिए सोने का अंडा देने वाली मुर्गी के समान है।

शर्मा जी—लास्ट।

इसी तरह से यह खेल जारी रहता है। और मेरे रजिस्टर में रोज़ एक नया अध्याय जुड़ जाता है।

आज स्कूल का आखिरी दिन है।

खेलकूद, वार्षिक उत्सव, पारितोषिक वितरण, बड़ा सपर सब निपट चुके हैं। सब बच्चे और स्टाफ के अधिकांश लोग अपने-अपने घरों को लौट जाएँगे। कल स्कूल वीरान हो जाएगा। स्कूल के सुनसान वातावरण में सिर्फ कौरवों का शोर सुनाई देगा। हम रम की बोतल लेकर फिर लिच गेट के पास वाली बेंच पर जम गए हैं।

आज शर्मा जी बाहर से बहुत शांत अन्दर से बेहद उद्विग्न हैं। तीसरे घूँट को नीट हलक से नीचे उतारने के बाद मुझ से कहते हैं—"कलाकार आओ, आज हम दोनों अपना लास्ट गेम खेलते हैं।"

"मैं समझा नहीं", कहते हुए मैं भी अपना तीसरा घूंट गटकता हूँ।

"आज का आखिरी खेल रजिस्टर में दर्ज नहीं किया जाएगा। सिर्फ हमारे तक ही सीमित रहेगा। हम इसे एक-दूसरे के लिए याद रखेंगे।" कह कर शर्मा जी फिर एक लम्बा घूँट लगाते हैं।

अब मेरी भी दिलचस्पी बढ़ गई है।

"चलिए शुरू कीजिए," मैं कहता हूँ।

"तुम्हें स्कूल में सबसे अच्छा कौन लगता है?"

"आप।"

"झूठ।"

मैं चुप हूँ समझ नहीं पा रहा बात कैसे आगे बढ़ाऊँ।

"अच्छा तुम्हें स्कूल में कौन-सी लड़की अच्छी लगी?"

"मिस थॉम्पसन"—मैं भरसक मासूमियत से कहता हूँ।

सुनकर शर्मा जी बेतहाशा हंसने लगते हैं?

"अच्छा-अच्छा, ओह-ओह तो आप उस ग्रैन्ड ओल्ड लेडी के आशिक हैं। शायद पिछले जनम के, क्यों—जब मिस थॉम्पसन स्वीट सिक्सटीन रही होंगी और आप रोमियों की तरह उनके आगे-पीछे फिरते से होंगे। यू रास्कल यू नॉटी ब्वॉय। भला मिस थाम्पसन ही तुम्हें क्यों अच्छी लगी। इतनी जानदार, शानदार, खूबसूरत जवान मैडमों और लड़कियों के बीच वो ग्रेंड ओल्ड लेडी मिस थॉम्पसन, नहीं-नहीं, आपकी वो मिस जुलियट ही तुम्हें क्यों अच्छी लगी?"

मैं कुछ समझ नहीं पाता कहाँ फंस गया हूँ—यूँ ही कह देता हूँ। "देखा नहीं हमारे लिए आल्मण्ड का कितना स्वादिष्ट हाथ का बना केक लेकर आई थी। सफेदे की बदबू के

नीचे से अभी भी उसकी महक डकार के साथ नथुनों से लेकर दिमाग तक जा रही है। क्यों, आपने भी तो खाया था?"

शर्मा जी को धक्का-सा उठता है—खांसते-खांसते कहते हैं—"अभी बच्चे हो।"

थोड़ी देर बाद सिगरेट सुलगा कर फिर कहते हैं, "बी सीरियस—स्टाफ से शुरू करो—कौन पसंद है? खूब सोच समझ कर कहना—बेस्ट तक, आपने लास्ट तक पहुँचना है।"

"मिस मैसी।"

"धतेरे की। अच्छा, दसवीं में?"

"डोलमा।"

"नौवीं में?"

'मीनाक्षी।"

"आठवीं में।"

"शुभा।"

"छठी में?"

"लतिका।"

"पाँचवीं में?"

"चारू—अब बस कीजिए शर्मा जी—क्या बच्चों जैसी हरकत पर उतर आए हैं। इससे नीचे मैं नहीं जाऊँगा।"

शर्मा जी चुप हो गए हैं। मुझे डर लगता है कि कहीं नाराज़ न हो गए हों। खेल अचानक और अप्रत्याशित ढंग से गंभीर हो उठा है। मेरा सिर भारी होकर दुखने-सा लगा है। नशे ने अचानक जैसे ऊँची छलांग लगा ली है। लगता है दिमाग करवटें लेने लगा है। मिस थॉम्पसन के बाद याद करता हूँ। स्टाफ में से मिस मैसी दसवीं से—डोलमा, नौवीं से मीनाक्षी, आठवीं से शुभा, छठी से लतिका पाँचवीं से चारू। अचानक झटका-सा लगता है—सातवीं कहाँ गई। सातवीं से कौन?

"लास्ट—सातवीं से कौन—शर्मा जी पूछते हैं।"

नशे के जैसे आखिरी कगार से कराह कर कहता हूँ—वही जो आपको भी पसंद है।

[देहरादून, उत्तराखण्ड]

हिल स्टेशन की एक शाम

❑ पद्म गुप्त अमिताभ

सुमि उस अन्तिम वाक्य को पढ़कर बहुत असहज हो गई।

मेज़ के सामने बैठे-बैठे पत्र का एक कोना अनचाहे ही उसकी मुट्ठी में भिंच गया। जैसे सबसे छिपाने की कोशिश कर रही हो। कोई पत्र पढ़ ले तो? श्याम भाई साहब, भाभी या ललिता? या फिर कोई भतीजा, भतीजी ही? अब बच्चे थोड़े ही हैं; सभी कॉलिज जाते हैं।

अजय भाई साहब के पत्र वह कितने चाव से सबको पढ़ने को देती है। सभी समस्याओं का समाधान, सारे दार्शनिक विश्लेषण जैसे उन्हीं के पास हैं। किन्तु यह पत्र? इस बार अजय भाई साहब ने यह क्या लिख दिया। उसे अपने ऊपर बड़ी शर्म आ रही थी। सुमि के माथे पर पसीने की बूँदें झलक आईं और जुलाई की बेवजह उमस की तरह उसने अपनी काँखों और रीढ पर अचानक चिपचिपाहट महसूस की, जैसे सूखी-सी दीखने वाली नदी की रेती पर पाँव रखने से उसके भीतर का अदृश्य जल पाँवों को गीला कर देता है।

''भई, ये तो बड़ी ग़लत बात है भाई साहब?'' उसकी निःशब्द ध्वनि शायद ही उसके होठों से बाहर गई होगी, किन्तु ऐसा लगा जैसे भाई साहब उसके सामने बैठे हों।

टेलीफोन, मोबाइल और ई-मेल ने हमारे जीवन में संवाद की नई संस्कृति का समावेश कर दिया है। आप जन्दी में हो सकते हैं, दो काम एक साथ कर सकते हैं, टाल मटोल कर सकते हैं अथवा कुछ छिपाना चाहते हैं। किन्तु पत्र में आपका एक निजी संसार है। आपका एकाकीपन अपनी समस्त उन्मुक्तता के साथ आपके साथ होता है। अपने सबसे गुह्य रहस्यों को उजागर करते हुए, अपनी आत्मा को शब्दों में उंड़ेल देते हैं। जहाँ आपकी सबसे निरंकुश कल्पनाएँ शब्दों की बैसाखियाँ पाकर दौड़ने लगती हैं; जीवन की सभी स्थितियों का सत्य सापेक्ष निरूपण। लिखित शब्द का यह प्रबल और अद्भुत आकर्षण है। यह कभी ख़त्म नहीं होता। जादू की एक पिटारी। जितनी बार खोलो, नया जादू। अर्थात् हर बार नये अर्थ, नये सन्दर्भ, आप उसका साक्षात्कार बार-बार करना चाहते हैं। यह किसी आत्मीय का निरन्तर संग बने रहना है।

कुछ लोग पत्र लिखने में आलसी होते हैं उत्तर देने में उससे भी ज़्यादा। किन्तु सुमि और अजय तो ऐसे मिल बैठे दीवाने दो हैं कि सुमि को यदि लम्बे पत्र लिखने का शौक है तो अजय के उत्तर उससे भी लम्बे होते है। सुकरात के इन चेलों की यही समस्या है। काम कम, फुरसत ज़्यादा। रेस्त्रां, काफी हॉउस, क्लब, बार। रीडिंग रूम, गोष्ठी, लायब्रेरी और सेमिनार। संसार और संसारेत्तर सरोकारों को लेकर, वाद-संवाद, विचार-विमर्श, बहस, मुवाहिसे। शब्दों की कतरनें काटते रहिये। कहीं लेखन का शौक है और प्रकाशन का भी जुगाड़ हो जाए तो धन्य और फिर स्वनाम धन्य। अजय को तो दोनों व्यसन हैं। सुमि की किशोर जिज्ञासाओं से लेकर उसके वयस्क मन की दार्शनिक उहापोह का समाधान अजय भाई साहब

से ही होता है। आजकल जिस प्रकार एफ.एम. रेडियो स्टेशनों के जॉकी अर्धरात्रि के कार्यक्रमों में युवा मनों की व्यक्तिगत, पारिवारिक और यौन सम्बन्धी समस्याओं का समाधान करते हैं। पहले यह पत्र-व्यवहार नियमित होता था। अब रोज़गार के ग़मों के बावजूद साल में दो-एक पत्र तो आ ही जाते हैं।

होना तो यह चाहिये था कि सुमि इस पत्र को पढ़कर लज्जा जाती। हृदय का पम्प भावावेश से गालों की तरफ़ कुछ अधिक रक्त का संचार कर देता। ऐसा कुछ नहीं हुआ। सुमि चालीसवें को पार कर रही थी। उम्र के इस अंक गणित में उसकी लज्जाने की उम्र जा चुकी थी। भले ही वह कुमारी थी, मिस सुमिता मेहता, एम.ए.एम.फिल। स्थानीय डिग्री कॉलिज में दर्शन-शास्त्र की विभागाध्यक्ष। आप अध्यक्षा भी कह सकते हैं।

सुमि के कॉलिज से लौटकर दरवाज़ा खोला तो पत्र फर्श पर पड़ा था। दरवाज़े में पत्र-पत्रिकाओं के लायक झिरी थी। पर्स, गाड़ी की चाबी, कमरे की चाबियाँ, मोबाइल, किताबों और शॉपिंग-बैग से लदी-फदी सुमि ने सामान मेज़ पर पटका। झुक कर पत्र उठाया। इस उम्र में झुकने से मुँह से हल्का-सा 'ओह माँ' निकल ही गया।

अजय भाई साहब का पत्र था।

"चलो भाई साहब को मेरी याद तो आई। इतने दिनों बाद ही सही।" सात-आठ महीने तो हो ही गए होंगे। अच्छा फ्रेश होकर आराम से पढ़ने बैठती हूँ।"

सुख-सुविधा में पली-बढ़ी पिता की लाडली बेटी। सुख-सुविधा सम्पन्न तो सभी पैसे वाले होते हैं। किन्तु अधिकार की गरिमा सत्ता से आती है। सत्ता के जिस उद्धत दर्प से अधिकांश का माथा घूम जाता है, मेहता जी में उसका लेशमात्र भी नहीं था। अधिकार की गरिमा को सम्पूर्ण शालीनता के साथ वहन करने की क्षमता ही उन्हें दूसरों से जुदा करती थी। गौरवर्ण के मेहता जी की लम्बी कद-काठी से ही यह व्यक्त नहीं होता था। उनके सम्पर्क में आने वाले हर व्यक्ति को यह सहज ही उपलब्ध था।

बेटी का रंग पिता की तरह खुलता हुआ तो नहीं था। थोड़ा साँवला, गेहुँआ-सा था, किन्तु तीखे नैन-नक्श के कारण उसमें एक सौम्य आकर्षण था। आनुवांशिक कारणों से पिता के अन्य गुण बेटी में जस के तस हस्तान्तरित हो गए थे। पिता का अधिकार का गुण तो बेटी में इस कदर उभरा कि पूरे घर का अनुशासन स्थापित करने का दायित्व उसी के ऊपर आ गया। अनुशासन और व्यवस्था दोनों। यद्यपि बेटी से बड़ा बेटा था। जिसका ज़िक्र पहले आ चुका है, श्याम भाई। यही श्याम भाई, बल्कि यों कहा जाए कि इन्हीं श्याम भाई का तो अजय मित्र था। दोनों कॉलिज में साथ पढ़ते थे।

श्याम भाई से पाँचेक साल छोटी थी सुमि। उससे छोटी दो बहिनें, एक भाई। बड़ा बेटा हालाँकि पिता पर गया है। शक्ल-सूरत, चाल-ढाल, सब कुछ उन्हीं की तरह। लगभग, किन्तु पूरी तरह नहीं। कद-काठ में तो उन्नीस है ही, अधिकार की भव्यता और अनुशासनप्रियता जो उनमें है, बेटे में उसकी झलक भी दिखाई नहीं देती। कल्पना लोक में विचरण करता। दुनिया की भीड़ में खोकर रास्ता भूल जानेवाले बालक की तरह। सीधा-सादा, आप ढीला-ढाला भी कह सकते हैं। अस्तित्वपरक अनिश्चितताओं में डूबा डेनमार्क का राजकुमार।

"तू सबसे बड़ा है श्याम। ज़रा ध्यान दिया कर! बेटा अपनी ज़िम्मेवारी समझा कर!" पिता बार-बार समझाते। अभिप्रायः तो यही था कि तू तो तीन-तीन बहिनों का बड़ा भाई है,

किन्तु वह इतने सम्वेदनशील और शालीन हैं कि यह बात ज़बान तक नहीं ला पाते। उन्हें यह स्मरण रहता है कि- ''अभी तो मैं हूँ ना!'' अपने सामने ही सारे दायित्वों का निर्वाह कर लूँगा। समय के साथ बेटा भी समझदार हो जाएगा। अपने स्वप्न संसार से विचलित होकर लौकिक जगत् के विषम और खुरदुरे शिला प्रदेश में कैसे लौटे श्याम? पिता जो पुत्र में देखना चाहते हैं, वह बेटी में देख रहे हैं। उनकी समस्त योग्यता बेटी ने नैसर्गिक रूप में पा ली है। पिता का गर्व करना लाज़िम ही है। उनके सभी गुण और आकांक्षाएँ उसमें प्रतिबिम्बित हैं। सम्पूर्ण क्षमता और उसी आभिजात्य के साथ।

मेहता जी का सरकारी आवास खुला-डुला है। नौकरों के लिए पिछवाड़े में ऑउट-हॉउस है। एक कमरे में ड्राइवर के लिए चारपाई बिछी है। ड्यूटी के सिलसिले में रात-बिरात होती रहती है। वैसे वह प्रतिदिन पास के गाँव से बस में आता है। एक अन्य कमरे में दिलाराम अपनी पत्नी कमला के साथ रहता है। कमला अन्य कामों के अतिरिक्त अधिकतर रसोई में हाथ बंटाती है। दिलाराम भी सभी काम कर लेता है, घर के, बाजार के और माली के भी। खुले लॉन में आड़ू, खुमानी, नाशपाती और आलू-बुख़ारा के पेड़ों के अतिरिक्त फूलों की क्यारियाँ, अंगूर की बेल है। फल-सब्ज़ियाँ बाज़ार से आती हैं, किन्तु दिलाराम थोड़ी-बहुत मौसमी सब्ज़ियाँ उगा लेता है। डंगे (पत्थरों की दीवार) के साथ का पूरा कोना हमेशा गुलाब से लदा रहता है।

सुमि इन सबकी प्रभारी है। इनके लिए उसका निर्देश ही आदेश जैसा है। उसने यह दायित्व स्कूल के दिनों से ही संभाल लिया था। समय के साथ सुमि बेबी से सुमि दीदी हो गई। पिता इस बात को बहुत पहले ताड़ गए थे। घर के बाकी सदस्यों को पहले तो अनावश्यक रौब ही लगा, एक फ़ालतु अनधिकार चेष्टा। किन्तु जब सब काम सुचारु ढंग से हो जाएँ तो सबके एतराज धरे रह जाते हैं। अपनी-अपनी व्यस्तताओं से समय निकालना किसके बस का है? सुमि ने सारे कामों को यन्त्रवत् व्यवस्थित कर लिया है। अब सबको लगता है कि यही सबसे उपयुक्त और सुविधाजनक व्यवस्था है। इस मौन सहमति के बावजूद उनकी आलस्यपूर्ण व्यस्तताओं (सुमि के अनुसार फिज़ूल के कामों में समय की बरबादी) के बीच सुमि अपनी सुरीली, किन्तु तीखी आवाज़ से उन्हें झिंझोड़ देती है तो कोई क्या करे? किन्तु इससे बेहतर विकल्प कोई है क्या?

पुत्र से तो पिता निराश थे। अन्य भाई-बहनों की भी न तो पढ़ाई अथवा अन्य किसी क्षेत्र में कोई रुचि थी। सुमि ही वह एक मात्र निर्मल दर्पण थी, जिसमें उन्हें अपनी आकांक्षाओं की निरन्तरता और उनकी पूर्ति सुस्पष्ट दिखाई देती थी। उनका मुग्ध भाव स्वाभाविक था। बचपन से नटखट, बातूनी और अपनी उम्र से कुछ अधिक बड़ी व समझदार। पिता के मित्र भी उससे प्रभावित हुए बिना न रहते। किसी सरकारी समारोह में पिता बच्चों को साथ ले जाते तो आकर्षण का केन्द्र सुमि होती।

कोई छुट्टी-बुट्टी थी। सुमि उस दिन श्याम भाई के साथ बाज़ार गई तो पहली दफा अजय को देखा। जिस बेतकल्लुफ़ी से दोनों मिले, वह समझ गई कि भाई के ख़ास दोस्त हैं।

''सुमि! यह अजय है मेरा दोस्त। मैंने तुम्हें बताया था ना? मेरा वही क्लासफेलो, जिसे हम सब फिलासफ़र कहते हैं।''

और फिर अजय की तरफ़ मुख़ातिब होकर बोला था, ''अजय, दिस इज़ माई सिस्टर

सुमि? (यह मेरी बहिन सुमि है), यहीं सेंट मेरीज़ में नाईन्थ में पढ़ती है।

श्याम भाई और अजय दोनों ही युवावस्था में प्रवेश कर रहे थे। यह संक्रमण काल भी अजीब होता है। वैसे जीवन में स्थिर काल तो कोई भी नहीं। सुमि को अजय देखने-भालने में गेहुँए रंग का दुबला-पतला साधारण-सा लड़का लगा। किन्तु उसकी व्यग्र आँखों में अजीब-सी चमक थी।

रेस्त्रां में चाय पीने बैठे तो सुमि ने ध्यान दिया कि अजय ने दो-तीन किताबें मेज़ पर रखीं।

''मैं देख लूँ, अजय भैया?''

लाइफ़ मैगज़ीन का लेटेस्ट ईश्यु था। महँगे ग्लॉस्सी कागज़ पर छपी इतनी अच्छी इलेस्ट्रेटिड (सचित्र) पत्रिका देखकर सुमि तो उसमें खो गई। फिर उसने किताबों को उलट-पुलट कर देखा। एक डॉ. राधाकृष्णन की कोई किताब थी, दूसरी भी फिलासफी की विदेशी लेखक की कोई किताब थी। अब सुमि हरबर्ट रीड का नाम कैसे याद रख पाती? किन्तु अजय की बातों और उसकी अपेक्षाकृत जोशपूर्ण बहस ने उसके किशोर मन पर जो छाप छोड़ी, वह उसे अजय भाई का मुरीद बनाने के लिए काफ़ी थी। इस पहली मुलाकात का प्रभाव उसके मन की कच्ची मिट्टी में सदैव के लिए अंकित हो गया।

श्याम भाई और अजय, जाने कहाँ-कहाँ की बातें करते रहे। इस सारी बहस में श्याम भाई साहब तो अधिकतर एक समझदार श्रोता की तरह ही बने रहे।

''हमारे घर आना अजय भैया!'' विदा लेते समय सुमि ने चहक कर कहा था। अजय की बातों का सम्मोहन उसे अभी भी घेरे हुए था। और अजय ने उसके कन्धे पर हाथ रख कर कहा था, ''ओह श्योर, व्हाय नॉट यंग लेडी, आय शैल बी ऑनरड। और फिर श्याम की शिकायत भी तो दूर करनी है, कई दफ़ा बुला चुका है।''

'यंग लेडी' सुमि को अजय का यह नया सम्बोधन अच्छा लगा था। घर में तो उसका वर्चस्व था ही; अजय भाई साहब के व्यवहार से वह स्वयं को अति विशिष्ट समझ रही थी। उसे कई दिनों तक अजय की बातें याद आती रहीं।

सुमि भागी-भागी आई। किचन की खिड़की से उसने अजय को कोठी के गेट से अन्दर आते देख लिया था। इतवार होने के कारण पापा घर पर ही थे और दिलाराम के साथ बागवानी में व्यस्त थे। अजय ने हाथ जोड़कर नमस्ते की और उसके कुछ कहने से पहले ही सुमि वहाँ पहुँच चुकी थी।

''पापा ये हैं अजय भाई साहब। श्याम भाई साहब के क्लास-फेलो। और अजय भैया, दिस इज़ माय ग्रेट पापा।''

फिर भागकर भीतर गई और श्याम के बाथरूम का दरवाज़ा पीटने लगी, ''श्याम भाई साहब! जल्दी निकलो, अजय भाई साहब आए हैं।'' श्याम जब तक नहाकर आता, मेहता साहब अजय से इम्प्रेस हो रहे थे।

अन्दर सुमि नाश्ता लगा रही थी। उसके बुलाने पर वे तीनों भी आ गए। सुमि की निगरानी में बने गोभी के स्वादिष्ट परांठे, मक्खन और दही के साथ खाकर मज़ा आ गया।

''और यह चाय मैंने बनाई है भाई साहब!''

चाय सचमुच अच्छी थी। अजय चाय का शौकीन और अच्छी चाय का कद्रदान था। तुम्हें कहीं ''भई, अजय ये मेरी बेटी तो तुम्हारी बड़ी फैन हो गई है। आजकल श्याम के साथ बाज़ार में मिली होगी। उस दिन से तुम्हारी तारीफ़ करती फिर रही है।'' मेहता साहब चाय भी पीते जा रहे थे।

''वैसे कुछ ख़ास ग़लत भी नहीं कहती।'' मेहता साहब के मुँह से यह बात सुन कर अजय कुछ झेंप-सा गया।

कुछ दिन बाद श्याम को हॉस्टल में शिफ्ट करना पड़ा। उसके पापा की दूसरी जगह ट्रांसफर हो गई थी। परिवार के सब लोग नई जगह चले गए।

अब दो-एक साल से श्याम की कोई खबर नहीं मिली थी। अजय ट्रेनिंग में व्यस्त हो गया, फिर उसकी पोस्टिंग शिमला में हो गई। एक रोज़ शाम को उसका सामना माल पर श्याम से हो गया।

''ओ अजय तू?'' श्याम उसे यूँ अचानक सामने पाकर हैरान हो गया। दोनों तपाक से गले लगकर मिले।

''और तू कहाँ घूम रहा है भाई? कितने साल बाद मिल रहा है?''

''हाँ यार, पाँच साल तो हो गए होंगे।''

और फिर 'नमस्ते भाई साहब' के कोरस के साथ उसने देखा कि श्याम के भाई-बहिन भी साथ थे।

''और तुम? तुम सुमिता हो ना?'' उसने सलवार-कमीज़ वाली सुमि को देखकर कहा,''कुछ ज़्यादा ही बड़ी लग रही है भई!'' पहले वह स्कर्ट-ब्लाउज़ पहनती थी।

''भाई साहब, अब मैं फाईनल ईयर में हूँ।''

''और अजय, तुझे एक मज़ेदार बात बताऊँ? तू तो साइंस स्टुडैंट होकर शौकिया फिलासफ़र था, सुमि तो सचमुच की फिलासफ़र बन गई है। इसने तो सब्जैक्ट ही फिलासफ़ी चुना है।''

''ओह वेरी गुड, देट इज़ ग्रेट।'' अजय के स्वर में प्रशंसा का भाव था। अजय के मुँह से यह सुनकर सुमि को लगा जैसे किसी प्रपात की ठंडी बौछार ने उसके तन-मन को भिगोकर रख दिया। सुमि के लिए यह तमगे जैसा था। औरों से हटकर कुछ अलग। दरअसल लॉजिक और मनोविज्ञान पढ़नेवालों को लोग थोड़ा पागल या झक्की समझते हैं।

''और अजय भाई साहब, अब मैं भी कुछ-कुछ वैसी ही बुक्स पढ़ने लगी हूँ जैसी आप पढ़ते हैं। उसके स्वर की उत्तेजना में विश्वास के साथ अनुमोदन की अपेक्षा भी थी।

''मैं आपके घर आकर एक दिन आपकी पर्सनल लायब्रेरी देखूँगी।''

''एनी डे, माय डियर यंग लेडी। यू आर मोस्ट वेलकम।''

''आय एम रियली फलैट्रड, पर भाई साहब, यू मस्ट काल मी सुमि।''

''ओ.के.! ओ.के., आज से मैं तुम्हें सुमि ही कहूँगा।''

छोटे भाई-बहिन माल का चक्कर लगाने चले गए थे। सुमि, श्याम और अजय देर तक कॉफी हॉउस में बैठे रहे।

वे लोग जितने दिन वहाँ रहे, श्याम और अजय हर रोज़ मिलते रहे। सुमि वगैरह

भी प्रायः साथ होते। दो-एक दफ़ा तो अजय उन्हें छोड़ने भी गया। रास्ते में एक छोटा-सा कब्रिस्तान था। ईसाई कब्रिस्तान उसे हमेशा ही आकर्षित करते थे। कब्रों पर खुदे कुछ ही शब्दों में उसे जीवन की पूरी कहानी नज़र आती थी। एक बार उसने और श्याम ने एक पुराने रॉलीफ्लेक्स कैमरे से वहाँ की पृष्ठभूमि में कुछ अद्‌भुत चित्र खींचे थे। वे अभी तक सम्भाल कर रखे हुए हैं।

उसी साल सुमि ने युनिवर्सिटी में दाखिला ले लिया। यहीं से पत्र-व्यवहार का सिलसिला जारी हुआ जो आज तक क़ायम है।

''अजय भाई साहब?'' महीने में चार-पाँच बार तो सुमि का टेलीफोन आ ही जाता। गर्ल्स हॉस्टल में एस.टी.डी. पी.सी.ओ. था।

''मैंने सोचा, पढ़ाई शुरू करने से पहले भाई साहब से बात ही कर लूँ।''

यह रात के दस बजे के बाद ही होता। बातचीत भी लम्बी होती।

पत्रों का संसार अलग था। उसमें व्यक्तिगत, समष्टिगत, लौकिक, पारलौकिक, सभी प्रकार की शाश्वत चिन्ताएँ थीं। सीधे-सादे से दिखने वाले जीवन के आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक और वैज्ञानिक प्रश्नों से जूझते हुए उनके सम्भावित उत्तर और समाधान खोजना।

सुमि गर्मियों की छुट्टियों में आती अपने चाचा के घर। उसका अधिकांश समय अजय के साथ ही गुज़रता। दिन का खाना साथ होता। अपनी अनुपस्थिति में घर की व्यवस्था बिगड़ जाने, श्याम भाई साहब का उदासीन स्वभाग, और सबसे बढ़कर पापा की चिन्ता उसे खास रहती। सुमि और पापा व्यावहारिक न होने के लिए भले ही श्याम को ग़लत ठहरायें, किन्तु श्याम का सोचना कुछ और ही था।

''आप मुझे मत टोकें। मैं आपको नहीं रोकता।'' होटल के कमरे के बाहर टंगे 'प्लीज़ डू नॉट डिस्टर्ब' के टैग की तरह।

सुमि, अजय के साथ ख़ुब घुली-मिली है। वय के अन्तर के बावजूद आत्मीयता दो घनिष्ठ मित्रों जैसी। एक ऐसी बौद्धिक मैत्री जिसे परिभाषा की सीमा में नहीं बांधा जा सकता। आम समझ से परे एक अनाम रिश्ता।

मिलते तो गले लगकर। बातचीत के दौरान आवेश के अनेक क्षणों में एक-दूसरे के हाथ थाम लेना सामान्य था। पगडण्डियों में हाथ थामे चलते। सुमि उद्विग्न होती तो अजय ने कितनी ही बार उसे कन्धे से लगाकर उसकी पीठ, गालों और बालों को थपथपाया था। किन्तु ऐसी नज़दीकियों से दो युवा शरीरों में पैदा होने वाली आग कभी नहीं भड़की। इस साहचर्य में शरीर की भूख नहीं थी। अजय ने सुमि को कभी प्रेमिका की तरह देखा, सोचा ही नहीं।

प्रेम करने वाले तो सृष्टि के तमाम प्रश्नों के उत्तर शारिरिक आकर्षण के इन्द्रजाल में बुनने की इच्छा रखते हैं। उनकी नियति एक-दूसरे को पा लेने में ही है। अपने प्रेम की पराकाष्ठा के सत्य में, जगत् के सत्य को उद्‌घाटित कर लेने की चेष्टा।

और अजय को ऐसा ही प्यार हो गया। अगली बार सुमि जब अजय को मिली तो अजय के साथ सुनीता थी। यह संयोग ही था कि कॉलिज में उसकी सीनिअर थी। दोनों में 'हाय, हैलो' थी, पर कुछ ख़ास लगाव नहीं। सुमि उसे एक नकचढ़ी लड़की के रूप में जानती थी। अंग्रेज़ी में आप कह सकते हैं, शी हैड एन ऐटीट्यूड। अर्थात् आचार, व्यवहार और

भावभंगिमा में हल्का-सा नखरा। यह स्वाभाविक था, वह बांकी जो थी। तभी तो अजय के सभी परिचित माल पर उसे कुछ अधिक ही बुलाने लगे थे।

"अच्छा तो इस सुनीता पर भाई साहब का दिल आ गया है। यह खुद भी तो कैसे भाई साहब के ऊपर गिरने-पड़ने को हो रही है।"

अजय को अचानक लगने लगा कि सुनीता उसके खालीपन को भर देगी कि उसका जीवन बिखरा हुआ था और वह उसे समेटने आई थी। उसके भटकाव को दिशा मिल जाएगी। अनुनय के गहरे क्षणों में जब वह सुनीता का हाथ थाम लेता तो शारीरिक आकर्षण का कम्पन्न उसे भीतर तक तरंगित कर देता। यह सुमि के हाथों को थामने से दूसरे ही प्रकार का साहचर्य सुख था। दोनों के साथ लम्बी सैर पर निकल जाने की कामना! देवदार, बान, ब्रास (बुरांश) की हरियाली धूप-छाँव ही पगडण्डियों में हाथों में हाथ थाम कर घूमने और ढेर सारी बातें करने की इच्छा व चीड़ वन की महक से साँसों को सराबोर कर लेने की इच्छा। दो युवा स्त्रियों के सान्निध्य और स्पर्श में कितनी भिन्नता?

किन्तु अन्तर तो था। सुनीता के साहचर्य की इच्छा में देह का आकर्षण था। उसके बालों, आँखों, वक्ष और गालों को छूने की बलबती इच्छा थी। उसके रसीले अधरों को देख 'प्रिया मुखम् किं पुरुषश्च चुम्बे' कुमारसंभव की यह उक्ति सहज ही स्मरण हो आती और उसे बाँहों में भर लेने को मन करता। उसे छूने में जहाँ टेलीफोन के नंगे तार को स्पर्श कर लेने जैसा विद्युत-प्रवाह शरीर में दौड़ जाता, वहीं सुमि को छूना एक मन्थर आवेग-भर था।

जहाँ देह का आकर्षण होता है वहाँ अपेक्षाएँ भी अधिक होती हैं, एक स्वत्व की, आधिपत्य की भावना होती है। इसीलिए गिले-शिकवे भी अधिक होते हैं। रूठना, मनाना उससे भी ज़्यादा। सुनीता के सम्बन्धों की यही इंटेसिटी (प्रबल तीव्रता) अजय को अशान्त कर देती। ऐसे क्षणों में उसका सहारा होती सुमि। उसी के साथ तो वह अपने सुख-दुःख बाँट सकता था। किन्तु सुनीता को लेकर सुमि थोड़ा सतर्क थी। उसकी प्रतिक्रिया तटस्थ और निर्लिप्त-सी होती।

इस प्रबल और प्रचण्ड प्रेम प्रसंग के दो वर्ष बाद अजय का विवाह हो गया। अजी नहीं, सुनीता के साथ नहीं। अजय के प्रेम प्रसंग का अन्त तो एक टीस-भरी प्रेम कहानी की तरह दुःखद ही हुआ था। अजय की पत्नी तो कुशलता से घर सम्भालनेवाली एक नितान्त घरेलू किस्म की लड़की थी। सुमि अब भी अजय को अपने दिल के बहुत करीब समझती थी। अजय भी। दोनों उसी प्रकार मिलते, पत्र-व्यवहार करते। अजय पत्नी को लेकर सुमि और श्याम के घर गया तो सुमि भी दो-एक बार चाय अथवा लंच के लिए अजय के घर आ चुकी थी। वह अजय की पत्नी की सुघड़ता की कायल थी और स्वभाव की सरलता के कारण उसकी अजय की पत्नी से मैत्री भी हो गई। किन्तु अजय की गृहस्थी के कारण सम्बन्धों में अन्तर तो आ ही गया था। पहाड़ी सड़क पर तेजी से भागती बस में अचानक चढ़ाई आ जाने से गियर बदलने के कारण गति और ध्वनि दोनों का सुर बदल जाता है। कुछ उसी तरह यह पहाड़ी सफ़र बहुत लम्बा चलनेवाला था और गति का बदला हुआ स्वर भी।

यह सम्बंध सामान्य अर्थों में स्त्री-पुरुष के बीच पनपनेवाला सम्बन्ध नहीं था। यह तथाकथित अव्यावहारिक प्रेम से कुछ बढ़कर था। मानव समाज द्वारा निर्धारित वर्जनाओं से

परे। एक वयस्क स्त्री-पुरुष की निर्दोष और प्रगाढ़ मैत्री। एक नैसर्गिक, निर्बाध सम्बन्ध, जिसमें सम्पूर्ण उन्मुक्तता तो है, किन्तु उच्छृंखलता नहीं।

सुमि थी ही ऐसी। मुक्ति की चेतना उसके भीतर ही नहीं थी, उसकी सुगंध तो उसके चारों ओर के वातावरण को आविष्ट कर देती थी। उस चेतना को लेकर उसके भीतर गहरे दायित्व का बोध भी था। यही उसके निःस्वार्थ आचार-व्यवहार में झलकता था। यहाँ स्त्री और पुरुष का बोध और प्रतीति से कुछ भेद नहीं था। कहते हैं कुछ आदिम समाजों में वयस्क कन्याओं की अपने कबीले के वयस्क पुरुषों के साथ मैत्री इसी प्रकार की होती है। यदि उसे पति स्वीकार कर लिया तो शारीरिक सम्बंध स्थापित किया जा सकता है अथवा यह मैत्रे और भी घनीभूत होकर सख्य भाव के साथ एक स्थायी और चिरन्तन मैत्री के रूप में आजीवन बनी रह सकती है। इस सम्बन्ध में एक निष्पाप अन्तरंगता का भाव होता है। सम्बन्ध की गहनता का आभास इसी बात से मिल सकता है कि आप अपने भीतर दूसरे व्यक्ति के साथ शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करने की इच्छा न रखते हुए भी उस व्यक्ति पर अपना पूरा अधिकार समझते हैं। यह प्रगाढ़ आसक्ति भाव इंद्रियजनित आकर्षण के विपरीत उससे बहुत ऊँचा है। सस्ती भावुकता के कीचड़ में धँसे बिना जहाँ गिले-शिकवों की कोई गुंजाइश नहीं। आप अपनी बात आग्रहपूर्वक मनवाते हैं और उसी सहजता से दूसरे की बात मान भी जाते हैं।

शारीरिक सम्बन्ध की इच्छा के अभाव में यह आसक्ति कृष्ण और द्रौपदी के सम्बन्ध ा की तरह पवित्र और अविछिन्न होती है। यहाँ रोष भी है, मान भी और अपने सम्बंध ा का अभिमान भी। तभी तो सुमि और अजय एक-दूसरे के बारे में बात करते न अघाते थे, न लज्जाते थे। इस सम्बंध में कुछ भी गोपनीय नहीं था। जहाँ मैत्री के आग्रह में आकांक्षा नहीं है, जहाँ बिछुड़ने का भय आपको विषाद व ग्लानि से नहीं भर देता। बिछुड़ जाने पर आपको उदास करके आपके जीवन को अवसाद से घिर जाने के लिए नहीं छोड़ देता।

सुनीता के प्रति प्रबल आकर्षण के कारण ही तो उससे बिछुड़ना अजय के लिए जीवन में असफल होने के समान था। सुमि के सान्निध्य में निराशा के ये बादल तुरन्त छंट जाते थे। मन का आकाश निरभ्र होकर चहचहाते पक्षियों के कलरव से भर जाता था। झूमने और गाने लगता था।

सुमि के जीवन में भी प्रेम के क्षण आए थे। जिसकी कामना आप किसी युवा स्त्री में कर सकते हैं; रूप, गुण, बौद्धिक स्तर, शालीनता, आभिजात्य, सभी कुछ तो उसमें था। दो एक प्रसंगों को तो अजय भी जानता था।

''अजय भाई साहब!'' एक दिन वह अपनी आवाज़ के संगीत से तरंगित करती-सी उसके सामने आ खड़ी हुई। फिर साथ आए युवक को लक्ष्य करके बोली, ''सिद्धार्थ, ये अजय भाई साहब हैं, जिनके बारे में मैंने तुम्हें बताया था।''

बताया था? सिद्धार्थ, मध्यम कद का एक स्वस्थ और आकर्षक-सा दिखने वाला युवक था।

''भाई साहब, यह सिद्धार्थ है, मेरे पापा के फ्रेंड का बेटा। ये लोग दिल्ली में रहते हैं।'' सुमि ने संक्षिप्त-सा परिचय करवाया था।

सिद्धार्थ आई.ए.एस. ट्रेनी होने के नाते अपनी ट्रेनिंग का कुछ भाग शिमला के

निकट फेयरलॉन स्थित प्रशासनिक प्रशिक्षण संस्थान में करने वाला था। आज ज्वायन करने के बाद दो दिनों का अवकाश था और वह सुमि के साथ उसके घर जा रहा था।

अजय को सिद्धार्थ के व्यवहार से लगा था कि वह शायद सुमि को पसन्द करने लगा है।

तभी सिद्धार्थ ने पूछ लिया था, ''अभी किसी रेल-कार का समय है क्या?''

अजय थोड़ा चौंका ज़रूर था। रेल-मोटर या रेल-कार रेल की पटरी पर दौड़ने वाली किसी बस की तरह ही दिखाई देती है। कालका-शिमला रेल-मार्ग पर चलने वाली इस कार में नेरोगेज़ की गाड़ी की अपेक्षा कम समय लगता है, कुल साढ़े चार घण्टे। अधिकांश लोग तो बस से जाते हैं रेलकार में डाक भी जाती, सवारियाँ इक्का-दुक्का ही। अंग्रेज़ों के ज़माने में इसे वायसराय और अन्य विशिष्ट व्यक्तियों के लिए चलाया गया था। यह उन्हीं का छोड़ा हुआ एक ऐसा सफ़ेद हाथी है जो कुछ धनी लोगों को अब भी आकर्षित करता है। इसका किराया भी प्रथम श्रेणी से अधिक है जो साधारण किराये से चार गुणा होता है। किन्तु चमड़े से मढ़ी सीटों का आडम्बरपूर्ण ठाठ-बाठ भी तो उसी में रहता है। अजय को सिद्धार्थ का व्यवहार दिखावा ही लगा था। किन्तु जब रेल-कार है तो कुछ लोग उसमें जाएँगे ही।

रेल-कार शाम को साढ़े चार बजे जाती थी। उन्हें दो ही घण्टे लगते। उन्होंने माल का एक चक्कर लगाकर डेविकोज़[1] में चाय पी थी।

क्या वह युवक सुमि को प्यार करने लगा था या उसे खाली इम्प्रेस कर रहा था, या फिर आई.ए.एस. ट्रेनी होने की अपनी विशिष्टता का इज़हार करना चाह रहा था। वैसे सुमि के लिए तो लड़का ठीक ही है- अजय, बस आश्वस्त होना चाहता था।

दूसरे प्रसंग में अजय का ही एक सहकर्मी था। अच्छी नौकरी थी, हर प्रकार से योग्य। उसने कुछ संकोच के साथ सुमि को प्रपोज़ किया था। सुमि को यह प्रस्ताव बिल्कुल नहीं भाया था। उसने इसे भले ही विनम्रता से ठुकरा दिया हो, किन्तु अजय के सामने अपनी असहमति जताते हुए तो वह क्रोध से लगभग दनदना रही थी। उसका भाव कुछ ऐसा था कि मैंने जैसे भाई साहब की वजह से आपका लिहाज कर लिया, वरना आपकी हिम्मत कैसे हुई मुझसे ऐसी बात कहने की? अगले दिन अजय के सहयोगी मित्र ने कुछ खिसियानी-सी हँसी हँस कर इस बात का ज़िक्र किया था। अब यही लड़का दिल्ली में बड़ा अधिकारी है।

ये तो पुरानी बातें हैं। पिछली दफ़ा सुमि को कब मिला था? सात-आठ साल हो गए। मेहता साहब के गुज़र जाने के एक मास बाद ही अजय पत्नी के साथ जा पाया था। श्याम तो पिता की मृत्यु से हतप्रभ हो गया था, कुछ अधिक परेशान। ऐसे में सुमि की ज़िम्मेवारियाँ और बढ़ गई थीं। सम्पूर्ण परिवार को संभालने से लेकर आने-जाने वालों को संभालने तक। उसकी आँखों में आँसू नहीं थे। पापा की मृत्यु से विदीर्ण उसके हृदय में शोक का भीषण अन्धड़ भले ही उसके भीतर के सूखे नरकुल झुण्ड को खड़खड़ा रहा हो, किन्तु बाहर से वह शान्त थी। उसका धैर्य स्तब्धकारी था। वह बहुत कुछ कहना चाहती थी, किन्तु अजय उसके संक्षिप्त संवाद से ही सब कुछ समझ गया था। वह कुछ न भी कहती तो अजय समझ ही जाता।

उसके बाद के किसी पत्र में उसने लिखा था, ''भाई साहब, मुझे लगता है कि मुझे पापा के अधूरे काम को पूरा करना है।'' अब उससे कोई पूछता, ''अरी पगली, बेटियाँ कुंवारी

रह जाएँ, यह भी तो पापा का अधूरा काम है।"

सुमि दूसरे कामों में उलझ कर रह गईं उसके सर पर परिवार के अन्य सदस्यों का बोझ आ गया। आ गया क्या, उसने ले लिया। अब वह अलग रहती थी। पापा ने अपने जीते ही साथ वाला दो बेडरूम का फ्लैट उसे लेकर दे दिया था। उसने उसे अपने हिसाब से सुरुचिपूर्वक पुनर्नियोजित और सज्जित किया था। अब पापा के बाद परिवार से उलझाव फिर बढ़ गया। वही पुराना दुश्चक्र। सुमि परफ़ेक्शनिस्ट थी, किसी का तौर-तरीक़ा पसन्द नहीं था। आप स्वयं दक्ष हैं तो सामने वाला तो नहीं। फिर सभी में निपुणता की अपेक्षा क्यों करती हैं? आदत से मजबूर होना और क्या है? श्याम भाई शुरू के अन्यमनस्क हैं। भाभियाँ मूँह पर तो चुप ही रहती हैं। भतीजे-भतीजियाँ असावधान हैं। उनकी उम्र है भई! और फिर सबको आरामपरस्ती की आदत तो पहले से है। आदर्शवादी और सेंटीमेंटल होकर सभी काम तो नहीं चलते? अब तो सुमि को कभी-कभार अपनी गाड़ी में छोटे बच्चों को स्कूल छोड़ना और वहाँ से लाना भी पड़ जाता है। क्योंकि सभी व्यस्त हैं और तुम तो सुमि दीदी प्लीज़ थोड़ा-सा टाईम निकाल ही सकती हो। अब तुम परेशान होने लगी हो। इस सबका पुरस्कार तो यही है। तुम्हारी सेवा का यही फल है। फल पाओ, यानी भुगतो।

अजय की नौकरी उसे दिल्ली ले आई। शिमला छूट गया। यहाँ की स्मृतियाँ उसके मन के किसी कोने में घने कोहरे में खोई किसी सुरम्य घाटी की तरह हैं। जैसे किसी स्वादिष्ट और उत्कृष्ट खाद्य को डीप फ्रीज़र में प्रिज़र्व (संरक्षित) करके रख दिया और खाने पर प्रतिबन्धित हो। किन्तु आज भी वहाँ के बचे-खुचे देवदार-वन की सुवासित मरहमी हवाएँ नथुनों के पास किसी भ्रम की तरह बनी रहती हैं। आत्मा उन पगडण्डियों के लिए बेचैन रहती है।

उसकी किशोरावस्था की वह दिल्ली भी अब वैसी कहाँ है? उन दिनों न तो मेट्रो थी, न फ्लाई-ओवर। आई.एन.ए. सफदरजंग फ्लाई-ओवर शुरू नहीं हुआ था। महरौली जाने वाली सड़क को जहाँ रेलवे लाइन काटती थी, वहाँ एक मानव नियंत्रित फाटक था। पूरी दिल्ली ही एक शान्त क्षेत्र थी। कनॉट-प्लेस में जहाँ स्काई स्क्रेपर हैं, वहीं खाली मैदान में राष्ट्रीय पुस्तक मेला लगता था। टी-हाउस की शामें वीरान हो गईं। इन्हीं दिनों तो नाज़ में तीसरी क़सम देखी थी। एशिया का पहला 70 एम.एम. थियेटर भी अपनी नीली आभा में कैसा दमकता था ! अपने मकबूल फिदा हुसैन इन्हीं दिनों तो मकबूल हुए थे, जब उन्हें अपने चप्पल छाते के लिए गोल्डन बेयर मिला था। कंकर, बबूल और पत्थरों के बीच खोई महरौली, गाँव की किसी अल्हड़ किशोरी की तरह थी, जो अपने रिश्तेदारों के सामने आने में भी शर्माती है। अब तो शोहदे फार्म हॉउसों से घिरी वह महानगर की किसी कालगर्ल की तरह निष्ठुर हो गई है।

जहाँ अंकटाड बिल्डिंग और ऐट स्टोरी सबसे ऊँचे भवन थे, इतने दशकों बाद फ्लाई-ओवरों के जाल में उलझी, स्काई स्क्रेपरों के साये में, अपने इतिहास और फुरसत के रात-दिन तलाश करती, सैकड़ों गुणां बढ़ चुकी, तीव्र गति से अन्धाधुंध भागती कारों के टायरों तले कुचली जाती, अपने अस्तित्व के लिए छटपटाती इस दिल्ली में, अब तो अजय भी हाँपने लगा है।

किन्तु अजय के इस दिल्ली प्रवास का सकारात्मक पहलू भी है। घर आकर साँसों की धौंकनी कुछ सम पर आने लगती है। इसका कुछ तो श्रेय माया एंक्लेव के इस परम शान्त ग्रीन जोन को भी देना चाहिये। यहाँ घर आने पर महानगर का शोर कहीं दूर छूट जाता है

भला हो हमारी सुपरकॉप किरण बेदी का जिनकी बदौलत साथ की दीवार से सटी तिहाड़ जेल से प्रातः आँख खुलते ही 'ऐ मालिक तेरे बन्दे हम' का मधुर गीत सुनाई देता है।

इतना अवश्य है, महानगर की थकान की चट्टान जो तन और मन पर बंधी रहती है, उसका भंजन तो यादों के उसी वन में लौटकर, अभिव्यकित के घण (भारी हथौड़ा) से ही हो पाता है। उसी पाषाण को मृदु-बालुका में परिवर्तित करने का काम अजय ने सुमि को इतने महीनों बाद लिखे इस पत्र में किया है।

अजय के अपने जीवन में विसंगति या दुविधा जैसी कोई बात नहीं है, फिर भी अभाव जैसा कुछ सालता है। अपनी युवावस्था में अजय इन्टेलेक्चुअल और फ़िजिकल कम्पैटेबिलिटी अर्थात् बौद्धिक और शारीरिक अनुकूलता की बात अक्सर किया करता था। क्या उसे वह हासिल हो पाई? मन के मुआफ़िक जिसे कहते हैं, वह सब जीवन में कहाँ मिलता है। क्या साहचर्य में सार्थक संगति है? विसंगति ही प्रायः होती है। जैसे स्त्री को पुरुष की होती है, उसे भी वास्तविक औरत की तलाश थी। अजीब लगता है ना? जीवन में शायद वास्तविक स्त्री-पुरुष जैसा कुछ होता ही नहीं। रिश्तों की यह जो मेड इन हैवन वाली बात है, वे सब रिश्ते तो अरेंजूड या थोपे हुए होते हैं।

अजय का यह पत्र एक अनन्त वार्तालाप की तरह था और उसमें वह बात भी थी, जिसे पढ़कर सुमि इतनी असहज हो गई थी।

"सुमि, वी कुड इवन हैव मैरिड" अजय ने लिखा था। हम शादी भी तो कर सकते थे। सुमि ने फिर पढ़ा।

सुमि के सामने पूरा जीवन तैर गया। अजय भाई साहब उस सुनीता को अचानक कितना चाहने लगे थे। उसे लेकर परेशान भी रहने लगे थे और यह परेशानी उनके पत्रों में साफ़ झलकती थी। सुमि को सुनीता से कोई ईर्ष्या नहीं हुई थी। किन्तु वह सुनीता को लेकर आश्वस्त नहीं थी। एक दिन जब अजय भाई साहब टेलीफोन पर सुनीता को लेकर कुछ ज़्यादा ही अप्सेट हो गए थे, तो सुमि ने केवल इतना कहा था, "चलो ठीक है भाई साहब, आई कैन ओनली विश यु गुड लक।" (मैं आपके सुख की कामना करती हूँ), अर्थात् मैं अब आपको क्या कहूँ? आप खुद मुझसे ज़्यादा समझदार हैं। उस समय अजय को कुछ कहना था भी बेकार, क्योंकि वह सुनीता के प्यार में पूरी तरह डूबा हुआ था।

"भाई साहब, शब्दों की जादूगरी में तो आपका सानी नहीं! मैं तो प्रथम परिचय में ही आपकी क़ायल हो गई थी। जैसे हम प्रागैतिहासिक काल से एक-दूसरे को जानते थे। किन्तु इन सब बातों का अब क्या लाभ? अब तो यह सपने में पाये धन जैसा है। एक ऐसी कल्पना जिसे परिमेय के दायरे में नहीं लाया जा सकता। मात्र एक भ्रान्ति!

सुमि ने एक गहरी साँस ली। कोई पक्षी अन्धड़ में भटक कर किसी गहरी गुफ़ा के अन्धकार में पत्थरों से टकरा कर बेदम हो गया हो और फिर अचानक उसे बाहर का रास्ता मिल जाए। उसके मुँह से निकला, "येस अजय भाई साहब, वी सरटेनूली कुड हैव!" हाँ हम ऐसा कर सकते थे, बल्कि मैं तो यह कहती हूँ कि "वी शुड हैव", काश हम सपनों के उस परा भौतिक संसार से बाहर निकल पाते।

''भाई साहब आपने लिखा है कि इतनी विलक्षण स्त्री के सान्निध्य में होते हुए भी आप भटक गए। आप प्लीज़ हमारे सम्बंधों को ऐसी आलंकारिक भाषा में तो मत बांधें। आप इतना अवश्य कह सकते हैं कि मैं आपकी छोटी बहिन सरीखी गर्ल फ्रेंड हूँ। हाँ, हम उन दिनों विवाह कर सकते थे, किन्तु मैं आपका इतना सम्मान करती हूँ कि अब ऐसा सोच भी नहीं सकती। हमारे सम्बंधों की जो छवि सबके मन में है, उससे इतर किसी भी छवि का आभास किसी को हो, यह मैं नहीं चाहती। आप भी नहीं चाहेंगे। मैं आपकी इस बात से सहमत हूँ कि हम एक-दूसरे के पूरक हो सकते थे। हम एक-दूसरे को शायद दो प्रेमियों से भी अधिक प्यार करते। किन्तु उन दिनों की स्मृति को मैं मन के अंतर्तम में अगोचर ही रखना चाहती हूँ। हमारा यह सम्बंध वेशकीमती है। इसे मैं सन्देह के घेरे में नहीं ला सकती। ऐसा करके मैं इसका अवमूल्यन नहीं कर सकती। मैं अपने रिश्ते को भूले से भी जोखिम में नहीं डाल सकती। यह तो आप भी मानेंगे कि हमें इतना सावधान तो रहना ही चाहिये।''

यही सुमि की असहजता का कारण था।

''आप तो जानते हैं भाई साहब लोगों की सोच कैसी है? श्याम भाई की तो जाने दीजिए। आप और मैं अच्छी तरह समझते हैं उनके मन में शायद अपराधबोध भी होगा। यह बात यदि उन पर उजागर होती है तो वह इस बात को बखूबी समझ लेंगे। शायद कभी उनके मन में भी ऐसी बात आई हो, जैसी आपके मन में आई है, या न भी आई हो। इससे तो उनका अपराधबोध और भी बढ़ जाएगा। किन्तु मुझे तो सभी का ध्यान है। भाभी का, उनके बड़े बच्चों का और छोटे भाई और उसकी पत्नी का भी। ये सब मेरा बहुत सम्मान करते हैं और आपका तो और भी ज़्यादा। मैं नहीं चाहती कि वह मूर्ति खण्डित हो जाए।

''सब अपना-अपना कमाते हैं, किन्तु मुझ पर तो सारे परिवार की जिम्मेवारी है। पापा ने मेरे लिए अनेक सपने देखे होंगे। उनकी पूर्ति तो अब सम्भव नहीं। किन्तु मैं समझती हूँ उनके परिवार को लेकर, उनके अन्य सपनों को पूरा करने का भार मेरे कन्धों पर है।

''भाई साहब! मैं लॉजिक पढ़ाती हूँ, किन्तु यह भी जानती हूँ कि वास्तविक जीवन के अनुभव और मनोविश्लेषण के सिद्धान्त एक-दूसरे से टकराते हैं। आपको याद है? आप एक बार मुझे अपने साथ गेटी थियेटर में एक कवि सम्मेलन में ले गए थे। वहाँ मुझे आपके कवि मित्र का गीत अभी तक याद है, ''उम्र की कैद में मन हुआ बावरा, मौत थी ज़िदगी के बरक्स। जैसे टूटे हुए दर्पणों में कहीं, ढूँढता हो कोई अपना अक्स''[१]। यह कुछ उसी प्रकार का विरोधाभास है। काश, जीवन की सभी जटिलताओं को मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से हल किया जा सकता। किन्तु इस अवचेतन का क्या करूँ? इसका संसार तो सपने के संसार से भी अधिक अबूझ व जटिल है। मेरे लॉजिक की सीमाओं से बहुत परे।

''मेरा जीवन एक कम्फर्टेबल मनॉटनी बनकर रह गया है। एक सुखद एकरसता! उसमें सुखद कुछ नहीं है, बस नीरसता और ऊबाउपन है। कहने को तो मेरा एक अलग अपार्टमंट है, किन्तु मेरा तो सचमुच कुछ भी नहीं। मेरा समय भी नहीं, जिसका उपयोग में संचित निधि की तरह करना चाहती हूँ।

''मैने कहीं पढ़ा था कि स्त्री हमेशा भावना में जीती है और पुरुष सदा प्रयोजन के बोध से। भावना अपने आप में एक अन्त है, स्त्री के लिए यह एक अकथनीय सत्य है, किन्तु पुरुष के लिए नहीं। स्त्री यदि पुरुष की इस प्रवृत्ति को नहीं समझ सकती, तो पुरुष भी स्त्री

की भावना की शुचिता को नहीं जान पाता। प्रत्येक, एक-दूसरे का खेल खेलेगा, किन्तु वे अलग बने रहेंगे। स्त्री और पुरुष का सम्पूर्ण समग्र वस्तुतः भिन्न होता है। परस्पर भिन्न होने के कारण उनकी अंतरंगता का परिणाम यह होगा कि वे अपनी पुरुष और नारी अक्षतता को खो देंगे। इस प्रकार वे भविष्य की निधि खो देते हैं। वह जादू और ऊर्जा तो अन्य भाव में है।[3] अब जब वह तिलिस्म ही टूट गया, तो भाई साहब, अब सम्भावनाओं पर बात करना भी उतना ही बेमानी है।''

सुमि को अचानक लगा कि यह छोटा-सा पहाड़ी शहर बहुत वीरान हो गया है। अपने-अपने अभिशप्त जीवन के सूनेपन को अपनी यादों में अजय के साथ एक-एक कदम नापते हुए सुमि तन्द्रा में चली गई। यह जीवन के ऊबाउपन का बोझ था अथवा यादों को इतना गहरा जी लेने की थकान?

पसीने से तरबतर सुमि हड़बड़ा कर उठी। उसकी गर्दन पर सैकड़ों चींटियाँ रेंग रही थी। पसीने को रूमाल से रगड़ कर पोंछा। केकड़े के दांत और पंजे छुड़ाकर दूर छिटक दिया।

पूरी तरह जागृत, वर्तमान में लौटी सुमि का मन भारी हो गया। जैसे कोहरे के साथ उतरती नमी वातावरण को भारी बना देती है। घुमड़ता बादल गहरा होकर पलकों पर उतर आया। उन बूँदों को उसने गालों पर बहने दिया।

दक्षिण की तरफ़ चीड़ का जंगल एक नीली हरीतिमा में नहा गया था। क्षितिज पर फैले विशाल सिंदूरी आवृत में पक्षियों के झुण्ड तेज़ी से लौट रहे थे। खुली खिड़की के काँच से परावर्तित प्रकाश ने उसके चेहरे को पिघले सोने की आभा से रूपायित कर दिया। उसके बिना तेल के, अपेक्षाकृत रूखे बालों में अनगिनत इन्द्रधनुष झिलमिला रहे थे। उसका सम्पूर्ण मुखमण्डल एक सम्मोहक प्रभामण्डल से बलयित हो गया।

सुमि ने फिर से गहरी साँस ली। कुर्सी पर एक टांग पर दूसरी टांग रखकर इतनी देर तक बैठने के कारण उसकी टांग सो गई थी। उसने उसे बड़ी मुश्किल से उतार कर सीधा किया। टांग अभी भी सुन्न थी। वह कुछ देर मेज़ का किनारा थामे खड़ी रही, फिर फ़र्श पर धीरे-धीरे क़दम रखती हुई सुमि ने पत्र को मोड़कर अपने सूटकेस के सबसे नीचे काग़ज़ों की तहों में छिपा कर रख दिया।

---

1. उन दिनों के शिमला का एक मशहूर रेस्त्रां
2. श्रीनिवास श्रीकांत के एक गीत से
3. D.H. Lawrence– 'The Birth of Sex'

[20, आसा सिंह बाग, नारायण गढ़ रोड, अम्बाला शहर, हरियाणा-134007]

बचपन का दोस्त

❑ महाराज कृष्ण काव

यादव ने अपने दोनों पैर सोफे पर चढ़ा लिए हैं। वह जानबूझ कर आज कुर्ते-पाजामें में है। उसके ऊपर अपनी सबसे पुरानी बाहोंवाली डार्क ग्रे स्वेटर पहने है। वह नहीं चाहता कि शर्मा किसी भी तरह महसूस करे कि वह बदल गया है।

पच्चीस साल में कोई बदल भी जाए तो अचम्भा नहीं। मगर जब दो नौजवानों की शुरुआत लगभग एक जैसी हो और अंत बिल्कुल बेमेल तो बात पेचीदा हो जाती है। आज वह एस.के. यादव, आई.ए.एस., उपाध्यक्ष, डी.डी.ए. है और उसका बचपन का दोस्त शर्मा केन्द्रीय सचिवालय से सेक्शन ऑफिसर रिटायर हुआ है।

''क्या पियोगे?'', वह गहरी आत्मीयता से पूछता है। शर्मा से उसे कोई ख़तरा नहीं है। वह उसका पद छीनने की जोड़-तोड़ नहीं कर सकता। वह मंत्री जी की थोड़ी ज़्यादा चमचागीरी करके उसे डी.डी.ए. से हिला नहीं सकता। बेचारे का कोई छोटा-मोटा काम होगा। उसके बस में होगा तो कर देगा या किसी को फोन करना हो तो वह भी कर देगा। इसलिए वह निश्चिन्त है। वह शर्मा के साथ दो-तीन घंटे गप्प मारने के मूड में है।

''कुछ नहीं, किशू'', शर्मा थोड़ा झिझककर 'किशू' कहता है।

यादव अब बड़ा आदमी हो गया है। वह उसे पच्चीस साल बाद मिल रहा है। ज़रूरी तो नहीं कि वह अंदर ही अंदर वही किशू हो। ज़्यादातर लोग बड़े हो जाते हैं तो उनका दिल छोटा हो जाता है। उनमें अपने इलावा और किसी के लिए जगह नहीं रहती। क्या यादव के साथ ऐसा हुआ है? शायद नहीं। अन्यथा वह इतने तपाक से गले न मिलता। उसे एकदम न पहचानता। इतनी इज्ज़त के साथ उसे ड्राईंगरूम में न ले जाता। इसलिए शर्मा की हिम्मत हुई है कि उसे उन दिनों के उपनाम से पुकारे।

इस पर भी शर्मा चौकन्ना है। वह यादव के चेहरे पर 'किशू' 'किशू' की प्रतिक्रिया भाँप रहा है। उसे लगता है कि यादव ने यह वार सह लिया। उसको अटपटा लगा होगा कि कोई उसे इतने अपनेपन के साथ पुकारे, मगर उसके अहम का नागफन उठाकर फुफकार नहीं रहा।

''सुदी, तुमने मुझे 'किशू' पुकारा तो अच्छा लगा। तुम्हें मालूम है हमारी सर्विस की असली ट्रैजिडी क्या है? यही, कोई किसी का दोस्त नहीं। आपस में अंतरंगता नहीं।''

सहसा यादव की नज़र एक डिब्बे पर पड़ती है। शर्मा ने आते वक्त उसे काले शीशे की मेज़ पर चुपचाप रख दिया था। वह जानता है कि मिठाई का आधा किलो जो उसने अपने विकासपुरी के हलवाई से लिया है, यादव के स्टैंडर्ड का नहीं। अव्वल तो उसे लोग शिवास रीगल या पीटर स्कॉट से कम क्या देते होंगे। बहुत ही घटिया आदमी हुआ तो ड्राई फ्रूट या काजू की बर्फ़ी देता होगा। उसकी तरह सस्ती मिठाई...। यादव ने डिब्बा खोल लिया है। ''अरे। बूँदी के लड्डू।'' वह देखकर हर्ष से चिल्लाता है—''तुम्हें मालूम है सुदी, मुझे कितने अच्छे लगते

थे। बहुत दिनों में खाने को मिले हैं। अरे, रुक्मिणी!...''

जवाब जल्दी में या आसानी से नहीं आता। रुक्मिणी शायद उसकी पत्नी या बेटी का नाम होगा। या शायद नौकरानी का, शर्मा ने सोचा। जवाब नहीं आता। यादव उसी ललक में एक लड्डू उठाकर अपने मुँह में रख लेता है। ''वाह! क्या बढ़िया लड्डू है।'' वह बड़े प्यार से शर्मा की ओर देखता है। शर्मा उसे लड्डू खाते देख खुश होता है। अगर यादव नाटक नहीं कर रहा और वाकई लड्डू को पसन्द कर रहा है, तभी...पर्दा हिलता है। महिला अन्दर आती है। उड़ती हुई नज़र से शर्मा को देखती है। उस झलक में उसे सब पता चल जाता है—शर्मा के रेडीमेड पैंट की कीमत, जूते की उड़ी हुई रंगत, बीवी द्वारा बुने स्वेटर का अटपटापन, स्कूल-कॉलेज का नाम, परिवार का रुतवा—सबकुछ।

शर्मा को वह फैशनेबल काले कपड़ों में लैस एक चौबीस-पच्चीस साल की युवती दिखती है। वह उठकर नमस्कार करता है।

''कौन? बेटी हैं?'' थोड़ा हकलाकर पूछता है।

हँसी का फव्वारा। महिला तो हँसती ही है, यादव भी हो-होकर निढाल हो जाता है। क्या ग़लती हो गई? कहीं यह नौकरानी तो नहीं? वह क्या बेवकूफी कर बैठा?

शर्मा को भौंचक्का देख यादव अपनी हँसी रोकता है। ''कुछ नहीं। कोई बात नहीं। यह मिसेज़ यादव हैं। अपनी उम्र से यंगर दीखती हैं।'' वह पत्नी की ओर प्रशंसात्मक भाव से देखता है। ''रुक्मिणी! यह लड्डू तो चखकर देखो...।''

रुक्मिणी लड्डू का नाम सुनकर चिढ़ ही जाती है। उसे अपनी फिगर का ज़्यादा ध्यान है। फिर भी, पति की बात रखने के लिए वह एक लड्डू में से ज़रा-सा टुकड़ा तोड़कर मुँह की तरफ ले जाती है। उसकी घ्राणशक्ति इतनी प्रबल है कि मुँह तक पहुँचते लड्डू की मुश्क सूँघकर ही वह सब समझ लेती है। सरसों के तेल में बने हैं। तेल भी कच्चा है। क्या बास आ रही है। दिल करता है उल्टी कर दे। मगर शर्मा के सामने कुछ कहना तहज़ीब नहीं होगी। मुँह के पास हाथ ले जाते हुए वह उस टुकड़े के बहुत महीन रेशे कर देती है। मुँह में एक ज़र्रा ही जाता है। मगर वह एक सिद्धहस्त अभिनेत्री-सी मुँह चलाती है।

मन में कड़ुवाहट है, वह मुस्करा रही है। क्या जाने कोई ठेकेदार हो। नहीं, कोई ग़रीब रिश्तेदार या मुरीद नज़र आता है। किसी काम से आया होगा। हुँह! मुझे क्या?

''यह शर्मा है, मेरा दोस्त। हमारी शादी से पहले का दोस्त।'' यादव परिचय कराता है।

''माफ करना, भाभी'', शर्मा हकलाकर कहता है, ''आपकी शादी पर न आ सका।''

भाभी कहता है, ऐसी जुर्रत! रुक्मिणी मुस्कराती है। एस.के. को अच्छा नहीं लगता अगर उसके बचपन के दोस्तों के साथ सही बर्ताव न किया जाए। इससे पहले कि स्थिति उसकी बर्दाश्त से बाहर हो जाए, वह मिठाई का डिब्बा मेज़ से उठाकर कहती है, ''इनसे आपका ज़िक्र सुना है'', शर्मा सुनकर फूल हो जाता है, ''इनको मिठाई खाने को डाक्टर ने मना किया है'', और वह अंदर चली जाती है।

''क्या बात है, किशु? डाक्टर ने क्या कहा है?'' शर्मा घबराकर पूछता है। उसे डाएबिटीज़ का शक हो उठता है।

यादव को रुक्मिणी की आदत मालूम है। शर्मा के जाने के बाद उसे लेक्चर सुनना पड़ेगा—''पता नहीं कहाँ-कहाँ से लोग कचरा उठा लाते हैं। हाज़मा वैसे ही कितना नाज़ुक

है।'' शर्मा उसकी ओर देख रहा है। ''कुछ नहीं, यार! कोई बीमारी नहीं है। दरअस्ल, आई हैव अ स्वीट टुथ। मीठी चीज़ खाने से अपने को रोक नहीं पाता। इसलिए... ।''

रुक्मिणी ने कुछ कहा नहीं, मगर न कहकर भी शर्मा को लगा कि कहीं बातचीत में रुकावट आ गई है। हो सकता है वह बड़े घर की बेटी हो और उसे शर्मा का यों रविवार को आ धमकना पसन्द न आया हो। नहीं, नहीं, ऐसा कुछ भी नहीं। शर्मा की अपनी हीन-भावना ही उसे खाए जा रही है।

यादव बातचीत का ज़ायका बदलने की नीयत से कहता है, ''अच्छा, घर में कौन-कौन है?'' उसका ख्याल है कि शर्मा रिटायर हो गया है तो बच्चे सैटल हो गए होंगे।

शर्मा दाहिना हाथ अपनी गर्दन पर रखकर खुजलाता है। कुछ हकलाकर कहता है, ''एक बेटा है, अठारह साल का, अभी बी.कॉम. फर्स्ट ईयर में पढ़ रहा है। फिर चार बेटियाँ हैं, एक ग्यारहवीं में, दूसरी नौंवी, तीसरी पाँचवीं और चौथी भी पाँचवीं में... ।''

यादव उसकी तरफ देखता रह जाता है। पाँच बच्चे! बड़ा अभी सिर्फ अठारह का। यह कैसा प्राणी है? किस शताब्दी का? और अब करेगा क्या? रिटायर हो गया है। पेंशन कितनी होगी? और क्या आमदनी होगी? बीबी तो काम नहीं करती होगी। सारे बच्चे पढ़ रहे हैं। उनका खर्चा। फिर उनकी शादियाँ होंगी। चार बेटियों की शादियाँ!

''मगर तुम्हारे बच्चे इतने छोटे क्यों हैं? शादी तो हो गई थी।'' वह पूछता है। शर्मा अब पीठ खुजला रहा है। उसका स्वर और भी धीमा हो जाता है। ''किशु, शुरु-शुरु में हमारे बच्चे नहीं हुए थे। मेरे में ही कुछ कमज़ोरी थी। बाद में ऑपरेशन करना पड़ा। फिर बेटा हुआ। शादी के आठ साल बाद।''

''हाँ, मगर फेमिली प्लानिंग तो हमारी पीढ़ी में सबने की है। पहला बेटा था। फिर चार बेटियों को पैदा करने की क्या ज़रुरत थी?'' यादव को शर्मा पर खीज होने लगी है।

शर्मा कुछ अचकचा, कुछ घबरा रहा है। उसे समझ नहीं आ रहा है वह अपनी स्थिति कैसे बयान करे। किशू उससे नाराज़ है, यह अच्छा नहीं हुआ ना, अब उसका काम नहीं होगा।

''वह क्या हुआ, किशु, लड़का तो पहले हुआ था ना, मगर उसे पोलियो हो गया था। शायद डिस्पेंसरी की दवाई पुरानी थी। काफी देर उसकी टाँगों का इलाज करते रहे। उसी चक्कर में... ।'' उसके लिए पूरी बात करना असम्भव है।

यादव समझने की कोशिश कर रहा है। ''मतलब बेटा बीमार था। इसलिए तुम एक और बेटा चाहते थे। यही करते-करते चार लड़कियाँ... उसे गुस्सा आ रहा है, ''फिर रुक क्यों गए? चार ही क्यों, सात क्यों नहीं...?''

ऐसे दर्जनों परिवार हैं। यादव को स्वयं यह समस्या नहीं देखनी पड़ी। शायद इसलिए वह दूसरे लोगों की मनोवृत्ति नहीं पहचान पा रहा। वह सोचता है, वह कितना भाग्यशाली है। बच्चे हुए तो बातरतीब—बड़ी लड़की, छोटा लड़का, दोनों स्वस्थ। बीवी समझदार जो उसके आधा दर्जन बच्चों के अर्धहास्यपूर्ण प्रस्ताव से सहमत न हुई। वरना वह भी दो साल के किसी बच्चे की नाक साफ कर रहा होता। इतनी खुशकिस्मती कि नज़र लगने का डर!

शर्मा बेबस-सा उसकी ओर देख रहा है। मैं बेवकूफ हूँ, इसीलिए तो ग़रीब हूँ, इतने बड़े परिवार के बोझ तले दबा हूँ, तुम्हारे पास हाथ फैलाने आया हूँ। यादव अपने को कुछ कहने से बरबस रोक लेता है।

"अच्छा, तो अब क्या प्रोग्राम है। कहीं मकान-वकान है क्या?" वह बातचीत का रुख बदल देता है।

"मकान", शर्मा चौंक उठता है। किशु ने भाँप लिया है। मगर इसमें अचरज की क्या बात है? बड़े अफसरों की आँख तेज़ होती है। वह हकलाकर कहता है, "अभी मकान तो नहीं है। किराए के मकान में रहता हूँ। बहुत किराया है। आधी पेंशन उसी में निकल जाती है।"

वह एक लंबी साँस भरता है यादव को अपने दोस्तों की यही बात अच्छी नहीं लगती। बात बताने में बहुत वक्त लगाते हैं। इधर-उधर की भूमिका बाँधते हैं। उसको मालूम है कि ऐसा वह कुछ माँगने के असमंजस में करते हैं। मगर समय तो बहुत बरबाद हो जाता है।

दरवाज़े पर रुक्मिणी दो बार आकर वापिस गई है। वह होठों-ही-होंठों में कुछ फुसफुसा गई है। उसने कपड़े पहन रखे हैं, जैसे कहीं जाना हो। उसे भी प्रैस किया हुआ सूट दिखा चुकी है। कहीं जाना है क्या? ओफ्फोह! वह तो भूल ही गया। आज होटल बैकुण्ठ में पार्टी है। मगर वह नहीं चाहता सुदी खाली हाथ वापिस जाए। वह उसके लिए कुछ करना चाहता है। कुछ खास। कुछ ऐसा जिसे शर्मा सारी उम्र याद रखे, उसके बच्चे याद रखें। उनके बच्चे भी। जिसकी एक कहानी बने, जगह-जगह चर्चा हो। लोग कहें कि दोस्ती हो तो ऐसी।

सुदी शरम के मारे पीठ खुजला रहा है, उसकी हकलाहट बढ़ गई है।

यादव उसकी बेतरबीब बातों के प्रवाह को बाँध लगाता है, "देखो, सुदी! मेरे पास एक ही रास्ता है, वैसे तो तुम जानते हो सारे फ्लैट लॉटरी से निकलते हैं, उसमें तुम्हारा नंबर दो साल में भी आ सकता है और पाँच साल बाद भी। मैं कुछ नहीं कर सकता... ।" वह रुक जाता है ताकि शर्मा के रुआंसे चेहरे को बखूबी देख सके।

शर्मा का चेहरा वाकई फक्क पड़ जाता है। लगता है वह पच्चीस साल बाद बड़ी उम्मीद लेकर आया था। इससे पहले कि वह गश खाकर गिर पड़े, यादव कहता है—"एक ही रास्ता है, मेरे पास एक फ्लैट बिना बारी से देने का हक है। साल में सिर्फ एक फ्लैट। कल तुम वापिस आ जाना, मैं उसका एलाटमेंट तुम्हारे नाम कर दूँगा।"

इतना बड़ा एहसान! शर्मा सुनकर भी विश्वास नहीं करता। आखिर क्यों? दर्जनों लोग होंगे जो यादव से इस मदद की आशा रखते होंगे, जो बदले में पता नहीं क्या दे सकेंगे।

और वह! वह तो स्वयं कंगाल है। वह उसे क्या दे सकता है। सहसा उसकी आँखों से आँसू निकल पड़ते हैं। "किशु! मैं क्या कहूँ?"

यादव खुद रोना चाहता है, मगर उसे दीख रहा है रुक्मिणी बिल्कुल तैयार है और अब उससे और देरी बर्दाश्त नहीं होगी। वह खड़ा हो जाता है। "कुछ मत कहो, सुदामा, तुम अब जाओ, कल ऑफिस आ जाना, पूरे ग्यारह बजे ......" शर्मा नहीं हिलता तो—"यार, अब मैंने भी कहीं जाना है, लंच बाहर है, आई होप यू डोंट माईंड।"

शर्मा उसका हाथ पकड़कर मरोड़ता है। उसकी आँखों में एक भाव है—निष्कपट, निरीह, निश्छल। उसके पास ढेर सारे शब्द नहीं हैं, मगर उसकी आँखों में तिर आया पानी बहुत कुछ कह रहा है।

इधर शर्मा जा रहा है, उधर श्री कृष्ण यादव, आई.ए.एस. को चिन्ता खा रही है कहीं रुक्मिणी पूछ न बैठे कि यह क्यों आया था, इसका क्या काम था, वगैरा वगैरा...।

[शिमला/नई दिल्ली]

लकड़बग्घा

❑ बद्री सिंह भाटिया

सुबह की चाय पीने के बाद रवीन्द्र की अम्मा ने 'कठराली' से दराती निकाली और आँगन के एक ओर रखी 'पलायनी' पर रगड़ने लगी। दराती की रगड़ से उठी आवाज़ रवीन्द्र के कानों में पड़ी। वह बाहर आया, "अम्मा घास लेने जा रही हो?" वह चौंकी। रवीन्द्र ने उससे कभी भी इस तरह नहीं पूछा था। वह दराती की धार लगाती हुई बोली, "घसीयारों को घास नहीं काटना तो और क्या करना।"

"अम्मा तू तो बात का उल्टा मतलब निकालती है।"

"अरे! इसमें मतलब निकालने का क्या है, तूने पूछा तो बता दिया। यह हमारी सच्चाई है। पर ये बता तूने ऐसे क्यों पूछा?" वह हल्के से मुस्काई।

"अम्मा अब हम धारवाली घासनी में घास नहीं काट पाएँगे?"

"मतलब?" चौंकी अम्मा।

"हाँ! अब यह घासनी पक्की तरह से कम्पनी की हो गई है। वे आजकल में अपनी सारी ज़मीन को बाड़ लगा देंगे।"

"कम्पनी की तो यह कितने सालों से है। तेरे बापू के टाइम से। अभी तक तो किसी ने कुछ नहीं कहा।"

"अम्मा कल कम्पनी में हमारी मीटिंग थी। कम्पनी बोलती है कि यह उनकी भाई-बंदी थी जो उन्होंने भूमि अधिग्रहण के बाद भी घास-पात लेने दिया। अब जबकि लोग कम्पनी के काम में अड़चन डालने लगे हैं, तो यह कठोर कदम उठाना ज़रूरी हो गया है।"

बेटे की बात सुन उसे ध्यान आया। पिछले काफी समय से धार की इधरवाली ढलान पर काम शुरू हो गया था। सड़क निकाली जा रही थी। कैंची मोड़ बनाकर एक मील से भी ऊँची धार पर सड़क पहुँचाकर पत्थर निकालना था। उसे मालूम है कि इस धार में इतना बढ़िया पत्थर है कि इसमें से सीमेंट के अलावा अन्य उद्योगों में प्रयुक्त होनेवाला माल भी है—कोई कहता कि इसमें जो पत्थर है, वह स्टील इंडस्ट्री में प्रयुक्त होता है—इसमें लोहा है, कि इससे व्हाइट सीमेंट बनेगा। इसमें ऐसी मिट्टी भी है जो सीमेंट बनाने में प्रयुक्त होती है। कम्पनी के तो मज़े लग गए।... कम्पनी किस्मत वाली है। उसे जो चाहिए, वह मुफ्त में मिलता जा रहा है। परन्तु कम्पनी ने हमारे बुज़ुर्गों को ठगा है। इतने बढ़िया मिनरल वाली ज़मीन भूसे के भाव खरीदी। न कोई लिखा-पढ़ी, न कोई शपथ पत्र।

उसने सबकुछ सुना था। पिछले साल जब पति की मृत्यु हुई थी तो दो बोल शोक के बोलने के बाद सभी कम्पनी के बारे में बात करने लगे थे। उसे लगा था—आदमी की मौत से बढ़कर यह कम्पनी हो गई है। कम्पनी लोगों की नस-नस में बस गई है। कोई कहता—कम्पनी ने ऐसी मशीनें लाई हैं, जो सैकड़ों आदमियों का काम कर देती हैं। एक मशीन

ऐसी है जो धरती में लगाई सुरंगों के कारण उठनेवाले पत्थरों को रोक देती है—कोई नुकसान नहीं। तब वह मन ही मन सोचती कि, "ये जो पहलेवाले खदान में रोज़ धमाके होते हैं, घरों में जो दरारें आ रही हैं। इसके बारे में कभी कम्पनी से बात की? सभी कम्पनी के दीवाने हो गए हैं, मानों कुछ देखा ही नहीं। कल जब ज़मीन नहीं रहेगी, तब क्या करोगे? और ये जो ज़मीन बेचकर तुम लोगों ने गाड़ियाँ डाली हैं, ये कितनी अमीरी दिलाएँगी और कब तक? ये जो गाड़ियाँ डालकर पहले अमीर हुए और अब जब गाड़ियाँ बिक गई तो कैसे गुज़ारा कर रहे हैं? बहुत कुछ और भी था उसके पास पूछने को, परन्तु अपने पति के शोक के कारण चुप कर जाती। यह समय नहीं है कि वह कुछ बोले। उसे पति ने ही बताया था कि कम्पनी के विस्तार के दूसरे चरण में छह हज़ार बीघा ज़मीन ली जानी है। उसमें कम्पनी ने सभी गाँवों की ज़मीन के अलग-अलग टुकड़े किए हैं। उनके नोटिस भी अलग हुए हैं। भाव भी। एक-दूसरे को जो पैसे दिए, वे नहीं बताते कि किसको क्या मिला। कागज़ों में कुछ दर्शाया है, तो सामने कुछ। कोई पता नहीं चलता। बस फुसफुसाहट में बातें उभरी कि अब वह दल्ला बन गया, कि वह बिक गया, कि यह सबका सौदा कर अपने लिए भारी कमीशन खा गया...।"

कम्पनी ने भूमि अधिग्रहण के पहले क्रम में जो 2500 बीघा ज़मीन ली है, उसमें उनकी ज़मीन भी आई है। वह कितना समझाती रही थी, तब पति को, "बावले, हमने नहीं बेचनी ज़मीन। यह हमारे पुरखों की निशानी है। उन्होंने सम्भाल कर रखी, तभी हम काश्त कर रहे हैं। तुम ज़मीन बेच दोगे तो क्या रह जाएगा?... कितना पैसा चाहिए तुम्हें? ज़मीन का पैसा एक बार आया और खत्म बोलते हैं कि कमाया हुआ पैसा और कटा हुआ घास ज़्यादा दिन नहीं चलता। चार भैंसें, दो बैल, दो गाय, उनके बच्चे पलते हैं इस घास से। कल यह नहीं रहेगा तो...।" तब पति तिड़क जाता था—"तू पागल है। अकेला मैं थोड़े बेच रहा हूँ। मुझे खाज हैं, ज़मीन बेचने की। पच्चीस लोगों की घासनी और ज़मीन के नोटिस हुए हैं—सरकार इस भूमि को सीमेंट उत्पादन के लिए कम्पनी को देना चाहती है। अब सरकार चाहती है तो हम क्या कर सकते हैं?... हम तो ठहरे कद्दू, दोनों ओर से कटने वाले।"

तब बेटा, रवीन्द्र भी बोला था—"अम्मा, बिक तो रही है... जब पहले वाली तीन हज़ार बीघा ज़मीन बिकी थी, तब भी तो लोगों ने विरोध किया था। आज कितने साल हो गए। वहाँ का पत्थर तीन-चार साल में खत्म हो जाएगा, इसलिए कम्पनी अपनी स्थिति मज़बूत करना चाहती है... फिर हम दोनों भाई बेकार हैं। पढ़कर क्या मिला? कितने इंटरव्यू दिए? लगे तो वे ही न, जिनकी सिफारिश थी। हमारे तो साले रिश्तेदार भी टुच्चे हैं, क्लर्क से ऊपर कोई नहीं गया। कोई लीडर भी नहीं है, जिसकी सिफारिश होती। ये छोटे लीडर चुनाव के वक्त एक खद्दर की जैकेट सिला लेते हैं, बस हो गया जनता का काम। इसलिए जो पहली किश्त मिलेगी, एक छोटी गाड़ी डाल लेंगे। यहीं चलाएँगे। जब तक छोटा पढ़कर निकलेगा—दूसरी गाड़ी की सोच लेंगे। ट्रक भी डाल सकते हैं—कहते हैं जिनकी जमीन कम्पनी ने ली है, उनके ट्रक कम्पनी ही फाइनेंस कर रही है...। हमें वक्त का फायदा उठाना चाहिए।"

बेटा बोलता जा रहा था—उसे उसकी बात समझ नहीं आ रही थी। बल्कि वह समझना नहीं चाह रही थी। उसे तो बस अपनी चार भैंसें दिख रही थीं। रोटी बनाती बहू का भविष्य दिख रहा था—"कैसे पालेगी यह इन बच्चों को बिना दूध के?" आज वह उसी आशंका के बल पर खड़ी अवाक् बेटे के बोल सुन रही है।

वह विगत समय याद करती है...और भूमि अधिग्रहण इस तरह हुआ कि उन्हें खूब पैसे मिले। साथ में एक सुझाव कि अभी तो बीस साल लग जाएँगे इस ओर का पत्थर निकालने में। कम्पनी ने इस धार के साथ आगे वाली धार को भी सरकार से बात कर अपने नाम रिज़र्व करा लिया है, ताकि यहाँ कोई और कम्पनी न आ सके। इसलिए लोग अपनी-अपनी घासनी और काश्त योग्य ज़मीन का तब तक उपयोग कर सकते हैं, जब तक कि काम का रास्ता क्लियर नहीं हो जाता। लोग खुश। दोहरा लाभ, पैसे भी मिले और ज़मीन भी नहीं गई। वे कम्पनी की प्रशंसा करते न अघाते। परन्तु रवीन्द्र की माँ अलग तरह से सोचती—यह पहाड़ तो पत्थरों का है। इलाका धारों ही धारों का है। एक पहाड़ी के पीछे, दूसरी ओर उनकी ढलानों, तराइयों में बसे गाँव धीरे-धीरे उजड़ते जाएँगे। यहाँ के पर्वत समतल हो जाएँगे और न जाने कहाँ-कहाँ कितने ऊँचे मकान बन जाएँगे। एक दिन यहाँ का पत्थर भी खत्म हो जाएगा। तब? वह अपने से पूछती, "तब क्या होगा यहाँ? कौन बसेगा इस खाली जगह पर?" उसे अपने प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं मिलता। वह भीतर ही भीतर छटपटाती रहती।

कई बार रवीन्द्र कहता—"अम्मा, ये विकासवाद है, पर्वतों की घाटियों में छुपे गरीब लोगों का भाग्य खुल गया है—ये जो बिजली हम जला रहे हैं, यह हमारे पहाड़ों की नदियों के पानी की बदौलत है। नदियों पर बाँध बने हैं। उनसे नहरें निकली हैं। अब तो नई-नई तकनीकें आ गई हैं। तुम यूँ ही सवाल करती जाती हो।" समझो माँ, समय को समझो।

तब वह कहती है—"हाँ, बेटा। पिछले दिनों मायके गई थी। वहाँ बताया था कि कोल बाँध में भी कितने धान के खेत, आम के बागीचे और गाँव समा गए हैं। कोई कह रहा था कि विस्थापन के बाद एक बूढ़ा अपने को नहीं रोक पाया—वहीं डूबे अपने खेतों को देखता मर गया था। कोई कहता कि उसने आत्महत्या की। कोई कहता वह बौखला गया था—कम्पनी के लोगों ने रोका। जब नहीं माना तो...। बेटा अपनी ज़मीन बहुत प्यारी होती है। उसमें आदमी की मेहनत लगी होती है। पर ये लोग पता नहीं क्यों इतने बेदर्द हैं, कि अपनी भूमि बेचे जा रहे हैं—कोई विरोध ही नहीं कर रहा। पैसा ही देख रहे हैं। पैसा ज़्यादा देर नहीं टिकता—कल ये गरीबों की कतार में खड़े होंगे?" तब बेटा कहता—"अम्मा तू नहीं समझेगी ये सब बस तू किया कर जो करना है। जो होना है, वह होकर रहेगा। हम कुछ नहीं कर सकते।" वह उखड़ जाता है। फिर कहता—"कम्पनी के काम में टाँग मत अड़ाया कर। तुझे समझ तो कुछ आता नहीं, यूँ ही...।"

एक दिन पता चला कि कम्पनी ने उनकी ज़मीन के नज़दीक से सड़क निकालना शुरू कर दिया है। काम कुछ दिनों में उनकी ज़मीन तक भी आ जाएगा। तब घास काटना मुश्किल हो जाएगा। बल्कि महिलाएँ तो जा ही नहीं सकेंगी।

किसी ने बताया कि कम्पनी इतना ज़्यादा उत्पादन कर रही है पचास साल में खत्म होनेवाला पहाड़ बीस साल में ही खत्म हो जाएगा। उन्होंने दूसरा प्लांट भी लगा दिया है। इसलिए जब तक पहले वाले पहाड़ का पत्थर खत्म हो तब तक दूसरी पहाड़ी में खदान आरम्भ करने की कार्यवाही की जाए। इसमें शेष भूमि का अधिग्रहण—पहाड़ के बीच कहीं क्रशर लगाने और चूरा फैक्टरी तक पहुँचाने के लिए कन्वेयर बेल्ट लगाने की कार्यवाही में समय लगना है, सो इस क्षेत्र में काम समय से पहले ही शुरू कर दिया...कम्पनी तीसरे प्लांट की तैयारी में है। पहाड़ों में सीमेंट का पत्थर देख कम्पनी का लालच बढ़ गया है। एक प्लांट तो

किसी विदेशी कम्पनी को बेच भी दिया है।

ये बातें एक व्यक्ति से दूसरे तक होतीं, शाम को रवीन्द्र के घर में भी होने लगतीं। उसकी माँ यह सुन आहत होती चुपके से रोटी बनाती जाती। कभी-कभार कोई चुभती टिप्पणी करती तो रवीन्द्र नाराज़ हो जाता।

वर्ष बीते। गाँव के नवयुवकों को पता चला कि यह भूमि अधिग्रहण ठीक नहीं हुआ है। अधिग्रहण के समय कुछ खामियाँ रह गई हैं। लोगों को ठीक से पैसे नहीं मिले। लोग यूँ ही बिक गए। इसलिए अभी काम रुकवा कर अधिग्रहण को चुनौती दी जा सकती है, ताकि लोगों को ठीक मुआवजा मिल सके। इस पर युवा जागरूकता समिति का गठन किया गया। फिर युवाओं ने नए स्थल पर कम्पनी का काम रोक दिया। सबके मुँह से एक ही वाणी निकली, "भई हमारी ज़मीन में तुम काम नहीं कर सकते।" कम्पनी को इसका पता चला तो वे चौंके। उन्होंने अपने कागज़ देखे, तो गलती का एहसास हुआ। कम्पनी ने उन लोगों से सम्पर्क किया, जिन्होंने कम्पनी का बिचौलिया बनकर ज़मीन बिकवाई थी। परन्तु उनका बात करना आग में घी का काम कर गया। युवाओं ने एक स्वर में कहा—"हमारे अनपढ़ बुज़ुर्गों को सब्ज़बाग दिखाकर लूटा गया है। कम्पनी ने सोना उगलने वाली ज़मीन भूसे के भाव खरीदी है। इन बिचौलियों ने तगड़े पैसे खाए हैं।" इलाके में एक नई बयार बहने लगी थी।

संघर्ष समिति बनी तो प्रदर्शन होने लगे। कभी माइनिंग, कभी फैक्टरी परिसर में। उनके साथ कुछ छुटभैया नेता भी जुड़ गए, जो कम्पनी और युवाओं के बीच सेतु का काम कर रहे थे। खबरों, कार्यवाहियों का आदान-प्रदान रोज़ शाम को गाँव की दुकानों, शराब के अड्डों पर होता। वहाँ कम्पनी बिछ जाती। झूठे-सच्चे किस्सों के साथ चर्चा में कम्पनी, रेट, गाड़ियाँ ही मुख्य विषय होते। रात देर जब 'टल्ली' हुए युवा गाँव में आते तो सभी बिचौलियों को गालियाँ बकते। गाँव में आधी रात को शोर उभरता। एक नया रूप ले रहा था गाँव।

इस बीच राज्य में सत्ता परिवर्तन हुआ। युवा नेताओं के बीच अन्य नेता भी आ गए। सरकार और नए विधायक के साथ बात करने की योजना बनी। तभी पता चला कि कम्पनी नई सरकार से दोस्ती करना चाहती है। इसलिए मुख्यमंत्री को एक सामान्य उद्घाटन पर बुलाया गया है। युवाओं ने तय किया कि मुख्यमंत्री से बात की जाए। संघर्ष समिति ने अपना माँग पत्र भी तैयार किया।

मुख्यमंत्री के आने में अभी समय था। तभी किसी ने सुझाव दिया कि तुम कुछेक युवा ही लड़ाई नहीं लड़ सकते। सभी गाँवों के प्रभावितों और सम्भावितों को साथ लेना चाहिए। कम्पनी चालाक होती है। एक-एक को तोड़ेगी और गाँव-गाँव में फूट डालेगी, तब तुम बिखरकर कुछ भी नहीं कर पाओगे। नई सोच से घर-घर, चूल्हे के पास, बैठक में, चौराहों पर मुर्दाघरों के पास यानी जहाँ भी दो-चार लोग इकट्ठा होते एक ही चर्चा होती। कम्पनी लोगों को ठग रही है। उनके पास इतने लोग हैं जो रात को लोगों के घर आते हैं और उन्हें लुभाते हैं—किसी को कोई प्रलोभन, किसी को कोई। इससे कई बार तो लगता कि जो एकता बनी है, वह टूटती जा रही है।

मुख्यमंत्री आए। उद्घाटन से पहले संघर्ष समिति ने खूब नारे लगाए। मुख्यमंत्री ज़िन्दाबाद, विधायक ज़िन्दाबाद, मंत्री ज़िन्दाबाद। कम्पनी के एक वफादार ने कम्पनी के उपाध्यक्ष के पक्ष में भी नारा लगाया परन्तु किसी ने नारे का जवाब नहीं दिया। जब भाषण

होने लगा तब एक छुटभैया नेता ने मुख्यमंत्री को संघर्ष समिति का ज्ञापन दिया और हाथ जोड़, घुटने छू कर प्रार्थना की। उसके इस कर्म से विधायक का चेहरा काला पड़ गया। सम्भवतः यह सोच, कि साले मुझे नकार गए। वह पहचानने लगा कि यह किस गुट का होगा? अपनी पार्टी का होता तो... सामान्य कार्यवाही के बीच कम्पनी के अध्यक्ष ने मुख्यमंत्री को उनके राहत कोष के लिए कम्पनी की ओर से एक करोड़ की राशि का चेक थमाया। पूरा पंडाल तालियों की गड़गड़ाहट से गूँज उठा—कम्पनी ज़िन्दाबाद के नारे लगे।

अपने भाषण में मुख्यमंत्री ने सरकार की गरीबों के उत्थान की अनेक योजनाओं का बखान किया और यह कहा कि सीमेंट सरकार की ज़रूरत है—चूँकि यह हमारे पहाड़ों के पत्थरों से बनता है, इसलिए जनता को थोड़ी कठिनाई होगी। जनता को देश के विकास हेतु कुर्बानी देनी होगी। कुछ गाँव भी प्रभावित हो सकते हैं। यही स्थिति बिजली उत्पादन की है। हम विस्थापितों के पुनर्स्थापन की कोशिश करेंगे। लोगों को, कम्पनी को सहयोग देना चाहिए।

कम्पनी ने एक करोड़ रुपए देकर अपनी साख बना ली थी। मुख्यमंत्री के भाषण में युवा संघर्ष समिति की मांगों का कोई ज़िक्र न होने से भीड़ में से मुर्दाबाद का नारा उछला, जिसे पुलिस के साथ लोगों ने दबा दिया। पता चला कि दूसरे दिन कम्पनी ने सीमेंट के दामों में प्रति बोरी दस रुपए की बढ़ोतरी कर दी। दस हज़ार मीट्रिक टन प्रतिदिन का उत्पादन करने वाली कम्पनी ने अपना एक करोड़ रुपया पाँच दिन में ही पूरा कर लिया। लोगों को तब पता चला कि एक करोड़ रुपये दान का मतलब क्या होता है?

बाद में घाटी में चाय की दुकान पर किसी ने बात उड़ा दी कि जो धन खुले में दिया उसका तो पता चल गया, परन्तु जो अंडरहैंड दिया गया उसका क्या पता है। सुना है कि ज़िला मंत्री और विधायक को भी अलग से बुलाया गया था—और वह प्रीता तो कम्पनी में ही बैठा है। वह मुख्यमंत्री का खास है। भैया सभी बहती गंगा में हाथ धो रहे हैं, यदि पिस रहा है तो वह, जिसकी ज़मीन गई या घासनी गई, वह भी कौड़ियों के दाम। अण्डरहैंड पैसों की बात घाटी से उतरकर तराईवाले गाँवों में फैल गई थी। तब गुस्साई युवा संघर्ष समिति ने राजधानी कूच का प्रोग्राम बनाया। वे अभी अपनी योजना को अमलीजामा पहना ही रहे थे कि कम्पनी का एक कर्मचारी आया। उसने बताया कि कम्पनी समिति से बात करना चाहती है। बातचीत का दौर चला। काफी गर्मा-गर्म बहस के बाद भी बात किसी निर्णय पर नहीं पहुँची। वे वॉकआउट कर गए। कम्पनी परेशान। काम अभी बंद था।

कुछ दिनों बाद पता चला कि कम्पनी ने संघर्ष समिति के कुछ एक पदाधिकारियों को अलग से बात करने के लिए बुलाया है। यह बात कम्पनी के वरिष्ठ उपाध्यक्ष के साथ तय हुई। उसने ही कम्पनी को मनाया था कि जब तक हम काम आरम्भ नहीं करते, लोगों को घास काटने दिया जाए। अब आप यह बताओ कि इतने सालों में आप हमारा घास मुफ्त में काटते रहे। यदि पैसे देने होते तो कितनी राशि बनती? दारू का दौर भी चला। वे प्रभावित हो गए और यह कहकर वापिस आ गए कि लोगों को मनाएँगे। दूसरे दिन उपाध्यक्ष ने अध्यक्ष को सूचना दी कि कुछ ही दिनों में काम पुनः शुरू हो जाएगा। उनका फार्मूला काम कर गया है।

दूसरे दिन जब संगठन के बाकी लोगों को पता चला कि ये कल कम्पनी से बात कर आए हैं, तो सभी उन पर टूट पड़े। "तुम कम्पनी में क्यों गए?" अगले दिन शाम को पता चला कि कामरेड और फौजी को भी कम्पनी में बुलाया है। तीसरे दिन सीताराम, बी.

ए. प्रभाकर को भी बुलाया है। सीता राम संघर्ष समिति से बाहर ही था। वह सचिवालय में है। कुछ भी कर सकता है। सभी उसकी इस दबंगता से डरते भी थे। वह गाँव आया तो उसके चेहरे की मुस्कान से ही पता चलता था कि वह सौदा कर आया है। इतना साहस किसी में नहीं था कि कोई उससे पूछता कितने पैसे लिए? एक दिन कम्पनी ने सभी को बुलाया कि कम्पनी के अध्यक्ष बात करेंगे। फाइनल। जब बड़ी देर तक कोई नहीं आया तो खुसर-पुसर होने लगी। वे उठने ही वाले थे कि कम्पनी का एक कर्मचारी आया। उसके साथ कामरेड और सचिव भी थे। कम्पनी की ओर से बताया गया कि ठीक है—पहले के अधिग्रहण में कमियाँ रही होंगी, जो तुम्हारी राशि कमीशन के रूप में बिचौलियों को दी गई होगी, उसे हम आपको दे देते हैं। आपसे बस यह निवेदन है कि अब कम्पनी को काम करने दो। इस पर हवा सिंह बिफर गया, मेरी बूढ़ी अनपढ़ माँ को ठगा गया है... और कामरेड के पिता को भी। वह आगे बोलता कि कामरेड खड़ा हो बोला—"भैया मेरा नाम नहीं लेना, मैं तो कम्पनी को अपनी ज़मीन दे चुका हूँ। मेरे से नहीं लड़ा जाता। असल में हमने अपने हाथ काट कम्पनी को दे डाले हैं—जो खाली कागज़ों पर दस्तखत किए हैं—हमारे बुज़ुर्गों की गलती थी—तुम लोग सोच लो।" उसके बोलते ही सचिव भी बोला—"मैं भी कामरेड के साथ हूँ।"

"साले दल्लो, बेच आए हमें। ये बताओ हमें बेचने का कम्पनी से क्या लिया?" एक चिहुँका। इस पर कम्पनी के कार्यकर्ता ने कहा। "ऐसा कुछ नहीं है। कम्पनी आपको राशि देने को तैयार है। यह अतिरिक्त मनी समझो। कम्पनी की गलती रही जो उसने क्षेत्र में कांटेदार तार नहीं लगाए। इसलिए आप...।" सभी आपस में फुसफुसाने लगे। यह राशि कम है। आज कितने रेट ऊपर गए हैं। कोल बाँध के रेट देखो, बागा कम्पनी का रेट देखो और आप...। एक खड़ा हुआ—"हम नहीं मानने वाले।"

"तो आप कितना चाहते हैं?" कम्पनी का कर्मी बोला। अप्रत्याशित प्रश्न से बौखला खड़े व्यक्ति ने बिना सोचे राशि बताई। उस पर उसने कहा, "मैं कम्पनी में बात करता हूँ।" कम्पनी में बात हुई। बात पर बात चली और आधे घंटे में भूमि अधिग्रहण अधिकारी, शुक्ला आ गया। उसने सभी को समझाया कि अमुक राशि भी नहीं। कम्पनी का रेट भी नहीं। इसलिए बीच की यह राशि हम सभी को दे देंगे। क्यों? और सभी चुप। एक नया फार्मूला। उनकी इच्छा से भी ज़्यादा। भीतर ही भीतर एकता टूट चुकी थी। शुक्ला ने बताया फिर पक्का न! कल आकर आप अपने चेक ले जाना। हाँ आपको एग्रीमेंट पर हस्ताक्षर करने होंगे।

हफ्ते बाद पता चला कि सबसे पहले कामरेड, फिर सचिव और एक-एक कर सभी पच्चीस व्यक्ति अपने चेक लेकर आ गए। कम्पनी ने चार कागज़ों पर फिर से दस्तख्त करवाए। जिस पर स्थानीय बोली में इकरार लिखे गए थे, कि अब वे कम्पनी के साथ मित्रवत् व्यवहार करेंगे। अधिगृहित भूमि पर उनका न कोई अधिकार और न वे इसका उपयोग कर सकेंगे। सुना यह भी गया है कि कामरेड और सचिव को अलग से भेंट मिली।

हँसते हुए एक व्यक्ति ने पूछा—"भई खूब पैसे ले आए। अपने लिए भी लिया कुछ कि यूँ ही कम्पनी के आगे लेट गए।"

"नहीं! हमने कुछ भी लिखकर नहीं दिया।"

एक दिन दुकान पर एक युवा नेता ने बताया कि कम्पनी ने लोगों के साथ फिर फ्रॉड किया है। कागज़ों में हेराफेरी करवाई है। जिससे भूमि की औसत गिरा कर मूल्य

निर्धारित किए गए हैं। इसलिए दुबारा संघर्ष होगा। कम्पनी के पास कोई भी नहीं बिकेगा। स्थानीय देवता के आगे कसम खानी होगी। इस बैठक की खबर कम्पनी को लग गई। उन्होंने रवीन्द्र, कामरेड और सचिव को बुलाकर उनके कागज़ दिखाए और कहा कि—"कल से कँटेदार तार लगेंगे, जो भीतर आएगा उसके विरुद्ध मामला दर्ज होगा। कम्पनी के परिक्षेत्र में जाने से पूर्व सुरक्षा गार्डों की अनुमति लेनी होगी।"

अम्मा ने पूछा—"इन पशुओं का क्या होगा? इन्हें शाम को घास चाहिए। तुम लोगों के दिमाग में पैसा बस गया है, इससे आगे कुछ नहीं सूझ रहा, बच्चू। ये मस्ती ज़्यादा दिन चलने वाली नहीं है।"

"अम्मा चुप भी कर।... अब जो फैसला हो गया है, उसे तो मानना पड़ेगा न। कल की कल सोचेंगे और अभी तो बरसात है। खेतों में थोड़ा घास है ही। बाद में पशु बेच देंगे।"

"बच्चों को दूध? और उन खेतों को खाद कहाँ से आएगी?"

"अम्मा में ही नहीं हूँ, सब हैं... अभी तो घाट पर से लिफाफे वाला दूध लाया करेंगे। फिर यहीं गाँव में किसी को कहेंगे कि वो चार-पाँच क्रेट यहीं मंगवा लिया करे।" वह तल्खी से बोला तेरे को कहा कि... वह तैश में आ गई थी। बोली, "जानती हूँ तुम सबको। पर सुन, जब तेरे पैसे खत्म हो जाएँगे, तब हमें कहीं से एक-एक पुड़िया जहर की लाकर दे देना।" और वह उठ गई। उसने रस्सी उठाई, दराती कोहनी में फँसाई और चुपचाप घासनी की बजाय खेतों की ओर चली गई।

भीतर ही भीतर गुस्सा इतना की आवेग से उसके ओंठ फड़फड़ा रहे थे। उसे लग रहा था कि ये ज़मीन नहीं बिकी। लोग नहीं टूटे, बल्कि उसका घर टूट गया है, गिर गया है... और उसे अपने को बचाना है—पर कहाँ बचाए? इस प्रश्न पर भीतर पैदा हुए गुब्बार को खेत में पहुँचते ही वह, दहाड़ मार कर रोने लगी। रोते-रोते उसके सामने अपने पोते-पोती, अपने गाय, बैल, भैंस उनके छोटे-छोटे बछड़े दिखने लगे। वे सब तड़प रहे हैं। बच्चे दूध माँग रहे हैं, पशु घास के लिए रम्भा रहे हैं। वह बेबस-सी, कहाँ से लाए ये सब सोचती... हताश-सी रोती जा रही है... ये क्या कर दिया लोगों ने? रोते-रोते उसे लगा ये पहाड़ चारों तरफ से हिल-डुल रहे हैं। कभी भी उस पर गिर सकते हैं। वह यहाँ दफन हो जाएगी। उसके साथ उसके पशु भी दब जाएँगे। वह मरना नहीं चाहती—खतरे की आशंका में वह पगलाई-सी दौड़ने लगी। बोलती—"बचो, बचो...।"

उसे इस तरह रोते, चिल्लाते, दौड़ते हुए साथ वाले खेतों में काम करती औरतों ने देखा तो समझा कि उसे खेत में छिपा लकड़बग्घा दिखा है। वे उसे पुकारने लगीं—"क्या हुआ, क्या हुआ?" गाँव से इधर की ढलान में बने सीढ़ीनुमा खेतों में उठा शोर गाँव तक पहुँचा। किसी ने कहा, "रवीन्द्र की अम्मा को शायद लकड़बग्घा दिखा है।" समाचार की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप गाँव के लोग उस ओर दौड़े—"अरे दौड़ो, वह आदमखोर हो गया है। दौड़ो बचाओ।" और गाँव एक अलग तरह के शोर से सराबोर हो गया।

[गाँव ग्याणा, सोलन, हि.प्र.]

पालतू

❑ सुशील कुमार फुल्ल

बिट्टू विधायक सदन में वापिस आ गया, चुप-चुप, एकदम गुम-सुम। ठाकुर साहिब को कुछ अजीब-सा लगा। चुप हो जाना बिट्टू की प्रकृति नहीं थी। वह तो आने-जानेवालों से खूब बातें करता था। गली-मोहल्ले, गाँव-कूचे का हाल पूछता। विधायक जी के लिए एक अच्छे जनसंपर्क अधिकारी का काम कर रहा था। ग्रामीण वोटर इसी बात से खुश हो जाता है कि ठाकुर साहिब परिवारजनों का कुशल-क्षेम तो पूछते ही हैं, साथ ही जबरी और बकरी का हाल भी पूछते हैं। बिट्टू अब इन सब औपचारिकताओं से परिचित हो गया था... और सभी मुलाकाती प्रसन्न होकर लौटते, भले ही उनका काम होता या न होता।

"बिट्टू, क्या बात है? उदास क्यों हो?" साहिब सिंह ने प्यार से पूछा।

"सर, मैं उनतालीस का हो गया हूँ...पूरे उनतालीस का।" आवाज़ में तल्खी थी।

"तो क्या हुआ। इस बार मंत्री बनते ही मैं सबसे पहला काम तुम्हारा करूँगा।... तुम नौकरी करना चाहते हो, तो नौकरी ज़रूर मिलेगी...मैं तो तुम्हें राजनीति में उतारना...।" ठाकुर साहिब ने अपना मत संकेत में व्यक्त किया।

बिट्टू की आँखों में ठाकुर साहिब की बेटी सोनिया घूम गई...नौकरी मिलेगी...तभी तो छोकरी...इस शब्द तक पहुँचते ही उसकी ज़बान रुक गई। फिर वह कुछ नहीं बोला।

वह अभी कालेज में ही पढ़ता था। गाँव से बाहर निकला ही था। एक दिन रमेश उसके पास आया और बोला—"चलो, तुम्हें अपने विधायक जी से मिलाता हूँ।"

"क्यों, क्यों?" वह कहना चाहता था, परन्तु मन में कहीं गुदगुदी भी हुई। क्योंकि वह कभी किसी एम.एल.ए. से मिला ही नहीं था। कहानियाँ बहुत सुनी थीं... कि उनकी संस्तुति के बिना पत्ता भी नहीं हिलता... उनके विधानसभा क्षेत्र में शायद कभी काम पड़ जाए।

पहली मुलाकात में ही साहिब सिंह ने कहा था, "मैंने रमेश से तुम्हारी बड़ी प्रशंसा सुनी है। मुझे एक भले लड़के की तलाश थी...सो तुम से बेहतर कौन होगा? तुम यहीं आ जाओ विधायक सदन में मेरे पास।"

"सर, मैंने तो अभी कॉलेज में प्रवेश लिया है... और फिर यहाँ मैं..." बिट्टू अभी अपनी बात पूरी भी नहीं कर पाया था कि विधायक ने कहा, "हाँ, हाँ में जानता हूँ। तुम यहाँ रहकर भी पढ़ सकते हो। अपनी पढ़ाई भी करो...और मेरा आवास भी संभालो...मैं तो यहाँ कितने दिन रहता हूँ... समझो तुम मेरे प्राईवेट सेक्रेटरी हो...मुलाकातियों को देखना होगा।"

"सर, मेरी पढ़ाई का हर्ज़ होगा। मेरे माँ-बाप के बड़े-बड़े सपने हैं।"

"तुम चिंता मत करो...पढ़ाई का ज़िम्मा मेरा...पढ़ाई कोई क्लास-रूम में जाने से ही होती है.... तुम तो भोले-पंछी हो... ज़रूरी तो नहीं कि परीक्षा में तुम्हें ही बैठना है...ज़माना बदल गया है...," ठाकुर ने बड़ी आत्मीयता से उसे समझाया।

वह सुनता रहा था। मंत्र-मुग्ध-सा। कहीं मन में संशय भी था। समय का हर्ज़ तो होगा... परन्तु परीक्षा में वह नहीं बैठेगा, तो पास कैसे होगा? विधायक के भाषण का वह अंश उसे समझ नहीं आया, परन्तु इतना तो वह समझ गया कि विधायक सदन में रहने से उसे या उसके परिवार को कभी न कभी तो लाभ होगा ही।

वह गद्गद् हो गया था।

वह जब भी घर जाता, तो उपहारों से लदा-फदा जाता। विधायक सदन का चलन पहले-पहल तो उसे बड़ा अटपटा लगा; वह देखता जो भी विधायकों से मिलने आते, उनके हैंड बैग, थैले काफ़ी भारी होते। अरे, रिश्तेदारी में तो लोग फल-फूल, मिठाई आदि लेकर जाते हैं और यहाँ क्यों? धीरे-धीरे उसे पता चला कि जो भी खाद्य-पदार्थ आदि सामान फरियादी लाते, उसका भोग जनता-जनार्दन को भी लग जाता। आखिर, जो अपने एम. एल. ए. से मिलने आएगा, वह जल-पान, भोजन की अपेक्षा तो रखता ही है। बिट्टू को बड़ा अच्छा लगता कि ठाकुर साहिब के निवास पर लंगर चलता रहता, मानों गुरुद्वारे या माता का लंगर हो।

बिट्टू, साहिब की महिमा से भाव-विभोर रहता। उसकी समझ में आ गया था कि जो भी ठाकुर साहिब से मिलने आए, उसे संतुष्ट लौटना चाहिए। अब सरकारी विभागों के अधिकारी भी बिट्टू की आवाज़ पहचानने लगे थे। छोटे-छोटे काम तो वह स्वयं ही फोन करके करवा देता। और कभी ठाकुर साहिब की संस्तुति की आवश्यकता होती तो उनकी भाषा में लिख भी देता...और मुझे यह कहने का आदेश हुआ है कि...ऐसा कर दिया जाए।

जनता बड़ी प्रसन्न थी और लोग प्यार से बिट्टू को मंत्री जी की पूँछ कहने लगे थे। बस, काम करवाना है, तो पूँछ पकड़ लो। ज्यों-ज्यों लोग उससे घुलते-मिलते गए, उसके परिचय एवं अधिकार का क्षेत्र बढ़ता गया। चतुर अधिकारी उसे होटलों में ले जाने लगे। वह काम तो करवा ही देता था, लेकिन कांइयाँ अधिकारी अहसान का बोझ बनाए नहीं रखना चाहते थे और गाँव से आया भोला-भाला बिट्टू होटलों का अभ्यस्त हो चला था। पब्लिक डीलिंग में एकदम परफैक्ट।

उसे पता ही नहीं चला कि कब उसकी प्री-इंजीनियरिंग हो गई। ठाकुर साहिब ने कालेज के प्रिंसिपल से पहले ही कह दिया था...।

वह उबल पड़ा था।

प्रायः शांत एवं शातिर दिखाई देनेवाला बिट्टू अचानक भड़क उठा था। बोला—"मैं नहीं जानता था कि मेरे माँ-बाप ही मेरे दुश्मन बन जाएँगे में उनतालीस का हो गया हूँ... और जो भी रिश्ता आता है...आप मुझे पूछते तक नहीं...खुद ही इनकार कर देते हैं।"

"बिट्टू, तुम बड़े आदमी हो...और संयोगवश रिश्ते छोटे पड़ जाते हैं।" बिट्टू के पिता ने व्यंग्यात्मक स्वर में कहा।

"मैं बड़ा हूँ? किसी को मेरी चिंता नहीं। पंद्रह साल हो गए डिग्री किए हुए...मेरे साथियों के दो-दो बच्चे भी हो गए...और यहाँ मेरी शादी भी नहीं।"

"तुम मंत्री की पूँछ हो...उन्हीं से क्यों नहीं कहते जैसे तुम्हें डिग्री करवाई थी, शादी भी करवा दें।" पिता ने आक्रोश भरे स्वर में कहा।

"आप मेरे अच्छे खैर-ख्वाह हैं। डिग्री तो प्रॉक्सी से हो गई, शादी भी प्रॉक्सी से

करवाना चाहते हैं?" उसकी इच्छा हुई कि अपने पिता को गाली दे, दे। उसने केवल घूर के देखा। मानो पूछ रहा हो...उनतालीस का हो गया, नौकरी लगी नहीं, विवाह भी नहीं हुआ, कब बच्चे पैदा होंगे और कब सैटल होंगे और कैसे होंगे। उसे पिता की यह बात चुभ गई थी, "पहले खुद तो सैटल हो जाओ...फिर बच्चों की सोचना। अपनी नौकरी लगवाई नहीं। मंत्री के आगे-पीछे घूमने में ही आधी उम्र बिता दी।"

डिग्री करते ही उसे जे.ई. की नौकरी मिल गई थी। ठाकुर साहिब सिंह मंत्री बन गए थे और बोले, "बिट्टू, यार जे.ई.-वे.ई. का ख्याल छोड़ो...मैं तुम्हें सीधा एम.डी.ओ. लगवाऊँगा। तुम्हारे बिना मेरा काम नहीं चलता...तुम मेरी मजबूरी हो...परन्तु वायदा रहा।"

मंत्री जी के कथन में जो सच्चाई थी, वह जानता है। वह पावर मिनिस्टर भी बने ... परन्तु फिर भी उसको एडजस्ट नहीं कर पाए। दरअसल जब भी वह कोशिश करते...कोई न कोई मुख्यमंत्री का बंदा आ फंसता...और बिट्टू टुकुर-टुकुर देखता रह जाता।

"अब मैं झांसे में आनेवाला नहीं...नहीं आऊँगा झांसे में...मैं खुद एप्लाई करूँगा ... देखता हूँ कौन रोकता है?" वह बुदबुदा रहा था। तभी एक बुज़ुर्ग आकर उसके सामने खड़ा हो गया। सिंह साहिब वहाँ थे नहीं। बिट्टू ने ज़्यादा ध्यान नहीं दिया। वह पहले ही जला-भुना बैठा था। मूड होता तो वह बात कर लेता...न होता तो सुनता ही नहीं।

आगुन्तक ने कहा, "बेटा, पानी तो पिला दो।"

"सामने नल है। जाकर पी लो बाबा।"

"बच्चा, गिलास तो दे दो।"

"यहाँ कोई छबील नहीं लगा रखी है। पीना हो तो पी लो, नहीं तो होटल में जाकर पी आओ। पानी का भाव भी पता चल जाएगा।" बिट्टू अपनी बातचीत पर खुद हैरान था। वह तो बहुत ही लोकप्रिय सेक्रेटरी था, परन्तु आज उसमें विद्रोह बोल रहा था। नौकरी के खिसक जाने का दुख...सैटल न हो पाने की पीड़ा। बच्चे कब सैटल होंगे...बच्चे? वह स्वयं ही मुस्करा दिया।

बुज़ुर्ग बिना कुछ कहे चला गया।

तभी कोई और सुपरिचित आ गया...उसे देखते ही एक बार तो बिट्टू खिल उठा। उसके आने का अर्थ था कोई न कोई कीमती गिफ्ट... एक बढ़िया मोबाइल सेट...और वह भी केवल ठाकुर साहिब के लिए।

उसने पूछा था, "मंत्री जी, कब आएँगे?"

"फिलहाल तो वह कान्फ्रेंस में व्यस्त हैं। आ भी सकते हैं और नहीं भी आ सकते।"

"बिट्टू जी, आज आप कैसी बात करते हैं...आपको तो सबकुछ पता होता है।" रमाकांत ने कहा।

"हाँ, पता होता है, परन्तु मैं मंत्री जी की पूँछ नहीं हूँ।"

"मैंने ऐसा कब कहा?"

बिट्टू उठकर चला गया था। रमाकांत को लगा कहीं कुछ गड़बड़ है। शायद वह सोच रहा हो... मोबाइल तो उसे ही मिलना चाहिए था। आधी चीजें तो वही ले जाता है। कभी-कभी तो दबोच ही लेता है। मंत्री जी, नखरे करें, तो समझ में भी आता है, परन्तु उनकी पूँछ ही फुदकने लगी है।

तभी मंत्री जी आ गए। बोले, "रमाकांत जी, कैसे आना हुआ? क्या अभी तक दलदली पनबिजली परियोजना के बिल क्लियर नहीं हुए?"

"जी, आपका अनुमान ठीक है।" कहकर उसने मोबाइल उनकी ओर बढ़ा दिया, "बेटे ने अमरीका से खास आप के लिए भेजा है।"

बिट्टू भी आ गया था। उसने देखा मंत्री जी के साथ वही बुज़ुर्ग भी था...जिसने उससे पानी मांगा था। उसने बुज़ुर्ग की उपस्थिति को अनदेखा करना चाहा, परन्तु सिंह साहिब बोले, "बिट्टू यह मेरे चाचा हैं।"

बिट्टू ने एकदम झुककर बुज़ुर्ग के चरण-स्पर्श किए और हिचकिचाता हुआ बोला, "सर, मैंने आपको पहचाना नहीं था... क्षमा कर देना। आपको खुद ही बता देना चाहिए था। चलिए आप अन्दर चलिए। नाश्ता-वाश्ता करें...फिर बात होगी।"

उसे लगा बुज़ुर्ग कह रहा हो, "बेटा, मैं मंत्रियों के तबेलों के चलन से वाकिफ हूँ ...कोई आश्चर्य नहीं हुआ...लेकिन पानी तो कोई भी किसी राहगीर को पिला देता है।"

बिट्टू ने देखा बुज़ुर्ग तो चुप थे...उसका अपना मन ही उसे धिक्कार रहा था... वह बेचैन हो उठा।

मैं उनतालीस साल का हो गया...बेकार में बेगार करता रहा। बेगार तो अनादिकाल से समाज की रगों में व्याप्त है, वह सोचने लगा। जे.ई. उसे लगने नहीं दिया, एम.डी.ओ. उसे लगवाया नहीं। वास्तव में राजनेताओं को दरियाँ उठानेवाले लोग चाहिए... ऐसे लोग पालने पड़ते हैं... तो क्या वह भी पालतू कु... है। कोई उसे मंत्री की पूँछ कहता है... कोई कुछ और।

उसे एकाएक मेशी की याद आई। वह अभी आठ-दस साल का ही था कि एक अफसर उसे अपने घर ले गया था। बूढ़े माँ-बाप को यह कहकर कि उसे घर में रखेगा और खाना-पीना वहीं होगा। मासिक वेतन माँ-बाप को पहुँचेगा। वह फलों की एक टोकरी उनके घर रख गया था। मेशी को नए-नए कपड़े मिले, साफ-सुथरा रहने की नसीहत भी।

आई.ए.एस. अधिकारी था वह...जो मेशी को ले गया था। उसने बाकायदा उसे पढ़ने के लिए किताबें ला दी थीं। वह एक के बाद एक कई जमातें पास कर गया। दसवीं करने के बाद वह नौकरी की सोचने लगा। उसने अपने मालिक से कहा भी, "सर, मुझे कहीं काम पर लगवा दो।" वह बार-बार यही कहता था, लेकिन जवाब मिलता, "यह भी तो नौकरी ही है। फिर थोड़ा और पढ़ लो...बड़ी नौकरी दिलवाऊँगा।"

लेकिन उसे नौकरी नहीं मिली। मेशी के दिमाग ने अब नौकरी की चिंता छोड़ साहिब की लाडली में रुचि लेना शुरू कर दिया और जल्दी ही वह घुल-मिल गया। लाडली उसके सम्मोहन में पिघलती चली गयी।

बिट्टू एकाएक हँस पड़ा। उनतालीस का हो गया...नौकरी मिली नहीं और अब अगर मिलेगी भी तो उसमें पेंशन नहीं होगी। वह तो बेगार में ही फंसा रहा। उसे लगा उसमें मेशी आकार लेने लगा है और सोनिया ठाकुर साक्षात् खड़ी अंगड़ाई ले रही थी।

मंत्री की पूँछ में संजीवनी प्रकट हो रही थी।

[पुष्पांजलि, राजपुर, पालमपुर, हिमाचल प्रदेश-176061]

कविता खंड : तीन

❑ **लीलाधर जगूड़ी**

संकट के बादल

युद्ध पहाड़ जैसा। प्रेम पहाड़ जैसा। जीवन पहाड़ जैसा
सबकुछ यहाँ पहाड़ जैसा मुश्किल है
सब पर घिरे हुए हैं संकट के बादल

जिस तरह पहाड़ पीछा नहीं छोड़ते
पहाड़ों का पीछा नहीं छोड़ते बादल

हवाएँ टकराती हैं उल्टी-सुल्टी विचारधाराओं की तरह
पछाड़ खाती खलबलाती नदियाँ
संयुक्त जलस्तर से उफना उठती हैं

ऐसे में दिल के लिए गहराई देखनी पड़ती है
ऊँचाई देख पाओ तो दृष्टिकोण का पता चलता है
दूर जाकर

बहाव के उल्टे चलो तो उद्‌गम मिल जाता है
बहाव के साथ चलो तो समुद्र का ठिकाना मिल जाता है
जैसे निम्नतम व्यक्ति का पीछा करो
तो पूरे समाज का पता चल जाता है
यथास्थिति में बदलाव के शब्द मिल जाते हैं

शब्दों का पीछा करो तो वाक्य मिल जाते हैं
जलवायु सहित भूगोल और इतिहास का पता बताते हुए

आसमान के धूल फाँकने से। बादल अटेरने से
जिस प्रेम का पता नहीं चला
सूरज की नयी किरण से सुलगते बादल
धरती के उस प्रेम का पता दे देते हैं

संदेश वाहक मेघ को प्रश्नवाचक बनानेवाले

कवियों से मिलना हो
तो पहाड़ झेलते कवि के पते पर रहते हैं
कालिदास, नागार्जुन और बादल।

सीढ़ी

मैं हर सीढ़ी पर हाँफ रहा था
मुश्किल से चढ़ पा रहा था
बावजूद इस सब के यह आखिरी सीढ़ी थी

यह सीढ़ी वह पेड़ तो नहीं थी
जिस पर कभी मैं किशोर लपककर चढ़ता था आकाश में
डाँट पड़ती थी तो खिसक कर
उतर आता था ज़मीन पर
गिरकर हाथ-पाँव तुड़वाने के मुकाबले
एक बार पेड़ से नहीं पिटाई से घायल हुआ था मैं
मेरी पौत्री अनन्या कह रही है
आप बहुत अच्छे दादा हैं
आपने सारी सीढ़ियाँ चढ़ ली हैं

मैं उसे समझाना चाहता हूँ
कोई भी सीढ़ी अंतिम नहीं होती
ऊँचाई में चढ़ रहे हों तब तो और भी नहीं

कुछ लोग ऊँचाई पा लेने के बाद सीढ़ियाँ हटा देते हैं
ताकि लोग इस भ्रम में रहें कि वे खुद यहाँ तक पहुँचे हैं
बहुत-सी सीढ़ियों में से बचपन जीवन की महत्वपूर्ण सीढ़ी है
तुम एक-एक कर सारी सीढ़ियों को याद रखना
अपनी बचपन की सीढ़ी सहित

मेरे बारे में 'नाटक जारी है' की वह पंक्ति भी याद रखना
जिसमें कह पाया था कि 'रोज़ सीढ़ियाँ उतरता हूँ
मगर नरक खतम नहीं होता।'

[सीताकुटी, बदरीपुर रोड, जोगीवाला, देहरादून-248005]

❑ **ज्ञानेन्द्रपति**

एक तेलचट्टा शिशु से बतकही

जिस तेलचट्टे महान् के तुम वंशज
वह, तब नए, इस घर में आया था
पुराने किस्से-सा
तेलचट्टा
एक दिन अचानक दिखा
बेआवाज़ कहता कि लो, हम आ गए
अपने जबरज़िद्दी जीवनोत्साह से तुम्हारी ज़िन्दगी की संगत करने
जो दिखा था तो हकबका गया था देखनिहार एक पल को
अपनी चपलता से जो बचता रहा था
अस्तित्व-युद्ध का सबल लड़ाका
कत्थई पालिशदार-सा चमकीला जिसके कवच का कचकड़ा
जो कहीं भी दिख जाता था
पर रसोई थी जिसकी पसंदीदा जगह
चूल्हे की देह-गंध जिसको भाती थी
मँडराता था जिसके चौगिर्द छहगोड़वा, पारखी छह रसों का
शेल्फों की चीज़-बस्त जिसकी जानी-पहचानी थी
शीशियों के गले पर जिसके फिरने के
मंडलाकार निशान पारदर्शी आँके होते अनदेखे
तमाम डिब्बों की थाह जिसे मालूम थी बखूबी
एक भरे-पूरे परिवार का मुखिया फिक्रमंद
सहस्राब्दियों पुरानी वंश-परम्परा आगे ले जाने की
ज़िम्मेदारी ढोता पुरातन अद्यतन
बहरा दिए गए, बिसरा दिए गए,
आदमी के जैविक पुरखों का हरकारा
हमारे संसार से बाहर छूट गए जीव-जगत् का नुमाइन्दा
चुना जिसने बनना मानव-संगी, गौरइय्या चिड़ियों की तरह
बुनकर मकड़ियों की तरह
पारिस्थितिक प्रत्यूहों को ढहाता आया यहाँ तक,
पास अपनी संवेदिकाएँ ताने, चौकस
छिपकलियों और मकड़ियों और गृहिणियों से निभाता लाग-डाँट

वही तेलचट्टा पुरखा तुम्हारा, पुराकालीन
पुरान हो गया था जब जिसका पैकर
तो जो छोड़कर रसोई, उदासीन
नहानघर के कोने में रहने लगा था
आर्द्र अँधेरा उसे रास आने लगा था
लेकिन जिसे छोड़ना पड़ा था वह कोना
आखिरकार एक रविवार तब उसे
इस्तेमाल के बाहर पड़े जूतों के एक जोड़े ने शरण दी थी सहर्ष
एक-दूसरे के साथ के बावजूद उन्हें अकेलापन अखरता था कभी-कभार
वहीं उसके प्रायोपवेशन के दिन बीतते थे चुपचाप
एक जूता उसका घर बना था, एक घर मिला था—आखिरकार
एक सुबह—
वह एक कार्य-दिवस की सुबह थी—
उस जूते को उलट कर
उसे खदेड़ दिया गया
और उसी जूते से कुचल कर मार दिया गया
तब एक हाथ ने उस जूते को पहन रखा था
भागने की कोशिश उसकी ताकत से बाहर की बात थी
लेकिन उसने की थी
जाते-जाते अपनी आनुवाँशिकी में उसे यह कोशिश जोड़नी थी

उसी तेलचट्टे महान् के तुम वंशज
जाड़े में निस्स्पन्द पड़े हुए नवतुरिया तेलचट्टे, किसलयरंगी
जिसके जीवनोत्साह को पाला मार गया है कस कर
रसोई के एक बर्तन में बिताता दुबके दिन
तुम्हारे जीवट को विष-बौछारों में सींझना है, छौने!
चलो, भागने की कोशिश तो करो
तुम्हें हमसे भी आगे जाना, जीवन को ले जाना, है आखिरकार!

[बी 3/12, अन्नपूर्णा नगर कालोनी, विद्यापीठ रोड, वाराणसी-2]

❑ नन्द किशोर आचार्य

क्या यही है प्यार : पाँच कविताएँ

भीम बैठका

आश्चर्य–
सभी चित्र आखेट के हैं
एक भी नहीं प्रेम का!

वे भी जानते थे क्या–
प्रेम भी आखेट ही तो है अन्ततः
किसी कोमल हृदय को
बेन्धता
तीखे शरों से!

व्यथा का सम्मान

मत लो
मुझे चाहे तुम
मेंह को जैसे लेती है धरती
और खिला देती है
हरियल व्यंजनाओं में

आओ तो सही लेकिन
अपने काँधों पर
रो लेने दो मुझे
फूल लेने देता है रात को जैसे
और घुलकर निखर आता है
अपने लिए रात की व्यथा का
सम्मान करता हुआ।

तड़प

एक प्रतीक्षा है अनवरत
तुम्हारी नहीं तो मृत्यु की
उस कुछ की

जो शून्य कर दे मुझे
-अनस्तित्व एक सम्पूर्ण!
होना
क्या अनस्तित्व होता है
और जीना
एक तड़प अनस्तित्व की ख़ातिर!

शब्द यों फूल होते हैं

जाड़े की लम्बी पहाड़ी रात
बुझते अलाव का
धुँदला-सा आलोक
पिछले पहर : मद्धम स्वरों में
मुझ को मेरी ही कविताएँ
पढ़ कर सुनातीं तुम :
शब्दों की खामोशी में
डूबता-सा मैं।
शब्द यों फूल होते हैं।

अब की कविता

अचानक दिखीं तुम
और ओझल हो गयीं फिर।

तब से उलझन में हूँ
अनगिन आवाज़ों के बीच छुपी
मेरी खामोशी हो तुम
पर खामोशियों के घने जंगल से
भटक आती हुई एक आवाज़
मेरे लिए
और मैंने पाया—
मैं अब भी
लिख सकता हूँ कविता!

[सुथारों की बड़ी गुवाड़, बिकानेर-334005]

❑ **भगवत रावत**

केवल कुछ करने के लिए

केवल कुछ करने के लिए
मैंने अलग से कुछ नहीं किया
कभी कुछ नहीं अलग से
दुनिया में रहने के लिए दुनिया से लड़ते-झगड़ते
प्रेम करते, बोलते-बतियाते
समझाते-बुझाते जो कुछ हो गया
बस वही हुआ
ले जाओ मेरे सामने से यह बिसात
मैं खेल नहीं करता
मुझे खेलना नहीं आता
हाँ मैं दौड़ा-भागा, कूदा-उछला, तैरा-डूबा
लेकिन मैंने न कोई मानक बनाया न तोड़ा
मैं न योद्धा हूँ
न खिलाड़ी
मैं न जीता हूँ न हारा
इस ढलती उम्र में भी नहीं जाऊँगा
महज़ हवाखोरी के लिए टहलने
सुबह-शाम बाहर
कितने सारे काम पड़े हैं करने को
इन्हें करते-करते जो कुछ हो जाएगा
वही मेरे साथ जाएगा
केवल कुछ करने के लिए अलग से
कविता भी नहीं करूँगा!

सफर में किताब

एक तरफ रख दो हाथ की यह किताब
घाटियों से होकर गुज़र रही ट्रेन
दिन का समय
और ऊपर से बरसात
विन्ध्य की ऊबड़-खाबड़ लगभग निर्वसन

आदि रूपा-अलमस्त-चट्टानी घाटियों ने
ओढ़ ली है अपने ही अन्दर की
छिपी हरीतिमा
कि उनके अंग-अंग उभरकर
लाज ढँक गए हैं
कि उनका अपना मटमैला रंग
उद्दाम आवेग में उड़कर
आसमान हो गया है।

ये चकौचौंध पैदा करती बर्फ़ानी घाटियाँ नहीं
न पल-पल आकार बदलती
मायावी रेतीली घाटियाँ हैं
जीवन के दुःख-सुख से अपनी विपन्नता में तपी
वही श्यामल चट्टानी घाटियाँ हैं
जो दुबकी रहती हैं हमेशा
अपने दारुण दुःख में
लेकिन प्रसन्नता में किसी किताब की तरह
जब खुलती हैं तो
आसमान में नगाड़े बज उठते हैं
और वह टूटकर ऐसे बरस पड़ता है
जैसे फूट पड़ा हो धीरज का वितान
सहज-सामान्य की प्रकृति और पुरुष के
महोत्सव से होकर गुज़र रहे हो तुम
भाग्यवान हो कि ट्रेन की खिड़की से ही सही
पढ़ने को मिल तो रही है यह किताब।

[भोपाल, मध्य प्रदेश]

❑ नरेश सक्सेना

दाग धब्बे

दाग धब्बे
साफ सुथरी जगहों पर आना चाहते हैं

जहाँ कहीं भी कुछ होने को होता है
भले ही हत्या होनी हो किसी की
दाग धब्बे प्रकट होने को आतुर हो उठते हैं

और जब कोई नहीं आता आगे
हत्यारों के खिलाफ : गवाही देने दाग धब्बे ही आते हैं

त्वचा तक सीमित नहीं होता उनका आना
वे स्मृतियों और आत्मा तक आते हैं
एक दिन हमारे सबसे प्रिय चेहरे, घर और शहर
धब्बों में बदल जाते हैं
झाँककर देखने पर
उनमें क्या क्या दिखाई नहीं देता
चेहरे, लोग, पेड़, पक्षी, आकाश और
पूरी कायनात होती है वहाँ
खोई हुई स्मृतियों और समय को
संजोकर रखते हैं वे

जहाँ जहाँ होता है जीवन
हवा, पानी, मिट्‌टी और आग जहाँ होते हैं
धब्बे और दाग
ज़रूर वहाँ होते हैं

वे बच्चों को देते हैं चुनौती
कि हमारे बिना ज़रा खेलकर दिखाओ
(बच्चे तो अच्छी तरह जानते हैं
कि जिन बच्चों के हाथ या कपड़े

स्याही से रंग जाते हैं
वे बच्चे ज़रूर पास हो जाते हैं)
जीवन से जूझते जवान हों
या बूढ़े और बीमार
दाग धब्बे किसी को नहीं बख्शते
महापुरुषों की जीवनियों में
उनके होने का होता है / गुणगान
कौन से बचपन पर, यौवन पर या जीवन पर
वे नहीं होते
हाँ कफन पर नहीं आना चाहते
दाग धब्बे, मुर्दों से बचते हैं

गन्दी सन्दी जगहों पर कौन रहना चाहता है
दाग धब्बे / साफ सुथरी जगहों पर आना चाहते हैं।

ईश्वर

उसकी मर्ज़ी के बिना
पत्ता तक नहीं खड़कता
वो कहता है पत्ते खड़को
तब पत्ता खड़कता है
वर्ना पत्ते की क्या मजाल

वही तो लाता है बीमारी, महामारी, अकाल और मौत
वही करवाता है हत्याएँ और बलात्कार
उसी ने करवाये दंगे, नरसंहार और युद्ध
घृणा की आग में उसी ने झोंक दी ये दुनिया

निराकार नहीं है वो
पर किसी बात का जवाब नहीं उसके पास
क्योंकि सब कुछ तो उसी का किया धरा है
दरअसल मुँह दिखाने काबिल
अब वो रहा ही कहाँ।

[विवेक खंड, 2/5, गोमती नगर, लखनऊ-226010]

❑ **निदा फाज़ली**

मुर्दाघर में बटवारा

सारी लाशें एक-सी थीं
वो ही आँखें मेरे जैसी
वो ही टाँगें तेरे जैसी
सारे बच्चे बच्चों जैसे
सारे बूढ़े बूढ़ों जैसे
सारी लाशें चुप थीं लेकिन!
मुर्दाघर के चारों जानिब
शोरगुल था
मौत के सौदागरों का
ज़िन्दगी के दुश्मनों का
चलती-फिरती सरहदों का

चोटियों में
दाढ़ियों में
बिंदियों में
नाक के नीचे की
नंगी झाड़ियों में
ज़िन्दगी को जिस तरह
टुकड़ों में बांटा जा रहा था
मौत को भी जात और धर्मों में
बाँटा जा रहा था
कौन किसका?
किसके कितने?

गम तो गम है
जाफरानी क्या हरा क्या?
मेरे मातम में वहाँ जितने भी थे
इन्सान थे वो
टूटा फूटा मेरा
हिन्दुस्तान थे वो—

थोड़ी-सी कमी

हर कविता मुकम्मल होती है
लेकिन वो कलम से कागज़ पर
जब आती है
थोड़ी-सी कमी रह जाती है

हर प्रीत मुकम्मल होती है
लेकिन वो गगन से धरती पर
जब आती है
थोड़ी-सी कमी रह जाती है

हर जीत मुकम्मल होती है
सरहद से वो लेकिन आँगन में
जब आती है
थोड़ी-सी कमी रह जाती है
फिर कवित नई
फिर प्रीत नई
फिर जीत नई वह लाती है
हर बार मगर लगता है यूँ ही
थोड़ी-सी कमी रह जाती है।

[मुम्बई, महाराष्ट्र]

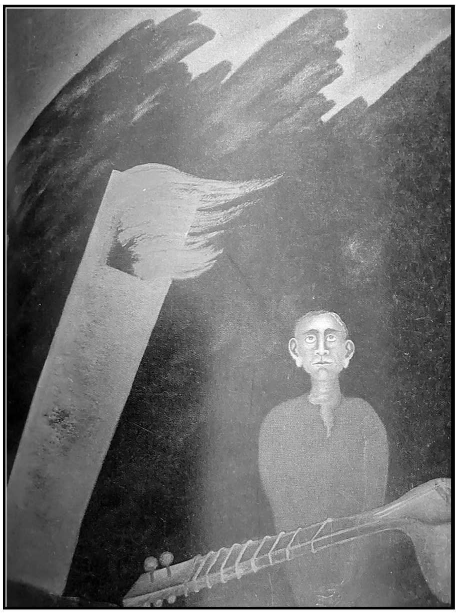

❑ **अवधेश कुमार**

चप्पल

चमड़ी कवच है देह की
जिसमें आत्मा वास करती है

देह की सरहद पर
तलुओं के नीचे
ये जो चप्पल है
चमड़ा है किसी देह का

यह एक सम्बंध है
देह का देह से
और देह का आत्मा से
मैं चाहूँ या न चाहूँ
मेरे तलुए से जुड़ी रहेगी
कोई यातना।

इस जगत के प्राणी

इस जगत के
तीन प्राणी
वैसे तो भरेपूरे हैं
लेकिन डरे-डरे हैं

एक उड़ता है
एक तैरता है
एक चलता है

चिड़िया—
चिड़िया को डर है बाज़ का
मछली—
मछली को डर है घड़ियाल का

आदमी—
और आदमी
और आदमी
और आदमी को डर है
आदमी का।

तोता

तोता एक संवेदनशील प्राणी है
वह शाकाहारी भी है
अमरूद खाता है और हरी मिर्च चबाता है

सांस्कृतिक तौर पर
जितना शोभायमान बनाता है पिंजरे को
वह तोता—उतना और कोई पक्षी नहीं बनाता
वह सही-सही अनुकरण कर लेता है

वह बहुत सुरुचि सम्पन्न है
हर नायिका की कहानी में रहता है
और अपने तथा नायिका के बीच
नायक भी उसे सह लेता है
मास्टर जी
उसकी रुचियों को
बच्चे की आदत में
ढालने के लिए कृतसंकल्प हैं।

[देहरादून, उत्तराखण्ड]

❑ **जितेन्द्र कुमार**

सत्य की खोज

अन्धकार में माचिस की तरह
मैं सत्य खोज रहा हूँ।
बिखरी किताबें मुझसे टकराईं
वे मेरे घर में कहाँ से आईं?
हज़ारों विचार राख दबे अंगारों से
दहक रहे हैं।
स्वप्न-छायाओं में जीवन कहाँ है?
— यातना कक्षों में!

बुद्धिजनित ज्ञान की चतुराई में रूप कहाँ है—
आग्रह-पूरित स्त्री-गुहाओं में?
सारी धरती और उसके बच्चे सो रहे हैं!
मैं प्रतीक्षा में हूँ अब उसकी
जो प्रेम के जमा-खर्च से दूर
भले-बुरे की पहचान से दूर
मुझ तक ऐसे आएगी
कि वह स्वयं मेरी रचना-प्रक्रिया का
रूप ग्रहण करेगी!

अश्लीलता और छिछलेपन को
हमारी दुनिया ने शाश्वत सत्यों
और दार्शनिक विचारों के नाम से पुकारा है।

अप्रत्याशित

जब वह जाने लगी मेरी रोने की इच्छा हुई
अजीब बात यह थी कि वह मेरी पत्नी थी
पहले ऐसा कभी नहीं हुआ
आगे भी नहीं होगा—
पर वह मेरी पत्नी बनी रहेगी

पत्नी कैसी भी, पत्नी होती है
मृगतृष्णा वह नहीं होती
उसके जल-कुंभ खारे हों या मीठे
हमेशा स्थित तो होते हैं
—खारे हुए तो आँसुओं से बने होंगे

उसके जाने के बाद मैंने दो गोलियाँ खाईं
अपना स्वास्थ्य ठीक रखने और बचा हुआ मम!
वह कड़ी धूप में जा रही थी
जो मेरी खाल को खरोंच-खरोंच कर
उतारती है!

वह एक धधकता दिन था या शायद दिल!
आज मुझे किसी बात के लिए परेशान
नहीं करना— उसने कहा—
मैं एक बीमार और वृद्ध आदमी हूँ!
आज मुझसे किसी बात पर बहस करना
ठीक नहीं होगा!

सवेरे का वक्त था
बच्चे खुली धूप में प्रार्थना गा रहे थे
जिसका एक भी शब्द उन्हें मालूम नहीं था
बस बच्चों को धूप में खड़ा रखना
बड़ों को अच्छा लगता है

प्रार्थना हो, नेता का आगमन या
ढोंग का कोई और अवसर!
मैं अपने कमरे में एक कूलर के बहुत
नज़दीक बैठा था—
मैं वृद्ध बीमार और एक बड़ा आदमी

आज मुझसे किसी भी बात पर बहस
नहीं करना।

[केन्द्रीय विद्यालय, होशंगाबाद-461005]

❑ **अष्टभुजा शुक्ल**

किसानी का गाना

एक बूँद ज़मीन
एक बूँद पानी
एक बूँद पसीना
एक बूँद डीज़ल
एक रुपया कर्ज़
बराबर एक दाना
किसानी का गाना
गाये मस्ताना!

संसदीय इतिहास

देश के संसदीय इतिहास में
किसी कृषिमंत्री ने
गर्व से अज्ञान से या खिसियाकर
कहा था कभी—
बैल ही हमारे ट्रैक्टर हैं!

पुराणों के किसी प्रजापति ने कहा था कभी—
गोरू ही हमारे गोरस, ईंधन और आवाँ हैं।

आयुर्वेद के किसी चरक और सुश्रुत ने कहा था—
गायों के रहते रोग फटक नहीं सकते राष्ट्र में।

गरीबों को आशा थी
कि जब साक्षात् कामधेनु है हमारे यहाँ
तो कभी न कभी
सोने की कटोरी में
दूध-भात खाएँगे हमारे बाल-गोपाल
हरे-भरे कछार में गायें चराएँगे
पीएँगे अँजूरी से निर्मल जमुन-जल
चार पहर चैन की वंशी बजाएँगे

कदम्ब की छाँव में निधड़क सो जाएँगे
अघासुर आएगा तो वह भी अघाएगा

कभी का मर गया वह अकिंचन कृषिमंत्री
प्रजापति रक्तबीज बनकर
प्रकट हुआ कई कई भूपतियों में
चरक और सुश्रुत चले गए गोलोक
जमुना में फुफकार रहा कालिय नाग
अघासुर निश्शंक होकर
गायों को खा रहा
और छलिया यादवेंद्र
राजनीति की रणभेरी बजा रहा!

[संस्कृत महाविद्यालय, चित्राखोर, डाक. बरहुआ, ज़िला बस्ती, उ.प्र.-272123]

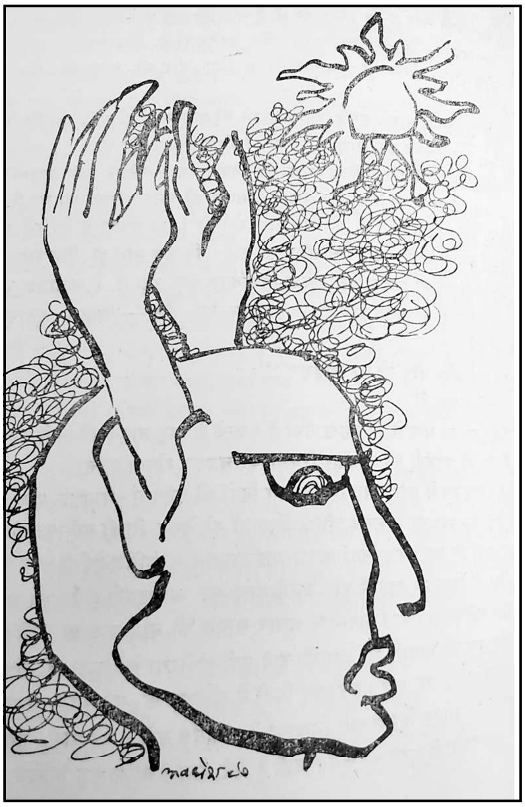

कथा क्रम : तीन

पतलियों और मुँह के बीच

❑ राजकुमार राकेश

चढ़तू भाईचारे में उसका भतीजा लगता है। साधुराम को अपनी प्रतिष्ठा का बहुत मान है। उसकी बात चढ़तू नहीं टालेगा। कतई नहीं! आखिर वह गाँव का मोहतबर आदमी है। उप-सरपंच है। मक्खू नेता का घनिष्ठ है...बिल्कुल खास...नेता का अंतरंग होना एक ऐसी योग्यता है जिसे नज़रअंदाज़ करने की ज़ुर्रत आज के युग में कौन कर सकता है। मक्खू नेता के स्वागत समारोह के लिए ही तो चंदा माँगा जा रहा है। गाँव सड़क से जुड़ा...उसका उद्‌घाटन स्वयं में ऐतिहासिक घटना है...पूरे गाँव का फायदा है...फिर माँस-भात अकेले मक्खू साहब ही तो न खाएँगे...सब ग्रामवासी...चढ़तू भी खाएगा...चढ़तू के तीन लड़के भी खा लेंगे। पचास रुपये सर्वजन हिताय चंदा दे देना कौन बड़ा कारतूस फोड़ना है।

पर चढ़तू दो टूक था। उसने जब नहीं मानना होता है तो सगे बाप की भी नहीं मानता। साधुराम किस खेत की मूली...मक्खू बड़ा होगा अपने छप्पर पर। चढ़तू ने उससे क्या लिया और चढ़तू को उसने क्या दिया। तीन-तीन लौंडे उसकी कमाई पर तीर हो रहे हैं और वह रोज़ ही कमान बनता जा रहा है। लगवा दिया मक्खू ने एक को भी नौकरी। पाँच साल से झींक रहा है चढ़तू उसके पीछे...! साधुराम, मक्खू का लाडला बनता है...यह करवा देगा, वह करवा देगा। ज़िंदा ही चढ़तू को स्वर्ग में उतार देगा...चढ़तू को! हा...हा...हा... अनपढ़ चढ़तू को!

''मक्खू साब से अभी काम लेने हैं, चढ़तू! तेरा अभी एक भी लड़का सरकारी नौकरी में नहीं लगा है।'' साधुराम ने पासा फेंका।

साधुराम दांव बहुत होशियारी से चलाता है। फिर सरकारी नौकरी ऐसी हड्डी है जिसे चबाने का आनन्द सभी लेना चाहते हैं। कहीं अच्छा महकमा हाथ लग गया, विटामिन 'आर' वाला तो सोना ही सोना...जो नौकरी घर के पास हो तो जमीन-खेती का काम 'हाबी' बनकर लुढ़कता है। 'आधे क्लर्क-आधे किसान' या 'आधा मास्टर-आधा मजदूर' चाहे बने रहें। कुल मिलाकर साधुराम की बात में वज़न था। पर चढ़तू ने 'हम भी उस्ताद हैं' के लहज़े में उत्तर दिया, ''नौकरी।...हा...हा...हा! कानों में पीक पड़ गई सुनते-सुनते...तीन 'हालड़' (वर्णशंकर) दस-दस जमातें पढ़कर मेहरे की तरह घूमते हैं...न काम-धाम! नौकरी देगा मक्खू तब तक चढ़तू की कमाई पर डकारें मारो। गधों का गाह्या हुआ है चढ़तू के बाप के घर...।''

साधुराम कृपणता से हँसा, ज्यों हँसी परत-दर-परत खुलने में ही सुख पाती हो। मालूम था चढ़तू बिदकता है। सावधानी से नकेल पर हाथ कसते हुए बोला, ''अब की बार पक्का! तेरे सामने कान खींचूँगा मक्खू के। जो अबकी टरकाया तो फटकने नहीं दूँगा गाँव में!''

चढ़तू की आँखों में बेबसी का एक तारा टिमटिमाया। आवाज़ का स्टीरिंग ऊपर की दिशा में स्वतः घूम गया। यूँ उसने स्कूल का द्वार नहीं देखा है। जो थोड़ा-बहुत काला अक्षर

मच्छर बराबर भी जानता होता तो आज देश को उच्च कोटि का एक और व्यंग्यकार मिल गया होता। बोला, ''तूने कह दिया तो लग गयी हरामखोर की नौकरी...लाख झकता हूँ इन सुअर के बच्चों को कि हथौड़ी-टंकी पकड़ो और पेट भर खाओ। पर दस जमातें जो पढ़े हैं...अनपढ़ बाप की तरह पत्थर तोड़ेंगे तो दो और दो पाँच कौन करेगा!''

साधुराम राजनीतिज्ञों के कान कुतरता था। सेना में पनपा उसका रूखा स्वभाव राजनीति के कीटाणुओं के प्रवेश के साथ मक्खन चुपड़ी लकड़ी की तरह मुलायम हो गया था। हथेली पर से आदमी फिसल जाए तो राजनीति किस काम की...''मैं सच कहता हूँ चढ़तू ...मूँछ कटवा दूँगा जो इस बार तेरा काम न हुआ!''

चढ़तू जानता है दूसरे की छाछ पर मूँछ कटवाना चाहे कठिन हो पर मूँछ नरम करना आसान है। उसके क्रोध का बिदका हुआ घोड़ा कुलांचे भरने लगा, ''तू बड़ा हरिश्चंद्र का बाप है। झूठ तो चढ़तू बोलता है...''

साधुराम की हँसी की अगली गाँठ खुल गई...''मैं जानता हूँ तू मज़ाक करता है। पचास रुपये तो तेरे पैर का मैल है।''

चढ़तू का पारा कुछ डिग्री और ऊपर चढ़कर खौलने लगा, ''फागू से मांग...वह देगा ...चढ़तू ने ठेका नहीं लिया है।''

फागू साधुराम का बाप था जिसका चतुवर्षिक श्राद्ध महीना भर पहले धूम-धड़क्के से सम्पन्न हुआ था। अट्ठाइस मन चावल की धाम रची थी। महा-ब्राह्मण साढ़े तीन सौ नकद और ढेरों सामान बटोरकर लौटा था। फागू का सगा बड़ा भाई माधू चढ़तू के बाप गैंडा का बाप था। पर मदमस्त हाथी के पाँव के नीचे सबका...कड़ी से कड़ी बात कहकर साधुराम के मर्म पर आघात के प्रयोजन से चढ़तू ने कहा था पर उसकी हँसी की अंतिम गाँठ भी खुल गई, ''बात तो तू कलाकारों वाली करता है।''

चढ़तू अपने वारों की निष्क्रियता से तिलमिलाकर रह गया, हारे हुए जुआरी की तरह। आखिर विष बुझा चाकू फेंका, ''अपना काम निकालने के लिए लोग गधे को भी बाप बना लेते हैं...पर चढ़तू चमार का पूत जो खोटा पैसा भी दिया...कोई चूतड़ तक जोर लगा ले...सरकारी नौकरी का पैसा नहीं है। यहाँ रग्ग मरवानी पड़ती है खड्ड में!''

पहाड़ी नाले में चट्टानों का जंगल! गाँव से थोड़ा ऊपर। चारों ओर नीरवता का साम्राज्य। घुटनों के बल रेंगते बच्चे के से गाँव के जीवन का अहसास तक नहीं, बरसात में उच्च रक्त-चाप के मरीज़ के खून की तरह उफनता पहाड़ी नाला आजकल पानी की बूँद के लिए तरस रहा था।

ठक...ठक...ठक...! टंकियों पर पड़ती लोहे की हथौड़ी की कितनी ही आवाज़ें नीरवता को बेंधती हुई लगातार बज रही हैं। विशालकाय चट्टानों के टुकड़े करती विकराल ध्वनियाँ बजती ही जा रही हैं। अनवरत।

चढ़तू घौना और भूरा की त्रिकालदर्शी सेना दैत्यों-सी कुरूप चट्टानों से जूझ रही है। दो-चार चरवाहे आमने-सामने के जंगलों में 'होए-होए' अथवा 'जिंदा रह मरणजोगया' की आवाज़ों से चुप्पी की पसलियों में एकाध कील गाड़कर पुनः चुप हो जाते हैं। कभी कोई भूला-भटका पक्षी प्यास से व्याकुल किसी घने वृक्ष की छाया में दुबका चहचहा देता है।

चढ़तू ने हथौड़ी छोड़ माथे का पसीना पोंछा। सामने रेत तले दबी आग को कुरेदा और चिलम भर ली।

भूरे ने काम रोककर मुँह पर हाथ फेरा। मिट्टी की सुराहीनुमा औली से लोटे में पानी उंडेलकर पिया और चढ़तू के सामने आकर पत्थर से पीठ टिका पसर गया।

घौना घन से चट्टान में गड़ी टंकियों पर वार कर रहा था। ठाक...ठाक...ठठाक! और चट्टान दो फाड़।

भूरे ने चबाते हुए तिनके को मुँह से थूकते हुए आवाज़ दी, ''आजा ओए कमाऊ पूत... मार ले एकाध सूटा!''

चढ़तू मुँह और नाक से धुआँ उगलते तनिक खांसते हुए बोला, ''कमा ले प्यारे लौंडों का पेट भरने के लिए, जब्बरा होगा तो भूखा मरेगा...कौन पूछेगा तब! अपने हाथ का आसरा ही भगवान है, भाऊआ।''

घौना आ गया। चिलम भूरे के हाथ में थी। बैठते हुए अपने पोपले मुख की हवा का नियंत्रण त्याग बोला, ''ले आ ओरे दे...मारिए सूट्टा।''

भूरे ने गहरा कश खींचा। भरे कुए फेफड़ों को खाली करते हुए चिलम घौना की ओर बढ़ा दी। चढ़तू रात के अँधेरे में बिजली-सा कौंधा, ''ससुरे समझते हैं झमकू की कमाई है... नाले में पत्थर फाड़ा और नीचे नोट ही नोट गड़े मिलते हैं...जब चाहा मांग लिया चंदा...''

भूरे ने जिज्ञासा प्रकट की, ''झमकू कौन?''

चढ़तू बोला, ''अरे, इतना भी नहीं जानता, झमकू को नहीं जानता...हि हि हि! ओए ...नेता रा क्या नांव...मक्खू...हाँ, हाँ उसका बाप था झमकू...झमकू लंबरदार।''

भूरे ने हँसने में कंजूसी नहीं बरती। चढ़तू और घौना अपनी-अपनी शैली में इसमें शामिल हुए...''मैं तो लाल पाई न दूँ स्सालों को...पचास रुपये दे दो मक्खू के पेट में बकरा भेजने के लिए। भला भैंसे की कमाई है? कौन-सा साला बाप लगता है।''

घौना ने निःश्वास खींचा, ''मुझसे तो ले गए भाई...साधुराम कह रहा था मेरे लड़के को मक्खू नौकरी लगवा देगा।''

''पचास रुपये का मांस घर लाए तो टब्बर तीन दिन खाएगा,'' भूरे ने गणित जोड़ा।

घौना पर पश्चाताप का सूरज अपनी उष्ण रश्मियों से आग उड़ेलने लगा। वह मारा गया। दोनों शैतान बच गए। मुओं ने पहले क्यों नहीं कहा। वह भी पचास रुपये न दे तो। चिलम छोड़ काम की तरफ दौड़ा जैसे पचास रुपये शीघ्र पूरे करना चाहता हो। चंदा देने का अनौचित्य चाशनी की कड़ाई में दूध डालते ही मैल की तरह तह पर आ गया।

चढ़तू ने बुद्धिमत्ता पर अंगढ़ाई ली और भूरे ने संतोष की सांस भरी।

पार्वती घाटी में प्रवेश पाते ही दिखाई दी। चढ़तू साहबों वाले टैम रोटी खाता है। शिखर दोपहर पर यानि बिना घड़ी देखे लगभग एक बजे। पार्वती पहुँचा देती है रोटी उसे नाले में। भूरा और घौना खाकर आते हैं।

पार्वती पास आ गई। भूरा चिलम छोड़कर उठ गया। चढ़तू औपचारिकता निभाने लगा, ''भूरे! खा ले रोटी... तू खा ले ओए, घौने चार कौर...।''

''नहीं...।''

''नहीं...नहीं...तू खा। हम तो खाकर आए हैं।''

पार्वती ने गाँठ खोली। देखते ही चढ़तू का भोजन छकने का सारा उल्लास क्षण-भर में ही कपूर के धूएँ-सा उड़ गया। मक्का की तीन रोटियाँ, पाव-पाव आटे से बनी। बाजरे के मिश्रण ने उन्हें सख्त कर दिया था।

''साग नहीं आज?'' आक्रोश भरे शब्द गाली की तरह पार्वती की ओर लपके पर उसने झट से बचाव का आवरण ओढ़ लिया, ''कहाँ है टैम खेत से साग चुगने का...तड़के से चूल्हा-चौका; गोबर उठाया-पाथा, घास काटा-छीला, ढोर-ढंगरों को सानी-पानी...मैं क्या करूँ! उधर बुड्ढा जान खा रहा है...कब चुगूँ साग...?''

ढेर सारे प्रश्न उसने चढ़तू की ओर उछाल दिये।

दो रोटियों पर पिसा हुआ समुद्री नमक रखकर उसने चढ़तू की ओर बढ़ाया। चढ़तू ने बाएँ हाथ को पसारा। फिर दाएँ हाथ से कौर तोड़ने लगा। लाल मिर्च साबुत थी। छाछ का लोटा उसकी ओर बढ़ाते हुए पार्वती ने कहा, ''परसों की थोड़ी-सी छाछ बची थी...ले...।''

चढ़तू के चेहरे पर सूरज उगा। बेबसी का सूरज। हरे साग के बिना छल्ली की रोटी कैसे धकेलेगा गले के भीतर। यह नासमझ इतना भी नहीं समझती। छाछ ले पाएगी साग की जगह...बिन बरसे मेघ-सा गरजने लगा, ''आ ओए भूरे! देख तो सही...यह रांड मेरे घर को रेत बना देगी। इतना भारी खर्चा घर का और तीन-तीन सब्जियाँ खिला रही है...रोटी पर लूण, मिर्च और छाछ...तीन-तीन सब्जियाँ! घर का घरयाक्खड़ा करके रहेगी पट्ठी!''

भूरा और घौना काम-धाम त्याग भौंचक्क चढ़तू के रहस्योद्घाटन की प्रतीक्षा में उतावले हो रहे थे। सब्जियों का नाम सुनकर हँसे। उनकी हँसी सब्जियों पर नहीं थी। सब्जी तो वे भी प्रायः ऐसी खाते हैं, पर चढ़तू की भाषा-शैली ने उन्हें खूब प्रभावित किया था।

बहुत बार हुआ है जब कभी रास्ते में चलते-चलते अनायास साधुराम के घर से छौंके की बास नत्थुनों के भीतर घुस गयी और मुँह पानी से भरा गया। अंदाज़ा तो गंध से लग ही जाता है। कैसा होता होगा छौंकी सब्जी का स्वाद! अपना...पर चढ़तू भी तो अपनी ही तरह का आदमी है। साग के बिना रोटी नहीं खाता। यूँ तड़के छौंके की उसने कभी परवाह नहीं की पर साग चाहिए। बस, हरे पत्तों और मोटे चावलों का पका-अधपका मिश्रण...। चटपटा ... नमक मिर्च से भरपूर। सी-सी न हो जाए तो खाया न खाया बराबर।

पार्वती उसके व्यंग्य पर हँस दी। उसकी हँसी में पहाड़ी मन्दिर की ठुनकती घंटियों की टंकार नहीं थी, बल्कि किसी अग्निशमन गाड़ी में रफ्तार से बजते घंटों का शोर था।

चर्र...चर्र...चर्र...चबाने लगा चढ़तू रोटी। छाछ, लाल मिर्च यूँ चबाता जैसे सलाद हो।

यकायक गिद्धों का एक झुंड शैडई करता सिर पर से निकल गया। जिज्ञासा ने सब आँखों को ऊपर उठाया। पार्वती ने सूचित किया, ''सूहणू की गाय मर गयी। फांदी रगड़कर ले आया है नाले में। चाम निकालेगा...माँस पर झपट पड़े हैं गिद्ध!''

''भूखे हैं बेचारे,'' भूरे ने अपनी चेतना को समेटा।

''माँस रोज़ ही थोड़े मिलता है,'' घौना ने कहा।

फिर ठक...ठक चालू हो गयी। पार्वती ने आकाश में घिर आए बादलों की ओर देख कर चिंता प्रकट की, ''बादल छा गया है, पता नहीं ओबरे में इस बार कनक आएगी भी कि खेत में ही सड़ जाएगी।''

चढ़तू ने कौर गले के भीतर ठूँसते हुए वृद्ध योगी की तरह थथलाई वाणी में उत्तर

दिया, "तू तो भगवती है...जानती है क्या होने वाला है। भेज दी न धर्मराज ने खबर!"

उसकी पीठ पर ज्यों चाबुक कौंधा। ज़रा रोष में आकर कहा,"सुनता तो है नहीं... पिछली धान की फसल खेतों में ही नहीं रह गयी थी, इतने ओले बरसे थे कि दाना हाथ न लगा...सिर्फ छछरे खड़े रहे थे...।"

चढ़तू लंबी साँस छोड़ते हुए बोला, "धान आए होते तो बैसाख की इस जलती दोपहरी में यहाँ नाले में खपना पड़ता?"

उसने चील के पंखों की तरह हाथ पसारे। दुष्कीर्ति की तरह हथेलियों पर उभरे मरे हुए उत्तकों के छाले दिखाकर झुंझलाने लगा, "दस रुपये दिहाड़ी पर टब्बर के भूखे पेट भरने के लिए पत्थर कूट रहा हूँ। तीन-तीन 'हालड़' जने तूने, दस जमातें जो पढ़ गए...पर किस काम के...इधर बुढ्ढे की बीमारी...खपता है चढ़तू तो खपे, किसी के बाप का क्या जाता है...क्यों भाई भूरे...हैं भाई घौने?" इस बार उन दोनों ने नहीं सुना शायद ठक-ठक-ठक...।

"मैं कम खप रही हूँ इस जंजाल में..." पार्वती भी कबूतर के सीने की तरह तन गई।

"अच्छा! अब भाषण बंद कर और दौड़ जा घर को," चढ़तू के पौरुष की भट्टी पुनः दहकने लगी, "पंडत को बुलाकर बापू को दिखा ले। घर पर ही होगा। आज इतवार है... धागा-धूणी ले...सारा दिन कमाणा और रात को सोने का टैम नहीं...तू मुझे कोल्हू का बैल समझती है।"

"जंतर गले बाँध दिया था। पंडत ने धूणी दी थी कल...फिर बुला लाऊँगी...।"

गैंडा कई महीनों से बीमार है। लाचार। बिस्तर से बंधा हुआ है। न जी रहा है न मर रहा है। लोग हैरान हैं कि ऐसी भी क्या बीमारी जो ठीक होने का नाम नहीं लेती। जरूर कोई भूत-प्रेत लड़ गया है। बड़े चेले-ओझों को दिखाया। खूब झाड़-फूँक करवाई पर मर्ज़ बढ़ता ही गया।

दवाइयाँ महंगी हैं। चढ़तू कहाँ से फूँके अंग्रेज़ी दवाई में पैसे? बुड्डे ने पूरी ज़िंदगानी अंग्रेज़ी दवाई को हाथ नहीं लगाया। अब मरती बार धर्म पर कलंक लगाएँ। गुरिया वैद की दवाई अच्छा असर करती थी गैंडा को। पर अबकी बार तो ओपरी है। भूत-प्रेत की बीमारी में दवाई से क्या होगा? कितने ही कुक्कड़ों की बलि दी, कुलजा देवी को पहरू चढ़ाया—भूत-प्रेतों की बहुतेरी झाड़-स्वाहा की, मन-मनौतियाँ मनाई पर गैंडा नहीं छोड़ता बिस्तर। अंत समा आ गया शायद। ऐसे में क्या होगा, फिर भी कोशिश करना तो इंसानी फ़र्ज़ है। पर चढ़तू क्या करे। सब काम छोड़ बाप के सिरहाने बैठ जाए तो टब्बर खाएगा क्या? अकेला वह कमाने वाला। सात-आठ जिऊ निगलने वाले।

पंडत त्रिलोकीनाथ माने हुए चेले हैं। उन्होंने विश्वास दिलाया है, उनका इलाज गैंडा को ज़रूर ठीक करेगा! मरे हुओं को जीवन दिया है उन्होंने। बड़ा विश्वास करती है पार्वती उन पर। कितने बड़े आदमी हैं। स्कूल में पढ़ाते हैं। बहुत पढ़े-लिखे है। हज़ार रुपये से कम महीना तो क्या पाते होंगे? पर पार्वती को अपना मानते हैं। गैंडा का इलाज़ करने आते हैं तो घंटों उसके पास बैठे रहते हैं। यूँ कभी किसी के घर नहीं जाते। पर पार्वती की बात कभी नहीं टालते। अपने आराम की परवाह नहीं। कितना स्नेह रखते हैं पार्वती के साथ।

पार्वती जवानी में बड़ी सुन्दर थी। अब पाँच बच्चे हो जाने पर भी अच्छी कमनीय देह है उसकी। चढ़तू मरियल है। खुरदरे जिस्म का मालिक। पेट में कुछ पड़े, चिकनाई वगैरह

तभी तो कुछ सूरत उभरे। गाल की हड्डियाँ पिचकी हुई हैं। त्रिलोकीनाथ की तरह दूसरा कौन है गाँव में...तभी पार्वती को भी गर्व है! पिछले कल ही रात गैंडा के पास कितनी ही देर बैठे रहे। कागज़ पर लिखकर, सरसों के तेल में भिगो, पलीतों की धूनी देते रहे उसे। दस जंतर गंगाजल में धोकर पिलाए। कभी किसी को दो-तीन से ज़्यादा जंतर नहीं देते एक साथ। 'नाहरसिंह' जैसी आत्मा से उलझ पड़े हैं उसके लिए। पार्वती के यहाँ ही सोए रहे बेचारे रात-भर...चढ़तू दिन-भर का थका-मांदा पहरसवेल सो जाता है। दूसरे कमरे में खुर्राटे मारता है तो आधा कोस दूर सुनाई देता है। अजब नींद है मुअे की। गाँव के गंवार लौंडे कहते हैं कि पार्वती और त्रिलोकीनाथ की बहुत गहरी छनती है!

साँझ ढलने लगी थी। पार्वती त्रिलोकीनाथ को बुला लाई।

अपने-अपने कामों से लौटे थके-मांदे ग्रामवासी गैंडा का हाल पूछने आए। कमरे के कच्चे फर्श पर बिछी बोरियों पर बैठकर पूछते हैं, "गैंडा कैसा है? कुछ फर्क पड़ा कि नहीं?"

फर्क क्यों नहीं पड़ा, खैर! पड़ जाएगा। भूत-प्रेतों की बीमारियाँ अर्सा तो लेती हैं ठीक होने में। चढ़तू बेचारा बिपत में फंसा है, भाग्य उसका...फिर गप्पें...राजनैतिक बहस, हुक्का-पानी. ..मक्खू के आने की चर्चा, चंदा देने न देने का औचित्य...महफिल बढ़ती ही जाती है छाछ में पानी की तरह!

त्रिलोकीनाथ का बड़ा मान है गाँव में अनुभवी डाक्टर की तरह उन्होंने गैंडा का मुआयना किया। फिर प्रवचन शुरू। वे बोलने लगे तो शेष चर्चाएँ खत्म। ज्ञान का फैलाव...शुद्ध आचरण, धार्मिक होने का महत्त्व, ईश्वर की महिमा, देवी-देवताओं का प्रभाव, भूत-प्रेतों के बचाव आदि कितने ही अछूते विषय। उनके ज्ञान पर हैरान होते हैं लोग। पूरी किताब है। चलता-फिरता ग्रंथ! गाँव के लिए भेजा गया भगवान का दूत। दूसरों का हितचिंतक। सभी के लिए हितैषी...मुफ्त सहायक...कोई फीस-बीस नहीं! पार्वती उनके लिए दूध का गिलास लाई। "बाकी लोगों के लिए चाय आ रही है।" यह साथ सूचित कर दिया। चढ़तू बेचैन-सा है, "कुछ करो, पंडत जी! मैं तो तंग आ गया हूँ।"

"प्रयत्न ज़ारी है–उपलब्धि की प्रतीक्षा धैर्य से करें, ईश्वर पर भरोसा रखो। सांत्वना में उत्तर मिला। कहते-कहते वे दूध का घूँट भरने के लिए रुके। दूध पर तैर रही मलाई की मोटी परत आधी मुँह में घुस गई और आधी बाहर लटक कर गिलास में उलझी दीखने लगी। न भीतर खींचते बनता था न बाहर उगलते। वहाँ बैठे बहुत-से मुँहों में पानी उतर आया।

चढ़तू को पानी निगलते वक्त नाले में मिला छाछ से भरा एल्यूमिनियम का कूबड़ा गिलास याद आ गया। पर अपना-अपना...

फिर 'सड़ाप' की ध्वनि हुई। त्रिलोकीनाथ ज़रा झेंप गए ज्यों किसी ने जूते का तला दिखा दिया हो। सहज़ होकर पुनः समझाने लगे, "चढ़तू, बूढ़े प्राण हैं। क्या भरोसा, साँस आई न आई...कुछ दान-दक्षिणा जप-तप करवा दो तो धर्म हो...अगली राह सुधरे..."

"जो आप ठीक समझें..." चढ़तू बोला।

"जप रख दो, पंडत जी! गैंडा तभी ठीक होगा," बीच में एक सलाह उभरी।

"जप से ही ठीक होगा, भाई!" एक समर्थन।

"बाकी उपाय तो सब हार गए...।"

"हाँ-हाँ! रखवा दो जप...ज़रूरी है...," दो-तीन आवाज़ें एक साथ आयीं।

''खर्च तो काफी पड़ेगा... ।''

''खर्च की कौन मार लगी है चढ़तू को...बुड्ढे ने संपत्ति जोड़ी ही है, खोया तो तिल नहीं,'' एक निर्णायक ध्वनि उभरी।

पार्वती ने दो टूक फैसला सुना दिया, ''रखो जप जी... बुजुर्ग के लिए सब करूँगी... कराने वाला ताकत दे।''

त्रिलोकीनाथ के खान-पान में जुटी पार्वती ने दो-तीन सब्जियाँ-दालें, फल-मेवे न जाने क्या-क्या बना डाला। चंडी जाप की कठिन तपस्या में भली खुराक का महत्त्व अक्षुण्ण है।

दिन-भर की कठिन यात्रा से थका सूरज पश्चिम के क्षितिज में छिप जाने को आतुर था। पंडत जी भोजन को प्राप्त हो रहे थे। रघ्घू दरवाज़े के पीछे छिपा किनारे के चीरों से मुँह में टपकी लारों को भीतर समेटता फटी निगाहों से उन्हें खाते हुए एकटक देख रहा था। जग्गू खिड़की में से झाँक रहा था। वह मन ही मन उस भोजन के स्वाद का अनुमान करता सूखे होंठों पर जीभ फिरा रहा था।

हेमू रसोई के कमरे में बैठा पंडत जी की थाली में परोसे भोजन पर नज़रें गड़ाए था। जैसे कोई भूखी बिल्ली बिल में घुसे चूहे की ताक में बैठी हो। झपट्टा मारने को लैस। पर त्रिलोकीनाथ की उपस्थिति में आतंकित वह दीनता व भद्रता की प्रतिमूर्ति बना बैठा था।

त्रिलोकीनाथ ने खाना समाप्त किया। फल और मेवों की बारी थी। पार्वती ने हेमू को आदेश दिया, ''आँगन के घड़े से लोटा भर पानी ला...पंडित जी हाथ साफ करेंगे।''

हेमू के गले में पानी का झरना फूट गया। कुछ बोल नहीं सका। वहाँ से उठना भी हानिकारक था। बाहर गया नहीं कि रघ्घू और जग्गू रसोई झपट लें और वह रह जाए।

इसी उपक्रम में वह दूसरी ओर कुछ यों ही खोजने लगा। तभी त्रिलोकीनाथ लोटा हाथ में उठाए हँस की चाल से दरवाज़े की ओर बढ़े।

तीनों भाई भूखे गिद्धों की तरह रसोई पर झपटे। रघ्घू ने खीर के खाली पतीले पर हाथ मारा। केवल बची एक झीनी-सी परत, जो कड़छी से कुरेदी जा चुकी थी। हाथ से पोंछ-पोंछकर चटकारे लेता हुआ वह उसे चाटने लगा।

जग्गू के हाथ एक दाल और सब्जी की पतीली लगी। एक को बगल में दबाकर वह दूसरी पतीली की नमकीन परत पर टूट पड़ा। पार्वती झींकने लगी...''मर-भुखे हैं मुए! क्या सोचता होगा पुरोहित...कुत्तों की तरह लपकते हैं।'' बाकी बची खाली पतीलियाँ उसने अपने कब्ज़े में कर ली थीं। हेमू के हाथ खाली रहे तो उसने त्रिलोकीनाथ की झूठी थाली पर अवैध कब्ज़ा जमा लिया।

तभी चढ़तू आ गया...''ल्याव रोटी दें...पेट जल रहा है...दिन में भी तूने आज रोटी नही पहुँचाई। सारा दिन भूखे पेट तोड़ता रहा पत्थर... ।''

इस कथन की विवशता से अनभिज्ञ पार्वती ने रणचंडी के भाव चेहरे पर समेट लिए, ''घर में जप हो रहा है। खाना लेकर नाले में कैसे पहुँचती। इतनी-सी बात नहीं समझता. ..दो-चार दिन की तो बात है। खुद ले जाया कर...धर्म के काम में तेरी रोटी का विघ्न अच्छा तो नहीं लगता।''

भूखे पेट चढ़तू के व्यंग्य की धार पुरानी दरांती की तरह निस्तेज हो गई थी। वह चुपचाप बैठ गया। पार्वती ने सुबह की पकी मक्का की दो रोटियाँ पीतल की थाली में डाल दी और

वह सब्जी की एक खाली पतीली की पीली परत से छूकर मुँह में डालने लगा...''छाछ नहीं है क्या?''

''कहाँ से होगी छाछ? पुरोहित जी जप में हैं, इतना मेहनत का काम...दूध होता ही कितना है जो उनसे बचाकर रखूँ दही जमाने के लिए...चार-दिन की तो बात है।'' पार्वती ने निर्मम आघात किया।

...चर्र...चर्र...चढ़तू खाने लगा था ज्यों कोई भूखी भैंस अनमनी-सी भूसे में मुँह मारती जुगाली करने में विवश हो। उसके उठते ही तीनों लड़के पार्वती से उलझ पड़े।

''हमारे पल्ले में यही रूखी-सूखी रोटी...घी लाकर दे...।'' जग्गू तमका।

''कहाँ से लाऊँ...मैंने गाड़ रखा है क्या?''

''पुरोहित को कहाँ से देती है?'' हेमू ने हस्तक्षेप किया।

''शी...!'' अधर पर उंगली रख धीमे बोली,'' पाप लगेगा, तुझे... ऐसा मत बोल!''

रघ्घू ने विषय पलट दिया, ''बापू कितना कंजूस है। मक्खू सा'ब आ रहे हैं। साधुराम के घर धाम पड़ेगी...मीट की धाम! बापू ने चंदा देने से इन्कार कर दिया। कौन फटकने देगा हमें वहाँ?''

जग्गू ने चटकारा लिया, ''बहुत अच्छा मीट बनेगा!''

हेमू ने उक्ति भिड़ाई, ''मैं तो चुपके से पांत में घुस जाऊँगा।''

''निकाल बाहर फेंकेंगे तुझे लोग,'' रघ्घू ने अपनी बुद्धिमता जताई।

''तो बापू पैसे दे सकता था। हम सब भी खा लेते, इतनी कंजूसी...यहाँ जप में तो सैकड़ों लग रहे हैं...''

''ओए, चुप रहो गधो!'' जग्गू ने रोष प्रकट किया, ''धर्म के काम में ऐसे कटु बचन मत बोलो।''

''बापू तो दे भी देता, पर भूरे ने उसे उकसाया हुआ है।''

''भूरा बदमाश है,'' हेमू ने सुराग लगाया, ''खुद तो मीट खाता ही नहीं है...हमारे पेट में लात मरवा दी।'' जग्गू ने खुलासा किया।

''निपटेंगे उससे,'' रघ्घू ने इरादा प्रकट किया।

आठ दिन के घोर जप ने भी भगवान को प्रसन्न नहीं किया, शायद पुरोहित की दक्षिणा और सेवा-सुश्रूषा में कमी खल गई हो अंतर्यामी को।

गैंडा की हालत वर्कशॉप में पड़ी मोटर की तरह लगातार बिगड़ती चली गई।

आज साधुराम ईद के चाँद की तरह उगा था। पार्वती को डपटने के स्वर में कह रहा था, ''तुम लोगों को पता नहीं कब अक्ल आएगी। इसका कुछ दवादारू करो। हस्पताल ले जाकर दिखाओ।''

पार्वती ने क्रोध का घूँट पीकर उत्तर दिया, ''जप करवाया, ओपरी का इलाज़ चल रहा है...अंग्रेज़ी दवाई से धर्म भ्रष्ट करें अब आखर में?'' साधुराम हँस दिया। उसकी व्यंग्य भरी हँसी पार्वती को दग्ध चिमटे की तरह छू गई। फौज़ में रह चुका है। उसी का रौब डालता है। पार्वती जानती है अपने को बहुत समझदार मानता है।

तभी भूरा और घौना चढ़तू को सहारा देते हुए लाए। उसने अपनी बाईं आँख हथेली से ढक रखी थी और पीड़ा से कराह रहा था।

''भाभी! इसकी आँख में पत्थर की किंकरी ने जख्म...,'' भूरा प्रथम संवाददाता की

तरह बोलने लगा था।

पार्वती ने चढ़तू की हथेली हटाकर देखा। आँख से खून रिस रहा था। कुंगू की तरह लाल थी आँख। प्रयत्न से भी खोली नहीं जा रही थी। प्रकाश उसमें विष बुझे भाले-सा लग रहा था।

भीड़ जमा होने लगी थी। 'क्या हुआ, कैसे हुआ' की उत्सुकता का सैलाब उमड़ चला था। फिर सुझावों की बाढ़ आने लगी।

''हस्पताल ले जाओ,'' साधुराम ने कहा।

इसे अनर्गल प्रलाप की तरह नकार दिया गया।

''ओए...यह तो बुरा हाल है आँख का।''

''गर्दिश का फेर है।''

''उधर सयाना बीमार है और ऊपर से यह विपत...''

''हस्पताल...''

''ओए...छोड़ो हस्पताल...कल के लौंडे डॉक्टर बने हैं, क्या जानें इसके बारे में...''

''बिलकुल ठीक...''

''परले गाँव में क्या वह सयानी आँख से कूड़ा निकालती है...''

''हाँ, बहुत अच्छा...।''

''पता ही नहीं लगने देती...।''

''वहीं ले चलो...।''

प्रस्ताव स्वीकार हुआ और क्रियान्वयन में क्षण की भी देरी नहीं की गई।

भूरा और घौना ने उसे पुनः सहारा दिया। पार्वती पीछे-पीछे चली। अपने भाग्य पर आँसू बहाती...साधुराम की निंदा करती, ''हर वक्त अपनी ही हाँकता है। स्वार्थी, मक्कार! पंडत जी परोपकारी हैं...कितने ही विचार...!''

भूरा और घौना समर्थन में हुंकारते रहे। चढ़तू कराहता हुआ दर्द की भयंकरता की याद दिलाता रहा।

मक्खू साहब के आगमन पर उमड़ता जन समूह नदी के बहाव की तरह था।

सड़क का उद्घाटन हुआ, सार्वजनिक सभा हुई, फिर जनता की समस्याएँ जानी गईं।

तत्पश्चात साधुराम के घर के आँगन में भोजन के लिए पांतें बैठीं। मक्खू साहब के साथ गाँव के प्रतिनिधि स्वरूप साधुराम बैठे थे। राजनैतिक महत्त्व के क्रम में शेष कार्यकर्ता उनके इर्द-गिर्द सिमटे थे। हर कोई घनिष्ठता की इस परिधि में सिमट जाने को आतुर था। उतावला...आत्मसम्मान का आकांक्षी! पर भाग्य अपना...।

उस ओर शोर उठा, ''क्या बात है...क्या बात है...।''

''चढ़तू का लौंडा पांत में घुस आया है।''

''बाहर निकालो...।''

''मारो साले को...हरामी...मुफ्तखोर!''

''धक्के देकर परे फेंको कुत्ते को...मुफ्त का माल रखा है ससुरे को...।''

''ओए, जोर से मार! कौन-सा साला चाचे का पूत लगता है...।''

मक्खू साब ने साधुराम से पूछा, ''कैसा झगड़ा है?''

साधुराम ने व्याख्या की, ''चढ़तू का छोकरा पांत में घुस आया होगा। पैसा नहीं दिया है उसने चंदे का...मुफ्त में डकारना चाहते हैं।''

''नौकरी के लिए तो बहुत झींकता था चढ़तू,'' मक्खू सा'ब ने याद किया।

''अरे छोड़ो भी! गद्दारों को तो सज़ा मिलनी ही चाहिए,'' साधारण-सी बात की तरह साधुराम ने हल्के दिल से जोड़ा।

''खुद भी नहीं आया चढ़तू?'' मक्खू ने पूछा, जैसे इस समारोह में आना कुंभ पर्व में गंगा स्नान सदृश हो।

''वह आएगा भला? आपकी खिलाफत करता फिरता है।'' साधुराम ने कुशल विद्यार्थी की तरह अपने अध्यापक को खुश करने के लिए निशाना साधा। शायद पाँच-सात अंक ही बढ़ जाएँ...।

सामने वाली पांत में बैठे साली पंच ने हस्तक्षेप किया, ''सज़ा तो दे दी भगवान ने उसे...अपनी खिलाफल की सजा तो मिलनी ही थी...।''

प्रश्नसूचक दृष्टि से मक्खू ने साली की ओर देखा।

साली फिफ्थ कोल्यूमनिस्ट की तरह सूचित कर रहा था, ''फूट गई आँख हरामी की... हो गया न काना!''

मक्खू की मुस्कराहट सद्यः प्रस्फुटित पुष्प की भांति बिखरी। साधुराम खिलखिलाया। बाकी लोगों ने भरसक सहायोग दिया।

अनायास थोड़ी दूर कहीं इकहरी शंख ध्वनि गूँजी। मृत्यु की सूचना ध्वनि! फिर कुछ रोने-चीखने की आवाज़ें उभरी।

''हाय, मेरा बापू!'' हवा की लहरों के साथ उड़ आता एक स्त्री स्वर!

''ओए! यह तो पार्वती है,'' किसी ने यक-ब-यक कहा।

खाने वालों के हाथ जहाँ के तहाँ रुक गए। अनिष्ट की शंका व्याप गई।

गाँव की बावड़ी से पानी ढोने वाले बसाखू झींगुर ने कंधे से घड़ा उतारते हुए खबर दी, ''गैंडा मर गया।'' जंगल की आग की तरह समाचार पांत में फैल गया। क्षण भर को हवा ठहर गयी। सामने के जामुन के पेड़ पर एक कव्वे ने 'कां-कां' की। बहुत से कव्वे इस 'कां-कां' में शामिल होकर शोर मचाने लगे।

बसाखू झींगुर ने हाथ बजाकर 'होए-होए' कर उन्हें उड़ाने का प्रयत्न किया। सब कव्वे पेड़ के गिर्द उड़ने-फड़फड़ाने लगे।

क्षण भर के लिए सारा शोर गड्ड-मड्ड हो गया। थोड़ी ही देर में रुके हाथ पतलियों पर परसे मांस-भात और मुँह के बीच पूरे आवेग से चलने लगे।

[द्वारा सुरेन्द्र जनरल स्टोर, विकासनगर, शिमला-171009]

[कथाकार राजकुमार राकेश की यह पहली कहानी है। विपाशा के अंक-8, मई-जून, 1986 में प्रकाशित हुई थी।]

आपका बेटा अमेरिका में है ना!

❑ संजय सिंह

भयावह इंतज़ार है रात जिसका सिर्फ गुज़र जाना ही देखते हैं गार्ड बाबू। इन रातों में वे अकेले होते हैं और झींगुर की कर्कश तीखी आवाज़। इस आवाज़ से उनके रोयें खड़े हो जाते । उनके दिमाग की नसों का खून गर्म हो जाता। लेकिन वह कुछ कर नहीं पाते थे। शायद वे जानते थे कि कुछ कर न पाना और असहाय-सा बिस्तर पर पड़े रहना कितना भयावह होता है। गार्ड बाबू ने सिर पर तकिया रख लिया, ताकि झींगुर की आवाज़ उन्हें सुनाई न दे। उन्होंने भय और बेचैनी से अपनी आँखें भी मूँद लीं। रात के किस पहर में उनकी नींद टूटी। यह तो उन्हें भी नहीं पता। बस इतना पता था कि वे बीती रात नींद लगने से पहले बीबीसी चैनल देख रहे थे।

गार्ड बाबू ने झट से तकिया फेंक दिया। आँखें खोलीं तो देखा। टेलीविज़न के स्क्रीन पर मच्छरों जैसे दाने झिलमिला रहे हैं और वह उसकी ही आवाज़ को झींगुर की आवाज़ समझकर कुढ़ रहे थे। गार्ड बाबू हाथों से बिस्तर टटोलने लगे। लेकिन उन्हें रिमोट नहीं मिला। वे बिस्तर पर उठ बैठे। चश्मा लगाया। सिरहाने के पास रखे टेबल पर नज़र दौड़ाई। टेबल पर समीर और प्रियंका का मुस्कुराता फोटो, स्टैंड पर लगा रखा हुआ था। वे गार्ड बाबू को देखकर ही मुस्कुरा रहे थे। उस फोटो स्टैंड के पास ही रिमोर्ट रखा हुआ था। गार्ड बाबू ने झट से रिमोट उठाया और टी.वी. बंद कर दिया। सर सर झर सर झर के शोर से व्याकुल उनका मन शांत हो गया। नाइट बल्ब की दूधिया रोशनी में कमरे की चीज़ें धुँधली दिख रही थीं। गार्ड बाबू ने सोचा शायद ऐसा नींद के कारण हो या फिर उम्र के कारण।

लेकिन ऐसा ओसामा बिन लादेन के कारण था। यह बात कोंडालिसा राइस ने बीबीसी को पिछली रात बताई थी। इससे पहले गार्ड बाबू का यही ख्याल था जैसा कि बहुतों का होता है कि नीग्रो दूसरे दर्जे के अमेरिकी हैं। ड्रग्स की तस्करी करने वाले आउट कास्ट, अमेरिकी गलियों के बैक स्ट्रीट बॉयज और दो डॉलर के लिए मुख मैथुन को तैयार भूखे, गरीब, अपराधी। लेकिन वह तो अमेरिकी सरकार की विदेश सचिव हैं। कोंडालिसा ने बीबीसी के रिपोर्टर से कितने प्यार से कहा था, ''थिंग्स आर ग्लूमी बट वी विल सार्ट इट ऑउट।'' चीज़ें सचमुच धुँधली थीं।

ओसामा बिन लादेन, ओमान में है कि अफगानिस्तान में, यह किसी को भी पता नहीं था। लेकिन कोंडालिसा ने साफ कहा था कि अमेरिकी दूतावासों पर हमले के पीछे लादेन का ही हाथ है। गार्ड बाबू का एक भ्रम कोंडालिसा ने तोड़ दिया। अमेरिका में नीग्रो मूल के लोगों की भी सरकार में सहभागिता है। और भारतीय मूल के लोग? जब से कम्प्यूटर आया है, तब से भारतीय लोगों के लिए अमेरिका में रोज़गार ही रोज़गार है। गोल्ड रश की तरह जॉब रश। इसी के चलते समीर और प्रियंका अमेरिका चले गए। सॉफ्टवेयर इंजीनियर समीर

पहले बंगलौर में काम करता था। फिर बाद में एक कंस्लटेंट के ज़रिये उसे अमेरिकी सॉफ्टवेयर कम्पनी में नौकरी मिल गई। वह पाँच साल की वर्किंग वीज़ा पर अमेरिका चला गया। साल-भर बाद प्रियंका भी चली गई। तब से गार्ड बाबू यहाँ अकेले छूट गए।

रेलवे में गार्ड की नौकरी करने के कारण ही लोग उन्हें गार्ड बाबू कहा करते थे। वह खुद भी भूल गए थे कि उनका नाम परितोष शर्मा है। और अब भूल जाना उनके लिए याद रखने वाली बात नहीं थी। वह बहुत छोटी-छोटी बातें भूल जाते थे। मसलन टूथपेस्ट कहाँ रखा है। रिमोट का कौन-सा बटन दबाने से म्यूट हो जाता है। बिस्तर के किस ओर उनकी चप्पलें रखी हैं। इन छोटी भूलों से वह बड़ी मुसीबतों में पड़ जाते थे। इसका पता उन्हें कामवाली बाई राधा से चलता। वही उन्हें बताती कि टूथपेस्ट उन्होंने खिड़की की दीवार पर रख दिया है। रिमोट पर यह लालवाला बटन दबाने से म्यूट होता है। चप्पल उन्होंने आँगन में धोकर सुखाने के लिए छोड़ दी है। केबलवाला पैसे ले जा चुका है। बिजली और टेलीफोन का बिल भी जमा हो गया है। बैंक जाने की ज़रूरत नहीं। पेंशन महीना पूरा होने पर ही एकाउंट में जमा होगी। और उसका नाम आशा नहीं राधा है।

लेकिन गार्ड बाबू की जुबान पर आशा का ही नाम चढ़ा रहता। वह जब घर में अकेले होते और कभी किसी भी तरह आशा का ख्याल आ जाता तो वे रूआँसे हो जाते। रूआँसे होने पर उनके दिमाग में नसें फड़फड़ाने लगतीं। नसों का फड़फड़ाना रम से रुक सकता है। यह बात गार्ड बाबू जानते थे। काश! आशा ने कसम न दिलाई होती? जब तक गार्ड बाबू रेलवे की नौकरी में रहे; उन्हें लगता रहा कि उनकी मौत किसी ट्रेन दुर्घटना में ही होगी। उनका यह लगना जब कभी उनकी ज़ुबान पर आ जाता तो उनके इस लगने के बीच में आशा आ जाती। ऐसा अशुभ क्यों सोचते हो जी! लेकिन अब वे कितना भी अशुभ सोच लें। उन्हें टोकनेवाला कोई नहीं। नाश हो बुश का। वह भुनभुना कर रह जाते।

उनके बिस्तर पर छटपटाते रहने के बाद भी रात थी। खिड़की के बाहर अँधेरा था। घुप्प अँधेरा। उसी अँधेरे में पीछे का आँगन है। उसी आँगन में गश खाकर आशा गिरी थी। तब समीर वीज़ा के लिए मुम्बई गया हुआ था। तब प्रियंका घर में थी। तब वे अखबार पढ़ रहे थे। प्रियंका की चीख़ उनके अन्दर आज भी भय और पीड़ा के मुरब्बा की तरह मौजूद है।

"पापाजी... देखो तो मम्मी को क्या हो गया है?" इतनी डरी हुई चीख कि प्रियंका खुद अपनी ही चीख से डर गई थी। तब डाक्टर ने उसे शांत रहने की सलाह दी थी। देखिए आपकी मानसिक स्थिति का असर आपके गर्भ में पल रहे बच्चे पर पड़ेगा। प्रियंका काँपती हुई वहीं आँगन में खड़ी थी। आशा आँगन में औंधी पड़ी थी। उसकी साँसें इतनी तेज़ चल रही थीं कि उसका पूरा शरीर हिला जा रहा था। गार्ड बाबू ने उसे अपनी गोद में उठाया। उसका चेहरा अपनी ओर किया तो वह सकपका गए। आशा के मूँह से खून बाहर आ रहा था। कत्थई रंग का खून। खून ही खून। उसकी साड़ी पर खून। आँगन पर खून। डाक्टर ने पहले खून की जाँच की और बाद में बायोप्सी कराने को कहा। चूँकि समीर का अमेरिका जाना पक्का हो गया था और बड़ी मुश्किल से उसे वीज़ा मिल रहा था। इसलिये गार्ड बाबू ने आशा की तबियत की जानकारी समीर को नहीं दी।

शायद तीन बज रहा होगा। बिस्तर पर पड़े बाबू ने सोचा। अक्सर इतनी सुबह ही उनके घुटनों में दर्द होता, इसलिए उन्होंने अंदाज लगाया कि शायद अभी तीन तो बज ही

रहा होगा। वे बिस्तर पर उठ बैठे। आती हुई सर्दी की सिहरन थी। उनका बदन कम्बल से बाहर आते ही काँप उठा। उन्होंने शॉल की तरह कम्बल ओढ़ लिया। आशा रहती तो उन्हें इस तरह रात में उठने नहीं देती। घुटनों में दर्द हो रहा है, जानते ही, वह कटोरी भर सरसों का तेल गर्म कर उनकी मालिश करने बैठ जाती। जब वह मालिश करती तो गार्ड बाबू को अपनी माँ याद आ जाती। बाबू याद करने से डरते हैं। इसलिए उन्होंने अपनी माँ को याद करना छोड़ दिया है।

वह तो आशा को भी याद करना छोड़ देना चाहते हैं। लेकिन ऐसा हो नहीं पा रहा है। बुढ़ापे में नींद भी ठीक से नहीं आती है। और जब आती है तो पीठ, पसली, कमर या घुटनों का दर्द उभर आता है। नाइट बल्ब की रोशनी में वह दर्द की दवा खोजने उठे। पहले वे सामने दीवार पर बने आले के पास गए। वहाँ नहीं थी दर्द की दवा। फिर नीचे टेबल पर उनकी निगाह टिक गई। उन्होंने आलमारी खोली। भीतर बहुत-सी यादें थीं। उनके बदन में एक बार फिर कँपकँपी दौड़ गई। आशा की साड़ियाँ, बहुत सारे फोटो एलबम, उनकी एक पुरानी रेलवे की जैकेट, कोट, जेवर रखने का डिब्बा, वैनिटी बॉक्स और वही पुरानी खुशबू जो आलमारी खोलने से आती है। दवा वहाँ भी न मिली, उलटे दर्द की कई और वजहें मिल गईं।

वह जैकेट देखते ही उन्हें इमरजेंसी के दिनों की याद आई। वही जैकेट पहनकर वे रेलवे कॉलोनी में भागे थे। जब खुफिया पुलिस उनकी गिरफ्तारी करने वाली थी। भयावह थी वह रात। जब घोष बाबू अपनी स्कूटर लेकर आए थे। उनके साथ वह रात के अँधेरे में शहर से बाहर बने एक बागीचे में छिपे रहे। अगली सुबह उन्हें धोती पहनाकर और बदन पर कम्बल ओढ़ाकर बैलगाड़ी से आगे रवाना किया गया। जहाँ से वह एक जीप में सवार होकर फरार हो गए। उड़ीसा सीमा पार करने के बाद उन्होंने चैन की साँस ली थी। घोष बाबू का घर वहीं था। उनके घर वे पूरे सात महीने रहे। घोष बाबू की पत्नी और उनकी एकमात्र बेटी के साथ शुरुआत में उन्हें थोड़ा असमंजस हुआ। उनकी मनोदशा को आशा भाँप गई थी।

"आप इतने संकोची क्यों हैं?" आशा ने गार्ड बाबू का हाथ थाली से हटाते हुए कहा। तो बाबू के पूरे बदन में सनसनाहट दौड़ गई। फिर यह सनसनाहट अक्सर उन्हें महसूस होती। आशा कॉलेज से आने के बाद सीधे गार्ड बाबू के कमरे में आ जाती। घर के सबसे पीछे का कमरा बाबू को दिया गया था, ताकि मुहल्ले में किसी को पता न चले कि वह यहाँ रह रहे हैं। कमरे में बहुत-सी पुरानी चीज़ें थीं। जिस पलँग पर बाबू का बिस्तर लगाया गया था। वह भी आशा की माँ को दहेज में मिला था। चूँकि दहेज परम्परा से घोष बाबू इत्तेफाक नहीं रखते थे। सो उन्होंने उस पलंग का इस्तेमाल नहीं किया। गार्ड बाबू ने जैसे ही जैकेट आलमारी से बाहर निकाला; उससे उलझकर वैनिटी बॉक्स बाहर आ गिरा। लेकिन उसमें छुटका-सा पीतल का ताला लगा हुआ था, इसलिये उसके भीतर रखा सामान सुरक्षित रहा।

सुरक्षित तो अमेरिका भी था और न्यूयार्क भी, जहाँ ब्रान्क्स के पास समीर और प्रियंका रहते थे। चूँकि गार्ड बाबू भूल जाते थे, इसलिए उन्हें स्ट्रीट नम्बर कभी याद नहीं रहता। समीर ने बताया था कि अमेरिका तो इतना सुरक्षित है कि वहाँ परिन्दा भी पर नहीं मार सकता। सिक्यूरिटी आई कार्ड, एरियल सर्विलियेन्स, वीज़ा पॉलिसी, ग्वान्टेनामोबे आदि इंतज़ामों के चलते अमेरिका को भेद पाना लगभग नामुमकिन है।

उनका ऑफिस तो और भी ज़्यादा सुरक्षित होने वाला है। वहाँ जल्द ही जीनोम आई

कार्ड शुरू हो जाएगा। इसके लिए समीर के शरीर से खून, अस्थि मज्जा और बाल के नमूने लिए गए। उन नमूनों से समीर का जीन मैप तैयार किया जाएगा। उसके बाद उससे जीनोम कार्ड बनाया जाएगा। इस प्रोजेक्ट का सॉफ्टवेयर उनकी टीम डेवलप कर रही है। अमेरिकी राष्ट्रपति जॉर्ज बुश ने भी इस प्रोजेक्ट में रुचि दिखाई है। पूरे अमेरिका में जीनोम आई कार्ड लागू हो गया तो गैर कानूनी प्रवासियों की धरपकड़ आसान हो जाएगी।

मैक्सिकन और एशियाई लोगों के गैर कानूनी रूप से अमेरिका में घुसने की खबरों से अमेरिकी सरकार परेशान रहा करती थी। बुश इराक से परेशान रहा करते थे। सीनियर बुश के विरासती झंझटों को जूनियर बुश ठीक करना चाहते थे। जबकि बुश से ज़्यादा प्रियंका परेशान रहा करती थी। वह चाहती थी कि जल्द से उन्हें ग्रीनकार्ड मिल जाए। ताकि वर्किंग वीज़ा पर रहने की झंझट से उन्हें छुटकारा मिल जाए। लेकिन न झंझटें खत्म होती हैं और न ही छुटकारा मिलता है। गार्ड बाबू को भी घुटने के दर्द से छुटकारा नहीं मिल सका। सुबह बाज़ार जाकर दर्द की दवा लानी है। उन्होंने खुद को याद दिलाया। इस राधा की बच्ची को कितना भी समझाओ, कुछ समझती ही नहीं है। पता नहीं उसने दर्द की दवा कहाँ रख दी?

राधा उनके यहाँ पिछले तीन साल से काम कर रही है। प्रियंका ने अमेरिका जाने से पहले राधा को घरेलू कामकाज और खाना बनाने के लिए रखा था। वह जब खाना लेकर बैठते तो उन्हें आशा की याद आती। राधा के खाना पकाने में कोई खोट नहीं था। लेकिन बाबू को वह स्वाद नहीं मिल पाता जिसकी उन्हें तीस सालों की आदत थी। राधा दोनों वक्त काम पर आती। करीब तीस की उम्र होगी उसकी। माँसल बदन और थोड़ा-सा पीलियाया-सा चेहरा। बहुत कम हँसती। हँसती तो सिर्फ टीवी पर आने वाले किसी दोयम दर्जे की द्विअर्थी कामेडी पर।

पहले पहल जब वह पूरे सात दिनों तक एक ही साड़ी पहन कर आयी तो बाबू से रहा नहीं गया। उन्होंने आलमारी से आशा की एक पुरानी साड़ी निकालकर उसे दे दी। उनके मन में हाइजीन का सवाल भी था। राधा पूरे मन से काम करती, लेकिन उसका मन उसके भीतर नहीं होता। एक छटपटाहट सरसराती रहती जिसे बाबू महसूस करते। जब वे ऐसा महसूस करते तो राधा फर्श पर पोंछा लगाते हुए अपना आँचल ठीक कर लेती।

''महीना तीन सौ लूँगी बाई।'' जब राधा ने कहा था तो प्रियंका ने मुस्कुरा कर सिर हिला दिया था। जबकि बाबू नाखुश थे। राधा के जाने के बाद उन्होंने प्रियंका से कहा भी था कि उन्हें कामवाली बाई की ज़रूरत नहीं है। लेकिन प्रियंका की मासूम ज़िद्द उन्हें माननी ही पड़ी- ''रख लो ना पापा। तीन सौ रुपये क्या होता है। पूरे घर का काम करेगी। खाना भी पकाएगी। यूएस में तो सिर्फ खाना पकाने का ही सात सौ डॉलर महीना देना पड़ता है।''

यूएस की कम्पनी समीर को तीन हज़ार डॉलर महीना दे रही थी। एक साल वह अकेले ही वहाँ रहा। जब कम्पनी की परफॉर्मेंस रिपोर्ट में उसका नम्बर दूसरा आया तो कम्पनी ने उसका वर्किंग वीज़ा बढ़ाने का अनुरोध अमेरिकी सरकार से किया। तब उसने प्रियंका को साथ लाने का विचार किया। तब तक आशा की बायोप्सी रिपोर्ट आ गई थी। डॉक्टर ने बड़ी संजीदगी से बताया था कि उसे लीवर कैंसर है। उसके बाद से बाबू चुप ही रहा करते थे। उनकी यह चुप्पी आशा से बरदाश्त नहीं होती।

वह उनकी चुप्पी तोड़ने के लिए इमरजेंसी वाले दिनों की याद दिलाती। कैसे वह

चुपचाप बाबू के कमरे में आ जाती थी। फिज़िक्स पढ़ने के बहाने वह घंटों उसके पास बैठा करती थी। उसकी एवज़ में बाबू को गरमा-गरम चाय पिलाती थी। घोष बाबू यानी आशा के पिता तो बिलासपुर में रेलवे की नौकरी करते थे। झारसुगुड़ा में वह अपनी माँ के साथ रहा करती थी। एक शाम जब वह बाबू के कमरे में चाय देने गई। गार्ड बाबू ने झिझकते हुए एक कागज़ का टुकड़ा उसकी हथेली में थमा दिया था। जिसे पढ़कर आशा रो पड़ी थी। जिसे पढ़कर आशा ने फैसला कर लिया था। जिसे पढ़कर आशा, आशा शर्मा बन गई थी।

शायद कागज़ का वह टुकड़ा अभी भी कहीं रखा हो। गार्ड बाबू ने वैनिटी बॉक्स वापस उसी जगह रख दिया। फिर उन्होंने आलमारी का ड्रावर खोला। भीतर एक प्लास्टिक की फाइल थी। शायद उसमें ही रखा हो वह कागज़ का टुकड़ा। बाबू ने फाइल खोली। उसके भीतर ब्लड रिपोर्ट, बायोप्सी रिपोर्ट, डेथ सर्टिफिकेट, बीमा की रसीदें, एक नोटबुक जिसमें विभिन्न व्यंजन बनाने के नुस्खे लिखे हुए थे। उसके भीतर एक कागज़ का पुर्जा दबा हुआ था। जिसमें श्रीलक्ष्मी यंत्र का श्लोक लिखा था। पूरी फाइल उन्होंने खंगाल डाली, लेकिन वह कागज़ का टुकड़ा उन्हें नहीं मिला जिसे करीब तीस साल पहले उन्होंने लिखा था।

लेकिन जिसे सीनेट की कमेटी ने लिखा था वह रिपोर्ट और उसकी सिफारिशों पर अमेरिकी वाइस प्रेसीडेंट डिक चेनी ने अपनी मुहर लगा दी थी। सद्दाम हुसैन के इनकार के बावजूद जॉर्ज बुश का मानना था कि इराक गुप्त न्यूक्लियर कार्यक्रम चला रहा है। इराक में जैव रासायनिक हथियार बनाए जा रहे हैं। इससे गल्फ में तनाव बढ़ेगा। इज़रायली मुसीबत में आ जाएँगे। हमास सक्रिय हो जाएगा। अलकायदा भी फैल जाएगा। इराक उनको मदद करता है। अलकायदा को मुसलमान मदद देते हैं। मुसलमान इराक में रहते हैं।

बुश को अपनी खुफिया एजेंसियों पर भरोसा था। बुश पर पूरे अमेरिका को भरोसा था। बुश पर दुनिया को भरोसा था। उसने सद्दाम को चेतावनी दी। वह नहीं माना। फिर बुश ने उस अहमक को मनाने की ज़िद्द पकड़ ली। ऐसी ही ज़िद्द समीर ने भी पकड़ ली थी। तब आशा की तबीयत बहुत नाज़ुक थी। किन्तु वह प्रियंका को अमेरिका ले जाने की ज़िद्द पर अड़ा रहा। गार्ड बाबू ने इस बात की जानकारी आशा को नहीं दी थी। कहीं वह उन्हें परेशान देखकर अपने अंतिम समय में परेशान न हो जाए। बाबू को रिटायर हुए तब कुछ महीने ही बीते थे। ग्रेच्युटी और जीपीएफ के पैसे से उन्होंने मकान बनवाया था, ताकि आशा और अपने बेट-बहू के साथ बाकी जीवन मज़े से जी सके।

लेकिन बीच में ये अमेरिका आ गया। हालाँकि आशा यह मानती थी कि उनके बीच में यह लीवर कैंसर आ गया। वरना गार्ड बाबू मज़े से अपना पूरा जीवन जी सकते थे। वह जानती थी कि उसे कैंसर है। लेकिन गार्ड बाबू उससे कहा करते, "तुम जब ठीक हो जाओगी तो आँगन में एक छोटा-सा मन्दिर बनाएँगे ताकि बुढ़ापे में तुम्हें दूर जाने की ज़रूरत न पड़े।"

"अब दूर क्या और पास क्या? स्वयं ईश्वर ही पास बुला रहे हैं।" आशा का जवाब सुनकर गार्ड बाबू की आँखों में आँसू आ जाते। वह अस्पताल की खिड़की से बाहर झाँकने लगते। बाहर गाँवों से आए लोग पेड़ों के नीचे खाना पका रहे होते। सुदूर इलाकों में न तो अस्पताल हैं और न ही एम्बुलेंस की व्यवस्था। इसलिये गाँव के लोग मरीज़ों को बैलगाड़ी पर लादकर शहर ले आते।

"यू पीपुल स्टिल ट्रैवल बाई बुल कार्ट?" जेमिमा के इस सवाल से समीर भीतर तक

आहत हो गया। लेकिन वह खुद को यह कहकर मना लेता कि इसमें खुद भारतीयों की ग़लती है। उन्होंने अमेरिका में ठीक से लॉबिंग नहीं की। इंडिया कॉकस जैसे संगठन ने भी सिवाय व्यापार आदि के अलावा कुछ नहीं किया। जिस तरह बीजेपी ने इंडिया शाइनिंग कैम्पेन चलाया है। उसी तरह अमेरिका में भी कैम्पेन चलाए जाने की ज़रूरत है। तब ये साले अमेरिकी समझेंगे कि भारत क्या चीज़ है। जिसने बिना किसी की मदद के क्रायोजेनिक इंजन बना लिया। जिसने बिना किसी की मदद के आईसीबीएम तकनीक विकसित कर ली। उसके बारे में इन्हें कुछ पता नहीं। थोड़ी-बहुत इज्ज़त सबीर भाटिया ने दिलायी। अब वही इज्ज़त बॉबी जिंदल के हाथों में है।

''या फ्यू विलेजर्स डू ट्रैवल बाइ बुल कार्ट।'' समीर ने कम्प्यूटर पर नज़रें जमाए हुए जवाब दिया। जवाब का इंतज़ार प्रियंका को भी था। रात भर टेलीविज़न देखने के कारण गार्ड बाबू दिन भर सोया करते थे। पहला हवाई हमला बगदाद पर किया गया। अमेरिकी खुफिया विभाग को भरोसा था कि जिस परिसर पर रात में हमला किया गया है; वहीं सद्दाम का जैविक हथियार बनाने का गुप्त कारखाना था। उस ताबड़तोड़ हवाई हमले के खिलाफ इराकी प्रतिरोध कुछ काम न आया। वैसे भी उसकी प्रतिरोध क्षमता को आर्थिक प्रतिबंध और पिछली लड़ाई ने पूरी तरह से बरबाद कर दिया था। जब कोफी अन्नान ने मानवता के आधार पर आयल फॉर फूड पॉलिसी की घोषणा की थी, तो कोंडालिसा राइस मुस्कुरा रहीं थीं। यह धुँधली याद गार्ड बाबू के दिमाग में कहीं थी। टेलीविज़न देखते रहने के कारण ही वह प्रियंका के खतों का जवाब नहीं दे पाते थे।

घरों में रखे दूसरे सामानों में वह कागज़ का टुकड़ा हो सकता है। इस सम्भावना पर गार्ड बाबू को भरोसा नहीं था। उन्हें लगा यदि वे कागज़ का टुकड़ा खोजने लग जाएँ तो कहीं दर्द की दवा खोजना न भूल जाएँ। उन्होंने आलमारी बंद कर दी। बाहर की चुप्पी को कभी-कभार कीट पतंगों की आवाज़ तोड़ती। गार्ड बाबू सोने के कमरे से बाहर निकलकर सामने वाले हॉल में आ गए। उन्हें लगा पीछे से किसी ने कुछ कहा हो। वह पीछे पलटे। टेबल पर रखे फोटो-स्टैंड में समीर और प्रियंका का मुस्कुराता चेहरा उनकी ओर ही देख रहा था। हॉल से वे बाँयीं ओर रसोई में गए।

वहाँ प्लेटफॉर्म पर खाने का बर्तन पड़ा हुआ था। उस पर कॉकरोच धमाचौकड़ी मचा रहे थे। एक कॉकरोच उछल कर उनके पैर के पंजे पर आ गिरा। उन्होंने तुरंत अपना पैर पीछे खींच लिया। वह कॉकरोच तेज़ी से सिलेंडर के नीचे जा छिपा। दूसरी ओर वॉश-बेसिन था। देखते ही उनका मूड उखड़ गया—''साले अनपढ़ों को कितना भी समझाओ। सफाई नहीं रखते।'' वॉश-बेसिन में चावल के दाने पड़े थे। ''राधा का काम में मन नहीं लगता। वरना पहले तो रसोई चकाचक रखती थी।'' गार्ड बाबू से रसोई की बू बरदाश्त नहीं हुई।

वे वापस हॉल में आ गए। उन्होंने कोने में रखा कम्प्यूटर ऑन किया। यह कम्प्यूटर प्रियंका ने उनके लिए खरीदा था। उसने ही गार्ड बाबू को कम्प्यूटर और नेट-चैटिंग सिखाई थी। जब समीर उसे यहाँ छोड़ गया था तो वह उससे नेटचैटिंग के ज़रिए ही बात किया करती थी। साथ में बाबू भी बैठा करते थे। वेबकैम होने से एक फायदा यह था कि वह समीर को अमेरिका में बैठा हुआ देख सकते थे। और समीर उन्हें। मैसेंजर पर साइन इन किया। प्रियंका ऑनलाईन नहीं थी।

लेकिन ओसामा का वीडियो ऑनलाईन जारी किया गया था। दुनिया के सारे समाचार चैनलों और अखबारों में यही समाचार प्रमुखता से प्रसारित किया गया। वीडियो में दार्शनिक मुस्कानवाले ओसामा की दाढ़ी में कोई तिनका था या नहीं वह तस्वीर में साफ दिखाई नहीं देता था। बहुत धीरे और धीमे बोलता हुआ ओसामा। इतनी मीठी धमकी कि उसके हाथों मरने की इच्छा किसी भी काफिर की हो जाए। लेकिन अमेरिका यहूदियों का था। इसलिए वे मरना नहीं चाहते थे।

मरना तो आशा भी नहीं चाहती थी। बॉयोप्सी रिपोर्ट आने के बाद भी वह वैसे ही मुस्कुराती रही। जबकि गार्ड बाबू उदास से दिखते थे। वह उनका मूड हलका करने के लिए कहती, ''इतनी जल्दी मैं नहीं मरने वाली।'' आशा ठठाकर हँसती तो उसकी आँखों के कोर से आँसू टपक पड़ते। उनकी आँखों में आँसू देखकर प्रियंका उनसे लिपट गई और सुबकने लगी। समीर पास ही खड़ा बॉयोप्सी रिपोर्ट देख रहा था। गार्ड बाबू चुप थे। उनकी चुप्पी अस्पताल के इस पेइंग-रूम में गूँज रही थी।

''कीमियोथेरेपी करवानी पड़ेगी।'' समीर ने पिता से कहा। वह उसकी ओर देखते रहे। लेकिन कुछ बोले नहीं। वह चाहते थे कि इस विपदा की घड़ी में वह उनके पास ही रहे। ''मैंने नर्सिंग होम के डाक्टर से कह दिया है। वह एम्बुलेंस भेज देगा। आप मम्मी के साथ चले जाइयेगा। फीस मैंने एडवांस दे दी है।'' एडवांस! गार्ड बाबू को याद आया। वह चौंक गए। उनका चौंकना लाजिमी भी था। भूलने की इस उम्र में उन्हें कुछ याद है। लेकिन किस बात का एडवांस वह याद नहीं कर सके।

उनका पैर फूल गया था। अक्सर रात को नींद नहीं आने और देर तक कुर्सी पर बैठे रहने के कारण ऐसा हो जाता था। उन्होंने एक बार फिर याहू मैसेंजर पर साइन इन किया। प्रियंका ऑनलाईन थी। वह करीब तीन महीने बाद नेट पर आई थी। कम्प्यूटर स्क्रीन पर झट से एक मैसेज बॉक्स उभर आया।

''हाय डैड।''

गार्ड बाबू ने भी जवाब दिया, ''हाय।''

फिर उसने बताया कि समीर तो सप्ताह में सिर्फ दो दिन, वो भी रात को घर आता है। वह घर में अकेली बोर होती थी। इसलिए उसने पास के कम्युनिटी सेंटर में वालेंट्री कडलर का काम ज्वाइन कर लिया है। बेबी भी अब दो साल का हो गया है। पिछले संडे ही उसका बर्थ-डे था। गार्ड बाबू स्तब्ध उसके मैसेज बॉक्स पर लगातार आ रही पंक्तियों को पढ़ रहे थे। उनकी अंगुलियाँ सिर्फ या, यस, येप यादि ही उकेर पा रही थीं।

''टेल मी अबाउट यू डैड।''

गार्ड बाबू चुप रहे, यानी उन्होंने इसका कोई जवाब नहीं लिखा।

मैसेज बॉक्स कम्प्यूटर स्क्रीन पर काँप उठा। स्पीकर पर एलर्ट की आवाज़ गूँज उठी, ''कुछ खास नहीं। राधा पिछले तीन दिनों से काम पर नहीं आ रही है। होटल से खाना ला रहा हूँ। आज रात भर सो नहीं पाया। आजकल आशा की बहुत याद आती है। वह रहती तो मुझे किसी के रहम पर जीना नहीं पड़ता। कुछ भी कहने से राधा खिसिया जाती है।''

''यू हैव टू कोप अप विथ द गिवन सिचुएसंस डैड।''

''ठीक कहती हो बेटा।''

"ओके डैड। बेबी के फिडिंग का टाइम हो गया है। सी यू। बॉय।"

गार्ड बाबू ने साइन ऑउट किया। चिड़ियों के चहकने की आवाज़ आने लगी। गार्ड बाबू वापस बिस्तर पर जाकर पसर गए। समीर के बारे में तो मैंने कुछ पूछा नहीं। बाबू सोचकर उदास होने लगे। वह भी तो मेरे बारे में कुछ पूछता नहीं। शायद आठ महीने हो गए हैं। उसे फोन किए हुए। बीच में एक ई-मेल किया था। "बस!" इतना व्यस्त है वह अमेरिका के लिए कि हमारे जीने-मरने की उसे फिक्र नहीं। आशा के मृत्यु संस्कार पर भी वह नहीं आ सका था। इतना ज़रूरी है अमेरिका में होना। गार्ड बाबू बिस्तर पर पड़े रहे और इस सोच-विचार में कब उनकी आँख लग गई। उन्हें पता न चला।

पता तो एफबीआई और अमेरिका को भी नहीं था कि ओसामा क्या कर रहा है? कहाँ छिपा बैठा है? अलजजीरा पर आए उसके वीडियो टेप को कितनी गम्भीरता से लिया जाए? फिलिस्तीन और चेचन्या के मुसलमानों पर होने वाले अत्याचार का बदला लेने की उसकी धमकी से सुपर पॉवर को कितना डरना चाहिए? इसका असेसमेंट किया जा रहा था। दरवाज़ा खटखटाने की आवाज़ से गार्ड बाबू की नींद खुली। तो वह हड़बड़ाकर बिस्तर पर उठ बैठे। खटखटाने की आवाज़ बदस्तूर आती रही। इसलिये वे अपनी आँखें भी मींच न पाए। उन्होंने दरवाज़ा खोला। बाहर राधा खड़ी मुस्कुरा रही थी।

"अरे तुम इतने दिनों से कहाँ थी?" वह बेधड़क भीतर आ गई। सीधे रसोई में चली गई। उसने प्लेटफार्म पर रखे बर्तनों को उठाना शुरू किया।

"मैने पूछा तुम इतने दिनों कहाँ थी।"

"अपने मरद को खोजने गई थी साब। कहाँ? उसके गाँव। वह पीकर पड़ा था। ट्रक में डालकर लाई हूँ। तुम क्या खाना नहीं खाने का साब। उस दिन का बर्तन आज तक वैसा ही पड़ा है।"

गार्ड बाबू चुप रहे। इस साली से क्या बहस करना।

"आज दोपहर का खाना भी नहीं खाया क्या साब?" गार्ड बाबू चौंक गए। दोपहर का खाना। तो अभी क्या टाइम हो रहा है?

"अरे साब चार बज रहे हैं। तुम सारी रात और पूरा दिन सोते रहे क्या साब?"

कितनी मुश्किल से उन्हें नींद आती है यह तो गार्ड बाबू ही जानते हैं। रात भर टेलिविज़न देखने के बाद भी नींद नहीं आती। किताबें पढ़ने की इच्छा नहीं होती। रात के अँधेरे में बाहर टहल नहीं सकते। आशा ने कसम न दी होती तो रम पीकर आराम की नींद सो सकते थे। लेकिन उन्होंने वादा किया था। इसलिए उस बारे में सोचना ही व्यर्थ था।

राधा के काम पर वापस आ जाने से गार्ड बाबू को थोड़ी राहत मिल गई थी। इसलिए वह शाम के वक्त शहर में अपने दोस्तों के पास एक चक्कर लगा आया करते थे। रेलवे के उनके कई साथी इसी शहर में बस गए थे। उनके साथ गार्ड बाबू अपना समय व्यतीत करते थे। जब से प्रियंका कम्युनिटी सेंटर के काम पर लगी थी, उसका भी नेट पर आना काफी कम हो गया था। बीच-बीच में समीर का फोन आ जाता था। तब वह घर में टेलीविज़न देख रहे होते थे। बहुत छोटी बातचीत होती थी। जैसे वह किसी अलिखित शर्त के दबाव में ऐसा कुछ कर रहा हो। गार्ड बाबू 'हाँ-हूँ' करते या फिर बेबी के हालचाल में उसे उलझा कर उसे दबाव से मुक्त करने की कोशिश करते।

''अच्छा रखता हूँ। ऑफिस जाना है।'' यह कह समीर फोन रख देते। अचानक फोन काट देने से अब गार्ड बाबू को बुरा नहीं लगता था। पहले उसकी इसी हरकत से वह कई रात सो नहीं पाए थे। तब प्रियंका ने चैटिंग के दौरान उन्हें समझाया था कि ''समीर ऐसा आपको हर्ट करने के लिए नहीं करते हैं। आप प्लीज़ समझने की कोशिश कीजिए।'' और फिर गार्ड बाबू समझ गए। शायद आदमी इसी तरह अमेरिकी होता हो। सचमुच आसान काम नहीं है अमेरिकी होना। इसलिए जॉर्ज बुश जूनियर को अमेरिकी बने रहने में बड़ी मुश्किल हो रही थी। पूरा तंत्र उन्हें अमेरिकी बनाए रखने के लिए जुटा हुआ था।

गार्ड बाबू बिस्तर पर पड़े सोच रहे थे। इस सोचने की गिरफ्त में वह कब आ जाते। उन्हें पता न चलता। आशा ने जब बर्तन की टोकरी रसोई के फर्श पर रखी तो उसकी आवाज़ से गार्ड बाबू चौंक गए। ''क्या हुआ?'' यह पूछने के लिए उन्होंने आवाज़ देने की कोशिश की। बहुत देर से शांत पड़े रहने के कारण गले में घर्राहट जैसा कुछ हुआ। लेकिन कोई आवाज़ बाहर न आई। वह चुपचाप बिस्तर से उठे। रसोई में जाकर देखा। सारे बर्तन फर्श पर बिखरे पड़े थे। जिन्हें आशा उठाकर दीवार पर लगे बर्तन-स्टैंड पर सजा रही थी। गार्ड बाबू को देखकर ही वह बिफर पड़ी।

''कब से कह रही हूँ कि नई टोकरी लाकर दो। लेकिन आप कुछ सुनते ही नहीं।''

गार्ड बाबू रसोई के दरवाज़े से टिक कर खड़े हो गए। बहुत दिनों बाद आशा गुस्से से बरस रही थी। आशा के गले पर टाँके के निशान देखकर गार्ड बाबू सिहर गए। पूरा गला ऐसा दिखता मानों कोई माला चिपटी पड़ी हो। ऑपरेशन के बाद आशा जब से घर लौटी थी, उसने कोई शिकन तक नहीं दिखाई। पूरा काम ऐसे करती मानों उसे कुछ हुआ ही ना हो। कभी-कभी ही थोड़ा रूआँसा हो जाती। कहती, काश समीर और प्रियंका साथ रहते तो अच्छा होता। फिर खुद ही कहती, इतनी पढ़ाई इसलिए ही तो की थी बेचारे ने कि वह एक दिन अमेरिका जाएगा। अपने आँसू को जाने कैसे आँखों के भीतर ही रोक लेती।

''ये देखो पूरी टोकरी टूट गई।''

गार्ड बाबू की आँखों में आँसू आ गए। वह सुबकते हुए आशा के कंधे पर जैसे ही सिर टिकाने को हुए।

''अरे साब ये क्या करता है?'' राधा ने झल्लाकर उन्हें अपने से दूर किया।

फोन की घंटी बजने से गार्ड बाबू की नींद खुली। छोटे-छोटे टुकड़ों की नींद उन्हें घेर लेती थी। जिसका उन्हें पता ही नहीं चलता था। वे कहीं पर बैठे हुए सो जाते और अचानक चौंक जाते। उन्हें लगता बस आँखें झपकी ही थीं। उनके ऐसे लगने और होने में बहुत फर्क था। करीब आधे घंटे का। जम्हाई से उनका मुँह पूरा खुल गया। बाबू ने बिस्तर के पास टेबल पर रखे फोन का रिसीवर उठाकर कान पर सटाया। फोन समीर का था। वह काफी खुश था। आखिरकार उसे ग्रीनकार्ड मिल ही गया। दूसरी खुशखबरी यह थी कि उनका प्रोजेक्ट पूरा होने पर कम्पनी ने उसे इन्सेंटिव दिया है। उस पैसे से उसने टू बीएचके फ्लैट खरीद लिया है। पोर्श की कार भी ली है। क्योंकि सेवरले लेकर प्रियंका कम्पयुनिटी सेंटर जाती है।

''इंडिया कब आओगे बेटा?'' उसकी बातों को बीच में ही काटते हुए गार्ड बाबू ने पूछा। समीर थोड़ी देर चुप रहा।

''हैलो। हैलो।'' गार्ड बाबू चीखने लगे।

“पापा आपकी आवाज़ नहीं आ रही है। हैलो पापा। हैलो।” समीर दूसरी ओर से चीखने लगा। फिर टूं टूं टूं की आवाज़ से फोन भर गया। गार्ड बाबू ने भारी मन से फोन रख दिया। उनकी आँखों में नमी फैल गई। उनका माथा गर्म हो गया। क्रोध को भीतर दबा लेने से कितनी पीड़ा होती है। वह अब जान पा रहे थे। कान के पास सनसनाहट होने लगी। टेबल पर समीर और प्रियंका की तस्वीर अभी भी मुस्कुरा रही थी। गार्ड बाबू बाहर आ गए। घर से बाहर। अपनी चहारदीवारी से बाहर। अपने से बाहर। अपने वादे से बाहर। सबसे बाहर। उन्होंने हाथ के इशारे से ऑटो रुकवाया। उस पर सवार होते ही गार्ड बाबू ने ऑटोवाले से कहा, “केकी बार।”

समीर सुबह आठ बजे ऑफिस के लिए निकल गया था। प्रियंका घर में ही थी। उसने पहले बेबी को सुलाया। फिर वॉशिंग मशीन में कपड़े धोए। इसके बाद घर में अकेले ही नाश्ता किया। फिर वह बिस्तर पर लुढ़क गई। थकान तो थी, लेकिन नींद नहीं। पास में रखा यूएस टूडे उठा लिया। पत्रिका के पन्ने पलटने लगी। तभी उसका सेलफोन बज उठा।

“हॉय कैथी।” उसने धीरे से कहा। फिर अचानक हड़बड़ाकर उठ बैठी। उसकी साँस तेज़ हो गई। वह कान पर मोबाइल फोन सटाए ही सामने के कमरे की ओर दौड़ी। उसने धड़ाक से टेलीविज़न ऑन किया। चैनल यूएस नाइन लाइव था। स्क्रीन पर बड़े अक्षरों में ब्रेकिंग न्यूज़ का फ्लैश चल रहा था। वर्ल्ड ट्रेड सेंटर की इमारत को ढहते हुए दिखाया जा रहा था। वही दृश्य बार-बार दिखाया जा रहा था।

आकाश में दूर से आता एक हवाई जहाज़। फिर वह तेज़ी से उस इमारत से टकराता। इमारत में जहाज़ के घुसते ही ज़ोर का धमाका होता। फिर आग की लपटें इमारत से बाहर तक फैल गयीं। प्रियंका काँपने लगी। उसे पता ही नहीं चला कि कब कैथी का फोन कट गया। उसकी आँखों के आगे अँधेरा छाने लगा। वह धम्म से सामने रखे सोफे पर बैठ गई। टेलीविज़न स्क्रीन पर एक दूसरा हवाई जहाज़ इमारत से टकराता हुआ दिखाया गया।

पूरा कवरेज लाइव था। इतना लाइव आतंकी हमला इतिहास में पहली बार प्रसारित किया जा रहा था। दूसरे विमान के टकराते ही वर्ल्ड ट्रेड सेंटर की दूसरी इमारत की ऊपरी मंज़िलों में आग की लपटें धधक उठीं। नीचे हाहाकार मच गया। सड़क पर लोगों के चीखने-भागने का भयावह दृश्य था। अचानक पूरी इमारत भरभराकर नीचे ढह गई। तो धूल और धुएँ का गुबार हवा में उठ खड़ा हुआ।

प्रियंका के रोयें खड़े हो गए। वह स्तब्ध सोफे पर बैठी रही। लेकिन जैसे ही उसे याद आया कि उसी इमारत में समीर का भी ऑफिस है। उसके भीतर एक सनसनी फैल गई। वह चीख उठी। वह अपने फ्लैट में अकेली थी। बेबी दूसरे कमरे में सो रहा था। आँखों से आँसू झरझराने लगे। उसके हाथ से रिमोट छूट गया। वह पसीना-पसीना हो गई। उसके हाथ काँपने लगे। उसने काँपते हाथों से पापाजी को फोन लगाया। फोन की घंटी बजती रही। बजती रही। बजती रही।

बहुत दिनों बाद गार्ड बाबू केकी बार आए थे। उन्हें ठीक-ठीक तो याद नहीं। लेकिन इतना याद है कि आशा के कसम दिलाने के बाद वह कभी यहाँ नहीं आए। आशा अस्पताल

के बिस्तर पर पड़ी हुई थी। उसकी साँसें तेज़-तेज़ चल रही थीं। नर्स बीच-बीच में ग्लूकोज़ पर नज़र रखने आ जाती थी। गार्ड बाबू उसी ग्लूकोज़ की धार को बूँद-बूँद उतरता हुआ देख रहे थे।

''समीर नहीं आया क्या?'' आशा की काँपती हुई आवाज़ से कमरे की चुप्पी टूटी थी। पंखे की वजह से आशा काँपने लगी थी। इसलिए नर्स ने उसे बंद कर दिया था। इस वजह से गार्ड बाबू का बदन पसीने से भीग चुका था। वे चुप ही रहे।

''मेरा समीर कब आएगा?'' आशा ने और ज़ोर से पूछा। गार्ड बाबू पथरा से गए। उनके पास कोई जवाब नहीं था। वह इस समय झूठ बोलना नहीं चाहते थे। और सच बोलने का साहस उनमें नहीं था।

''बोलो ना?''

लेकिन वह चुप ही रहे। गार्ड बाबू आशा के बिस्तर पर जा बैठे और उसका माथा सहलाते हुए थोड़ा झुक गए।

''आप फिर शराब पीकर आए हैं।'' आशा ने कड़क कर पूछा। बाबू चुप ही रहे। उन्होंने आशा का हाथ थाम लिया। वह बिस्तर से उठी और गार्ड बाबू का हाथ ज़ोर से जकड़ते हुए कहा, ''आपको मेरी कसम यदि आपने शराब पी तो।'' गार्ड बाबू ने सिर्फ सिर हिला दिया। मानों उनको यह कसम मंजूर हो। नर्स चुपचाप दोनों का रोना-मनाना देख रही थी। उसकी भी आँखें नम हो आईं। वह कमरे से बाहर निकल गई।

''साब क्या लेंगे?'' एक भारी आवाज़ गार्ड बाबू के कान में गूँजी तो वह चौंक पड़े। बार की रौनक बदली हुई-सी लग रही थी। सामने काउंटर पर वही सरदार बैठा हुआ था। अब वह थोड़ा अधेड़ और चिड़चिड़ा लग रहा था। पीछे दीवार पर लगी आलमीरा में तरह-तरह की शराब की बोतलें रखी हुई थीं। उसके बगल में एक पोर्टेबल रंगीन टेलीविज़न रखा हुआ था, जिसमें एमटीवी चैनल चल रहा था। देश के तमाम बारों की तरह यहाँ भी लाल और हरे रंग के बल्बों की हल्की रोशनी हॉल में फैली हुई थी। गार्ड बाबू ने नज़र उठाकर उस लड़के की ओर देखा। शक्ल से वह बंगाली छोकरा लग रहा था।

''हाँ साब, क्या लाऊँ?'' उसने दुबारा आग्रह किया। ''ओल्ड मंक!'' गार्ड बाबू ने धीमे से कहा। गार्ड बाबू सबसे पीछे के टेबल पर बैठे थे। उस समय बार में उनके अलावा कोई नहीं था। सामने रखी टेबल की पंक्तियों के नीचे दो बिल्लियाँ धमाचौकड़ी मचा रही थीं। उनकी टेबल के बगल से पीछे जाने का दरवाज़ा था। लड़का काउंटर की ओर चला गया। गार्ड बाबू दूर से एमटीवी देखने की कोशिश करते रहे।

उधर प्रियंका लगातार फोन करने की कोशिश करती रही। लेकिन समीर का मोबाइल स्विच ऑफ बता रहा था। फिर उसने समीर के ऑफिस फोन किया। वहाँ से कोई प्रतिक्रिया नहीं आई। वह दुख, भय और बेचैनी से इधर-उधर भागने लगी। उसने फ्लैट की खिड़की से बाहर झाँका। बाहर सड़क पर कारों के सरपट भागने की आवाज़ थी। उसने फिर से पापाजी को इंडिया फोन लगाया। फोन की घंटी बजती रही। बजती रही। बजती रही। ''सारी विपत्ति एक साथ ही आती है।'' प्रियंका भुनभुना कर रह गई। उसने कैथी को फोन मिलाया। फोन की घंटी बजती रही। थोड़ी देर में कैथी की आवाज़ उसे सुनाई दी।

"येप! आई एम इन हरी। कॉल मी लेटर। ओके।" उसने उसी चपलता से फोन काट दिया। कैथी का पति भी समीर के साथ उसी ऑफिस में काम करता था। बदहवासी के चलते उसे कुछ सूझ नहीं रहा था। वह सिर पकड़कर ज़मीन पर बैठ गई। वह थोड़ी देर वैसे ही बैठी रही। फिर उसे याद आया कि अपने घर भी तो फोन कर सकती है। वह उठ खड़ी हुई।

काउंटर पर खड़ा सरदार टेलीविज़न का रिमोट उठाकर चैनल बदलने लगा। गार्ड बाबू ने गिलास टेबल पर रख दिया। इतने दिनों बाद शराब पीने से उन्हें गज़ब का रोमांच हो रहा था। उनकी आँखें ज़रूरत से ज़्यादा खुल गई थीं। पंखे के बावजूद माथे पर पसीने की बूँदें उभर आई थीं। सामने के टेबल पर दो युवक बैठे थे। वे आपस में फुसफुसाकर बातें कर रहे थे। या फिर टेलीविज़न की आवाज़ के कारण उनकी आवाज़ सुनाई नहीं दे रही थी। या फिर नशे में उनका कान भर गया था। गार्ड बाबू ने तली हुई मछली का टुकड़ा उठा लिया।

इतने दिनों बाद मछली। इतने दिनों बाद शराब। इतने दिनों बाद यह राहत। गार्ड बाबू को इन्हीं कारणों से रातों में नींद नहीं आती थी। पुरानी नींद की एक लहर उनके दिमाग में सरसरा गई तो उनका पूरा शरीर झूम उठा। उन्होंने थप्प से टेबल पर दोनों हाथ रखकर खुद को सामने गिरने से बचाया। एकबारगी उनकी आँखों के आगे अँधेरा छा गया। उन्होंने इधर-उधर देखा। फिर अपने बदन को कड़ा कर लिया। उनका गिलास खाली हो चुका था।

"साब और क्या?" वह लड़का फिर हाज़िर हो गया। जैसे वह दूर से उन्हें ही देख रहा था। "एक पैग और।" गार्ड बाबू ने झूमते हुए कहा।

"बाप रे बाप!" सरदार चीख पड़ा। उसने झटके से रिमोट काउंटर पर रख दिया। फिर दोनों हाथों से अपने कान बंद कर लिये। उसके चेहरे पर भय और घबराहट साफ देखे जा सकते थे। उसने उसी मुद्रा में गार्ड बाबू की ओर देखा। गार्ड बाबू को कुछ समझ न आया। वह सरदारजी का चेहरा देखने लगे।

"वर्ल्ड सेंटर पर हमला! आतंकवादी हमला!" सरदारजी ने उसे चीख कर बताना चाहा। लेकिन गार्ड बाबू को कुछ सुनाई नहीं दिया। उसके कान भर गए थे। टेलीविज़न का स्क्रीन भी उन्हें धुँधला दिखाई दे रहा था। लड़का तब तक पैग लेकर आ गया।

"क्या हुआ रे?" गार्ड बाबू ने उससे पूछा।

"कोई भुश के घर में आग लग गई है साब।" उसने बड़े अनमने ढंग से जवाब दिया। क्योंकि सरदारजी का चैनल बदलना उसे अच्छा नहीं लगा। उसे फिल्मी गाने देखना अच्छा लगता था। और ये क्या सरदारजी ने 'आजतक' लगा दिया। बार-बार वही सीन दिखा रहा है। हवाई जहाज़ टकराता है और फिर बिल्डिंग में आग लग जाती है। जहाज़ के रास्ते में बिल्डिंग बनाएगा तो ऐसा ही होगा। लड़का चुपचाप वहाँ से चला गया। गार्ड बाबू ने पैग एक बार में ही अन्दर उतार लिया। अचानक वह उठ खड़े हुए। फिर झूमते हुए काउंटर तक पहुँचे। काउंटर पर पहुँचकर खड़े हुए ही थे कि सरदारजी उन्हें पहचान गए।

"अरे गार्ड बाबू, कहाँ थे इतने दिन? बहुत दिनों बाद यहाँ आए।" गार्ड बाबू में जवाब देने की ताकत नहीं थी। वह मुस्कुराने लगे। लेकिन उनकी मुस्कान भयावह थी। सरदारजी फिर से टेलीविज़न देखने लगे। गार्ड बाबू ने भी ज़ोर लगाकर टेलीविज़न देखने की कोशिश की तो उनकी नज़रें स्क्रीन पर टिकी रह गईं। धीरे-धीरे उन्हें न्जूज़रीडर की आवाज़

भी सुनाई देने लगी। उनके माथे पर पसीना आ गया।

उन्हें सब कुछ साफ-साफ सुनाई दे रहा था। उन्हें सब कुछ साफ-साफ दिखाई दे रहा था। ''यूएस अंडर अटैक।'' यही वाक्य बार-बार स्क्रीन पर उभर आता। ''न्यूयॉर्क के वर्ल्ड ट्रेड सेंटर पर आतंकी हमला हुआ है। आतंकवादियों ने हवाई जहाज़ को मिसाइल की तरह इस्तेमाल कर इमारतों पर हमला किया है। पूरा अमेरिका बदहवास और निरीह-सा दिखाई दे रहा है।'' संवाददाता की काँपती हुई आवाज़ से न्यूज़ की वैल्यू और बढ़ गई। उसने तड़तड़िया अमेरिकी उच्चारण से साबित करने की कोशिश की कि यह सिर्फ अमेरिका पर ही नहीं वरन् पूरी मानवता पर हमला है, क्योंकि मानव सिर्फ अमेरिका में ही रहते हैं। बार-बार उसी दृश्य को दोहराया जा रहा है। फिर भागते-चीखते लोगों को दिखाया जाता रहा। फिर अग्निशामक वाहनों और एम्बुलेंसों की चिकनी अमेरिकी सड़कों पर दौड़ते हुए दिखाया जाता रहा। सब कुछ साफ दिखता हुआ। सब कुछ साफ दिखाया जाता हुआ। डरा हुआ लाइव अमेरिका!

''आपका बेटा भी अमेरिका में है ना?'' सरदारजी ने अचानक सवाल किया। गार्ड बाबू के दिमाग में पुरानी रातें खलबली मचा रही थीं। उन्हें समझ में नहीं आ रहा था कि ऐसा नशे के कारण हो रहा है या उनकी ढलती उम्र के कारण। या हो सकता है कि बहुत दिनों के बाद शराब पीने से उसका कुछ ज़्यादा ही असर हो। उन्होंने काउंटर को ज़ोर से पकड़ लिया।

गले में बहुत-सी आवाज़ें थीं। बहुत-सी चीखें थीं। लेकिन गला रुंधा हुआ था। उनकी जीभ भीतर ही लरबराकर रह गई। उनकी पलकें आँखों को ढक लेने की ज़िद्द में थीं। और वे उसे छकाये जा रहे थे। संवाददाता की बदहवास आवाज़ पूरे बार में गूँजने लगी। दोनों युवक भी काउंटर के पास आकर खड़े हो गए और एकटक टेलीविज़न की ओर देखने लगे।

समीर भी उनकी ही उम्र का होगा। गार्ड बाबू ने अंदाज़ लगाया। कितनी इच्छा थी उसकी अमेरिका जाने की। उसने बहुत मेहनत भी की। मेहनत का फल भी मिला। कम्प्यूटर का कीड़ा था। अभी समीर अपने ऑफिस में होगा। प्रियंका घर में बेबी के पास। वह तो शाम को जाती है कम्युनिटी सेंटर। यहाँ से तो मज़े में ही है। मेरा क्या है। मैं तो कैसे भी जी लूँगा। आज मैंने एक बोझ कम किया है। कल कुछ और कम हो जाएगा।

''सॉरी आशा।'' वह मन ही मन चीख पड़े। जबकि लोग न्यूयॉर्क की सड़कों पर चीख रहे थे। ''अलकायदा इज़ बिहाइंड दिस कोअर्ड अटैक।'' संवाददाता चीख रहा था। गार्ड बाबू ने टेलीविज़न पर अपनी नज़रें गड़ा दीं।

''आपका बेटा अमेरिका में है ना?'' सरदारजी लगभग चीख पड़े। गार्ड बाबू के खाली और उदास चेहरे पर मुस्कान फैल गई। एक मासूम मुस्कान। बड़ी मुश्किल से उनके मुँह से एक हल्की चीख निकली।

''साला बुश भी तो अमेरिका में है।''

[पंचटीला, आर्वी रोड, उमरी, वर्धा-442001]

मनजीत

❑ **अरुण भारती**

बुढ़िया से मैंने झूठ कहा था। कहना पड़ा था। राजीव ने मुझे पहले ही बता दिया था कि कमरा तभी मिल सकेगा जब बुढ़िया को विश्वास हो जाएगा कि तुम्हारी पत्नी बुढ़िया की देखभाल करती रहेगी। अटपटा तो मुझे भी लगा, लेकिन कोई चारा न देख मुझे अपना सत्यवादी चेहरा उतार कर बुढ़िया से झूठ बोलना पड़ा।

"तो तुम्हें कमरा चाहिए हैं?" मोटे-मोटे शीशेवाली ऐनक में उस वृद्ध महिला के लम्बोतरे झुर्रीदार चेहरे पर तनी उसकी आँखें, सामनेवाले को डराने के लिए काफी थीं।

"जी, माता जी...।" उसे देखकर मेरी ज़ुबान तालू से चिपकती-सी लगी।

"डोंट कॉल मी माता जी, आय हेट दिस वर्ड।" चश्मे के पीछे झाँकती उसकी फैली-सी आँखें सहसा सिकुड़ गईं। मैंने घबराकर राजीव की तरफ देखा।

"यू मे कॉल मी मैडम ओके।" बुढ़िया ने मेरी आँखों के आगे अपने दोनों हाथ फैलाते हुए मुझे नसीहत दी।

"जी माता... सॉरी मैडम जी।" मुझे समझ में नहीं आ रहा था कि आखिर बुढ़िया, माता जैसे पवित्र शब्द से इतनी बिदक क्यों रही है?

"बच्चे हैं?"

"जी हाँ दो बच्चे हैं। एक लड़का—एक लड़की।"

"एंड योर वाइफ? व्हाट इज शी डू?"

"वो, वो हाउस वाइफ है म-मैडम।"

"ओके-ओके।" चश्मे को उतारकर बुढ़िया ने दुपट्टे से साफ करते हुए कहा।

"मेरे पास पूरा मकान खाली पड़ा है। बेसमेंट टू टॉप—पूरे छह सैट खाली पड़े हैं। यू नो... शिमला में किरायेदारों की कमी नहीं है। एंड यू नो, यहाँ कौन नहीं रहना चाहेगा? खासकर इस जाखू हिल में?"

साफ हुए चश्मे को कुछ चपटी नाक पर बैठाते हुए बुढ़िया ने बोलना जारी रखा, "इन दीज़ सीक्स्टी इयर्स शिमला में हज़ारों बिल्डिंग्स बनीं हैं और लाखों किरायेदार बढ़े हैं। कभी चार आना रेंट थी और आज कम से कम चार हजार किराया है, एक टू-रूम सैट का।" मुझे पूरा लग रहा था कि अब बुढ़िया मुझे किराया बतानेवाली है।

"जी मैडम। लेकिन मुझे तो एक कमरा और एक छोटी-सी रसोई भी मिल जाए तो मेरा गुज़ारा चल जाएगा।" हज़ार रुपए माहवार पर मकान लेना मेरे बस से बाहर था।

"लिसन! मेरे पास कम से कम टू रूम सैट ही हैं। और वह भी सिर्फ एक नीचे—बेसमेंट में। थोड़ा अँधेरा है, पीछे वाला कमरा, लेकिन स्पेशियस है, खुला-डुला। यू विल फील कम्फर्टेबल देयर। ईवन, योर फैमिली टू।"

"जी-जी, मैडम।"

"लेकिन मैडम, मेरे इस दोस्त की इतनी तनख्वाह नहीं कि यह इतना किराया चुका सके।" इतनी देर में राजीव पहली बार बोला।

"यू मीन, मैं तुम्हारे दोस्त को मुफ्त में सैट दे दूँ?" पता नहीं, बुढ़िया ने मज़ाक किया था या उलाहना दिया था।

"देखो, मैन—आज अगर मकान बनाना हो तो आदमी को बाल-बाल गिरवी रखना पड़ता है। यू सी, मैंने अपनी चालीस साल की कमाई इस मकान को बनाने में लगा दी है। एनी हाऊ, हाऊ मच यू कैन पे?"

मुझे कुछ सूझ नहीं रहा था कि मैं क्या कहूँ? चार हज़ार। कहाँ चार हज़ार की माँग और कहाँ मेरी औकात? अधिक से अधिक हज़ार-बारह सौ। यूँ कमरे तो इससे सस्ते भी मिल सकते हैं, लेकिन वे शहर से उतने ही दूर होंगे। और शहर से दूर रहने से बेहतर तो फिर गाँव ही है। लेकिन कमला की ज़िद है, बच्चों को शहर के स्कूल में पढ़ाने पर ही वे आज के इस प्रतिस्पर्धी युग में अपनी पहचान बना सकेंगे।

"मैडम, इफ यू डाँट माइंड? क्या हम वह सैट देख सकते हैं?" राजीव के इस वाक्य ने मेरी तंद्रा को भंग किया।

"ओह श्योर।" बुढ़िया ने उठकर फ्रिज़ पर रखी चाबियों के गुच्छे को उठाते हुए कहा!

हम तीनों, भूमितल के उस टू रूम सैट तक पहुँचे। बाहर छोटा-सा आँगन था। मेन गेट से ऊपरी मंज़िलों के लिए घुमावदार सीढ़ियाँ भी इसी आँगन के सामने से थीं। सीढ़ियों के नीचे के खाली स्थान को स्टोर की तरह प्रयुक्त किया जा सकता था। सामने के कमरे को बैठक के रूप में और पीछे के कमरे को बैडरूम बनाया जा सकता था। रसोई, सीढ़ियों के सामने थी। जबकि टॉयलेट रसोई की बगल में था। कुल मिलाकर काफी अच्छा सैट था। सबसे अच्छी बात तो यह थी कि यहाँ सर्दियों में दिन-भर की धूप थी। सामने का दृश्य भी मनमोहक था। चीड़ों से घिरा संकट मोचन मंदिर और देवदार और बान के जंगल में तारादेवी। कमला देखते ही खुश हो जाएगी। सुबह उठते ही देवी-देवता के दर्शन। लेकिन किराया...!

राजीव ने बुढ़िया को बारह सौ पर राजी कर लिया था। मैं शायद ऐसा न कर पाता। बहरहाल, मकान मिल गया। वह भी शिमला की उस जगह, जहाँ से पूरा शिमला हथेली पर रखे रुपए-सा नज़र आता है। अगले हफ्ते ही मैं कमला को शिमला ले आया। हालाँकि, शिमला आने के लिए मैंने कई बार आवेदन किए। संतरियों से लेकर मंत्रियों तक के तलवे मले। कर्मचारी नेताओं के आश्वासनों और अधिकारियों की घुड़कियों में डूबता-उतरता रहा। पर भला हो राजीव के पापा का। ठेकेदार हैं और राजनीतिक पहुँचवाले हैं। पार्टी फंड के नाम पर काफी पैसा पार्टी को ज़रूरत के वक्त पर, खासकर चुनाव के समय देते हैं। बस, एक ही दिन में ऊपर से नोट लिखवा लाए। डायरेक्टर की हिम्मत ही नहीं हुई कि वह पुराने डी. ओज़ की तरह इस बार के इस नोट को भी दबाकर रख दे। बारह साल के दूरस्थ, दुर्गम क्षेत्र, किन्नौर में प्रवास के बाद, आखिर गाँव के नज़दीक, वह भी प्रदेश की राजधानी में, निदेशालय में तबादला हुआ था। पिताजी और माँ की तो जैसे मन की मुराद पूरी हो गई थी। कमला का शहर में रहकर बच्चे पढ़ाने का सपना, मकान मिलने के साथ ही पूरा हो गया।

कमला के इस मकान में आने के साथ ही, बुढ़िया की ज़िंदगी में भी शायद कुछ

परिवर्तन हुआ था। अनु और संजू आठ साल और छह साल के थे। गाँव और शहर के माहौल में कितना फर्क होता है, यह न तो कमला को पता था, न बच्चों को ही। खूब खुले आँगन और गाँव भर के घरों और खुली जगहों को अपना ही समझनेवाले बच्चों का बचपन आठ फुट गुणा अठाइस फुट के आँगन में सिमट कर रह गया। कमला को गृहस्थी सजाने में महीना लग गया तो बच्चों को दादा-दादी और गाँव भुलाए नहीं भूल रहे थे।

बुढ़िया ने आज़ादी के वर्ष, यानि सैंतालीस में पटियाला से ग्रैजुएशन किया था। ग्रैजुएशन के बाद ही युवा मनजीत को एक केंद्रीय विभाग में नौकरी मिल गई थी। इसी सिलसिले में वह शिमला आ गई और यहीं की होकर रह गई। मनजीत के पिता फौजी थे। साल-डेढ़ साल की थी जब माँ मर गई थी। नौकरी छोड़कर और गाँव की ज़मीन बेचकर पिता ने भी शहर का रुख कर लिया था। पटियाला में एक छोटी-सी करयाने की दुकान खोल ली थी। मनजीत को पढ़ाया-लिखाया और जब वह नौकरी लगी तो पिता सूबेदार जरनैल सिंह भी साथ ही शिमला आ गया। मनजीत को सरकारी मकान मिल गया था। टूटी कंडी के इस इलाके में इक्के-दुक्के ही सरकारी मकान थे। कार्टरोड से एक पतली-सी पगडंडी, अंग्रेज़ों के ज़माने में भी शहर के पाँव तले बसे टूटी कंडी गाँव तक जाती थी, जो आज भी बदस्तूर पैदल रास्ता है। भले ही, आज यह गाँव शहर बन गया है, बड़ी सड़क से जुड़ गया है। लेकिन मनजीत जब पहली बार शिमला आई थी तब यहाँ चीड़ का घना जंगल था। फरहिल के पास 103 नम्बर सुरंग के निकट रेल विभाग के इस हट के साथ से ही टूटी कंडी के लिए जानेवाली तंग पगडंडी आज भी ज्यों की त्यों मौजूद है।

कालका से लेकर शिमला तक, नैरो गेज की रेलवे लाइन पर उन दिनों भाप का इंजन चलता था। आज भले ही डीज़ल इंजन दौड़ता है। ये सब बातें बुढ़िया ने कमला को बताई थी। मुझे इन सब बातों ने इसलिए चौंकाया, क्योंकि राजीव ने ही मुझे बताया था इस बुढ़िया के पास जितने भी किराएदार आए, एक महीने में ही खाली कर चलते बने। इसका कारण बुढ़िया का रूखा व्यवहार था। बच्चों को तो वह बिल्कुल नहीं मानती थी। ज़रा-सा भी शोर होता तो वह किरायेदारों पर बरस पड़ती। थाने में फोन कर देती। इसीलिए लोग इस मकान में किरायेदार रहना पसंद नहीं करते। आसपास दो-तीन कोठियाँ और भी हैं, जिनके मालिक ही इतने हैं कि किरायेदार बरसों से कोर्ट में किराया जमा करवा रहे हैं। ये सब कोठियाँ सौ साल से भी अधिक समय से इस ज़मीन पर टिकी हुई हैं। धज्जी दीवारों पर से चूना-मिट्टी का प्लस्तर उखड़ चुका है। कोठियाँ भले ही जर्जर हो चुकी हैं, लेकिन लोग हैं कि खाली ही नहीं करते। राजीव ने मुझे बताया कि वास्तव में शिमला में अनेक ऐसी कोठियाँ हैं जिनके मालिक, परिवारों के विघटन के साथ, एक से अनेक हो गए हैं। कोर्टों में मालिकाना हक के कितने ही केस, बरसों से चल रहे हैं। ऐसे भी किरायेदार हैं, जिनके परदादा ने मकान लिया था, अब उनकी चौथी पीढ़ी वहाँ रह रही है।

अलबत्ता, मनजीत ने यह मकान सत्तर के दशक में बनाया था। जब शिमला सचमुच खूबसूरत हुआ करता था।

"ये जो पहाड़ियाँ हैं न, दीज़ हिल्स... इन्होंने मुझे बाँधकर रखा है—सालों-साल।" मनजीत जब भी कमला से मिलती, अक्सर कहती। वैसे भी, जिसे शिमला का हवा-पानी भा जाता है, वह यहीं का होकर रह जाता है। ऐसे कितने ही पंजाबी, बंगाली, गढ़वाली या यू.

पी. के भैया हैं जो यहाँ काम-धंधे की तलाश में आए और यहीं के होकर रह गए।

यह चमत्कार ही था कि मनजीत हम लोगों से इतना घुल-मिल गई। पड़ोस की कोठी में रहनेवाले किरायेदार, खासकर महिलाएँ दोनों का मेलजोल देखकर हैरान थीं।

"अड़िए इस कुड़ी के पास ज़रूर कुछ जादू-टोणा है। देख भला, दोनों कदेई जेई इक दूजे कने गलाया करदी।"

"मिंजो भी अदेया ई लगदा। बुड्डी अहाँ जो तां अख भरी ने भी नई देखदी।"

ये पड़ोसिनें, बरसों से मनजीत के साथवाली कोठियों में रहती रहीं, लेकिन न कभी मनजीत इनके यहाँ गई और न ही कभी इनकी हिम्मत हुई कि वे मनजीत की देहरी तक लाँघ सकें। इनमें से कुछ तो मनजीत के मकान बनाने से भी पहले से इस जगह पर आबाद थीं। मनजीत ने जब यह प्लॉट लिया था तो यहाँ कचरे के ढेर थे। बंदरों की टोलियाँ कचरे में से खाना-दाना बीनती रहतीं। यह सब कचरा, इन्हीं कोठियों के किरायेदार वहाँ डाल देते।

जब मनजीत ने यहाँ मकान बनाना शुरू किया तो इन्हीं सब लोगों को उससे दिक्कत होनी शुरू हुई। दरअसल, इस प्लॉट का एक कोना, सर्दियों के दिनों में इन कोठियों के किरायेदारों की दिनभर की चौपाल बना रहता था। औरतें, जहाँ चूल्हे-चौके से लेकर बिस्तर तक की चर्चा गुनगुनी धूप में करतीं, वहीं छुट्टी वाले दिन मर्द बीड़ी-सिगरेट फूँकते दिन-भर ताश या शतरंज खेलते। लेकिन, जैसे ही मकान की नींव खुदनी शुरू हुई, इन लोगों की यह चौपाल, चौपट हो गई।

मनजीत ने शादी नहीं की। हालाँकि जरनैल सिंह ने उसके लिए कई रिश्ते ढूँढे, लेकिन मनजीत शादी का नाम सुनते ही हत्थे से उखड़ जाती। उसे मर्द जात से जैसे नफरत थी और कई बार तो वह पागलों-सी हरकतें शुरू कर देती, जब शादी की बात चलती।

"मैं ब्याह नई करना ए। जेकर तुस्सी मैंनू ज़्यादा तंग करोंगे, ज़ैर खा के जान दे देयाँगी...।"

ब्याह का नाम सुनकर मनजीत का इस तरह बिफरना जरनैल को मरते दम तक समझ न आया। फौजी आदमी था, पश्चिमी कमान की कैंटीन से सामान मिलता था। पीने का शौकीन। मीट मार्किट से आधा सेर कलेजी लाता। रम के पैग की हर चुस्की के साथ कलेजी का एक टुकड़ा, नशे में कुछ और ही ज़ायका देता। जरनैल ने अपने कई दोस्त बना लिए थे। हम प्याला-हम निवाला दोस्तों का जमघट रहता। कई बार देर रात तक ये महफिल जमी रहती। खासकर तब, जब बर्फ़ गिरती या बरसात की पहली फुहार पड़ती। तब मनजीत के पास सरकारी मकान था। महफिल जमानेवाले भी विभागीय लोग ही थे। कुछेक जरनैल के वक्त के फौजी भी कभी-कभार आ जाते। मनजीत जब जरनैल को टोकती तो वह नशे में उसे अनाप-शनाप बकता। दूसरे दिन, नशा उतर जाने पर दुबारा नशा न करने की कसमें खाता। लेकिन, जब तक वह दफ्तर से लौटती, जरनैल टुन्न हो चुका होता।

"यू नो, गर्ली—मुझे अपने बाप से बेहद नफरत हो गई थी। ही वाज़ ए डॉग...। अच्छा हुआ वह मर गया।" कमला को वह गर्ली कहकर बुलाती। जब भी बाप का ज़िक्र होता, मनजीत की घृणा उसके अंतस को जैसे झकझोर देती। मनजीत की इस दशा को लेकर कमला जब मुझसे बात करती तो मैं स्वयं हैरान रह जाता। मुझे लगता, जरनैल का शराब पीना ही

मनजीत के दिल के अंदर उसके प्रति घृणा पैदा कर गया होगा।

अनु और संजू बुढ़िया से काफी हिल-मिल गए थे। पड़ोसी कहा करते कि बुढ़िया अपने मकान के इर्द-गिर्द किसी बच्चे को फटकने तक नहीं देती थी। उनके बच्चों की कितनी ही गेंदें उसने जब्त कर ली थीं। लेकिन अनु और संजू तो जैसे उसके नीरस जीवन में खिलौने बनकर आए थे।

जब मैंने मकान लिया था तो बुढ़िया लगभग अस्सी बरस की थी। तेईस साल की उम्र में, पटियाला से जब वह शिमला आई तो लौटकर कभी पटियाला नहीं गई। कमला ने जब एक बार उससे पटियाला न लौटने का कारण पूछा तो उसने बड़े ही सहज भाव में कहा, "पटियाला में मुझे वह सबकुछ आसानी से मिल सकता है, जो यहाँ मुश्किल से मिलता है। लेकिन यहाँ जैसी शांति और सुकून वहाँ कभी नहीं मिल सकता।"

जरनैल एक दिन शराब पीकर जो सोया, तो सुबह उठा ही नहीं।

"गर्ली, मुझे भले ही अपने बाप से कितनी भी नफरत रही हो, लेकिन उसकी मौत ने मुझे पहली बार यह एहसास करवाया कि अब इस दुनिया में मेरा कोई नहीं है। आय फैल्ट माइसैल्फ अलोन-टोटेली अलोन। आय वैप्ट फार डेज़ टूगेदर। तब में बत्तीस बरस की थी।"

मुझे नहीं मालूम, मनजीत जैसी एकाकी जीवन जीनेवाली औरत को कमला ने कैसे इतना अपना बना लिया था कि उसने अपना सारा जीवन उसके सामने टुकड़ों-टुकड़ों में खोलना शुरू कर दिया था।

जरनैल के मरने के बाद मनजीत अकेली पड़ गई। जरनैल, भले ही शराबी था, लेकिन मनजीत के कारण उसने दूसरा विवाह नहीं किया।

"मनजीत मेरी बेटी नहीं, पुत्तर है। मैं उनू रोंदे होए नईं बेख सकदा।"

सैकड़ों बार मनजीत ने बापू के मुँह से यह सब सुना था। जब वह पिये हुए होता तो ज़्यादा ही लाड़-प्यार उड़ेलता रहता।

"मैं मनजीत पुत्तर नू आपणे पैरां पर खड़ा करांगा। ओह जरनैल दा पुत्तर है—किसे अग्गे हत्थ नई फैलाएगा।" मनजीत तब तक पढ़ रही थी। जरनैल जब एक पैग लगा लेता तो सरूर में अक्सर ऐसी बातें करता।

जरलैन के मरने के बाद ही मनजीत ने जाखू हिल्स में एक छोटा-सा ज़मीन का टुकड़ा खरीदकर यह मकान बना लिया था। रिटायरमेंट के कुछ दिन पहले ही मकान बनकर तैयार हुआ तो मनजीत ने यहाँ शिफ्ट कर लिया था।

"गर्ली, यू नो, जब मैंने यह प्लॉट खरीदा तो यहाँ के लोगों ने मुझे बहुत तंग किया। आय हेट दीज़ बगर्स।" कमला से वह अक्सर कहती। इधर, अनु और संजू जैसे ही स्कूल से आते, मनजीत उन्हें तरह-तरह की चीज़ें खाने को देती।

"दे आर माय चिल्ड्रन। तुम्हें बुरा तो नहीं लगा गर्ली?" वह अक्सर कमला से पूछती। कमला मुस्कुरा देती। शॉपिंग से लेकर बिल जमा करवाने तक वे दोनों साथ जातीं। मैं जब दफ्तर से लौटता, तभी कमला को मनजीत छोड़ती।

"लो—तुम्हारे वो आ गए। नाऊ एन्ज्वाय।" मुझसे पूछती, "हाऊ आर यू, मिस्टर?" चश्में के पीछे से झाँकती उसकी बड़ी-बड़ी सचेत आँखें, जैसे मुझे भीतर तक चीर देतीं।

"आय एम फाईन, थैंक्यू। और आप कैसी हैं मैडम?"

"आय एम आलवेज फाईन।" यह कहते हुए मेरे वहाँ पहुँचते ही वह तुरंत प्रस्थान कर देती।

बातों ही बातों में मैंने एक दिन कमला से कहा कि उसने कभी मनजीत से यह क्यों नहीं पूछा कि उसने शादी क्यों नहीं की?

"न बाबा-न। मैं उनसे कभी भी कुछ भी नहीं पूछती। पर एक बात तो है।"

"क्या?"

"देखकर मुझे अपनी माँ याद आ जाती है।"

"खबरदार। कहीं उसे माता जी कहकर बुलाया तो।" कमला ज़ोर से हँस दी। देर तक हँसती रही। मुझे उसकी इस हँसी का कारण समझ में नहीं आया।

"मुझे तो पूरी इजाज़त मिली हुई है, माता जी कहने की। अनु और संजू तो उन्हें दादी कहते हैं।" मैं अवाक् उसका मुँह ताकता रह गया।

ऐसे ही एक दिन मैं जब घर लौटा तो मनजीत मुझे देखते ही कमला के पास से उठ खड़ी हुई। उसके चेहरे की झुर्रियों में गीलापन था। आँखों में सूजन-सी। कमला गंभीर थी। मनजीत निःशब्द ऊपर की मंज़िल की तरफ बढ़ चली। मेरे अभिवादन को भी नहीं सुना।

"क्या बात है?... आज यह...?" मुझे मनजीत का यह व्यवहार अजीब-सा लगा।

"आप चाय पीएँगे?" कमला ने मुझे अनसुना कर दिया। मेरे बार-बार कुरेदने पर भी उसने मुझे कुछ नहीं बताया। उसके इस व्यवहार ने मुझे कई दिनों तक परेशान रखा।

स्कूल में सर्दियों की छुट्टी होते ही हम गाँव आने को तैयार हुए। तभी बच्चों से बिछुड़ते हुए मनजीत फूट-फूट कर रो दी।

"आय विल मिस यू ऑल। इस्पैशली-माय टू चिल्ड्रन। इनका ख्याल रखना और जल्दी आना-माय गर्ली।" उसका आँसुओं से भीगा चेहरा जैसे बरसों से सूखी-रूखी, दरारों भरी ज़मीन पर अचानक बारिश हो गई हो। तभी अनु और संजू भी रो रहे थे।

मुझे सिर्फ पंद्रह दिनों का अवकाश मिला था। लेकिन इधर मौसम ऐसा खराब हुआ कि शिमला का संपर्क ही सब जगहों से कट गया। चार-पाँच फुट बर्फ़ की तह ओढ़कर शहर पंद्रह-बीस दिन तक ठिठुरता ही रहा। छुट्टी बढ़ाने के सिवा और चारा भी नहीं था।

छुट्टियाँ खत्म होते ही हम शिमला लौट आए। मकान पर पहुँचे तो सन्नाटा छाया था। सीढ़ियों पर सिर्फ ज़रूरत के वक्त जलनेवाला बल्ब बदस्तूर जल रहा था। आँगन में पत्तों और कागज़ों के टुकड़ों का कूड़ा-कर्कट इधर-उधर बिखरा पड़ा था। मनजीत के कमरे की बत्ती जल रही थी, हालाँकि अभी अँधेरा नहीं हुआ था। सीढ़ियों पर जमी बर्फ़ पर फिसलन भरा कोहरा जमा था। कई दिनों से इन सीढ़ियों पर से कोई गुज़रा ही नहीं था। मेरा दिल आशंका से धड़क उठा। मैंने कमला की ओर देखा—उसके चेहरे पर भी परेशानी झलक रही थी।

कमला ने कंधे पर उठाया बैग आँगन में पटका। बदहवास-सी वह ऊपर की मंज़िल की तरफ लपकी। जब तक मैं कुछ सोच पाता मुझे कमला की चीख सुनाई दी। हम तीनों ऊपर की मंज़िल में पहुँच गए।

दरवाज़ा खुला था। शायद कमला ने खोला था। सामने बिस्तर पर मनजीत बेसुध

पड़ी थी। कम्बल और रजाई एक तरफ पड़े थे। छाती पर हॉट वाटर बोतल, जिसका पानी कभी का ठंडा पड़ चुका था। साँस चल रही थी, लेकिन घरघराहट के साथ।

इमरजेंसी वार्ड में मनजीत को दाखिल तो करा दिया, लेकिन वह कोमा में थी। ठंड के कारण उसे पक्षाघात हुआ था। बायां हिस्सा नकारा हो चुका था। जिस्म ठंड में बुरी तरह से अकड़ चुका था।

चार-पाँच दिनों के इलाज और अथक सेवा के बाद, मनजीत ने आँखें खोलीं। कमला को देखते ही उसकी आँखों से आँसू बहने लगे। बायीं आँख स्थिर थी। कमला उसके सीने से लगकर सिसकने लगी। मैं भी भावुक हो उठा था। इन चार दिनों में कमला मनजीत की सेवा में निरंतर तत्पर रही।

इन्हीं दिनों, एक रात जब हम अस्पताल से लौट रहे थे, कमला ने मुझसे कहा, "जानते हो, माता जी ने शादी क्यों नहीं की?"

"तुमने पूछा था, मैडम को?"

"हाँ।" एक निश्वास भरते हुए कमला ने जो कुछ मुझे बताया, उसने मुझे अंदर तक झकझोर कर रख दिया।

उस दिन जरनैल और उसके दो साथियों ने इतनी शराब पी ली थी कि वे तीनों बेसुध होकर वहीं फर्श पर लुढ़क गए थे। मनजीत अक्सर इस स्थिति से गुज़र चुकी थी। उसने तीनों को वहीं पड़े रहने दिया और खुद बिस्तर में चली गई। बड़ी देर बाद उसे नींद आई।

अचानक उसे लगा कि उसे किसी ने अपने आगोश में जकड़ रखा है। एक मज़बूत पंजे ने उसके मुँह को बंद कर दिया था। शराब की तीखी गंध और पंजे के दबाव के कारण उसका दम घुटता चला गया और इससे पहले कि वह कुछ प्रतिरोध कर पाती, उसका मस्तिष्क अँधेरे में डूबता चला गया।

"दैट वाज़ द लास्ट डे ऑफ माय लाइफ। मैंने इसीलिए शादी नहीं की। दुनिया के सब मर्द एक से होते हैं।" मनजीत के अंदर बैठ गयी थी एक और मनजीत—मुर्दा मनजीत। मुर्दा नहीं—कत्ल हुई मनजीत। पल-पल जिबह होती मनजीता।

उस शाम हम अनु और संजू को भी साथ ले गए, मनजीत से मिलाने। दादी से मिलने के लिए बच्चे भी बेताब थे। वार्ड में दाखिल होते ही बच्चे मनजीत के पलंग की तरफ लपके। मनजीत उन्हें देखते ही सुबक पड़ी।

"मैडम...।" मैंने मनजीत को पुकारा। पता नहीं उसे क्या हुआ। वह एकाएक बिफर पड़ी। उसके मुँह से 'फों-फों' की ध्वनि निकल रही थी।

"माता जी...माता जी... आपको क्या हुआ?" कमला ने घबराकर मनजीत के थरथराते जिस्म को स्थिर करने की कोशिश करते हुए पूछा। मनजीत फफक कर रो उठी।

"माता जी...।" मेरे मुँह से निकला। मनजीत ने सुना—उसका रोना थम गया। गर्दन घुमाकर उसने मेरी तरफ देखा...। उसकी आँखों में एक चमक-सी उभरी— जैसे सूखी ज़मीन बरखा की फुहार में नहाकर चमक उठी हो। उसने भरी आँखों से मुझे देखा...। उसका काँपता हुआ शरीर धीरे-धीरे स्थिर होता गया। कमला चीख मारकर फर्श पर बेसुध गिर गई।

[धामी, ज़िला शिमला, हि.प्र.]

छुनछुना

❑ नरेश पंडित

छुनकी अपना छुनछुना बजाती हुई कभी कचहरी के बार-रूम में घुस जाती तो कभी वकीलों के टूटे-फूटे बैंचों में से निकलकर अपने बाप धिनायक सिंह हवलदार के पास पहुँच जाती। बड़ी शरारती है छुनकी। कचहरी तो इसके लिए गाँव में लगे किसी मेले से कम नहीं। बड़े मजे से अपना छुनछुना घनका रही है। यह खिलौना उसके बाप ने कल ही गाँव की दुकान पर उसे खरीद कर दिया था। जब वह फौज से छुट्‌टी पर घर आ ही रहा था और छुनकी उसे वहीं दुकान के सामने मिल गई। न जाने उसके दिमाग में क्या आया कि उसने यह खिलौना उसे खरीद कर दे दिया।

''सरकार बनाम रेवती...हाज़िर हो... ।''

अड़दली की आवाज़ पड़ते ही छुनकी की माँ कोर्ट में जाने को खड़ी हो गयी, परन्तु इससे पहले कोई दूसरी औरत अपने वकील के साथ अन्दर चली गई थी। उसे देखकर रेवती को ख्याल आया कि इस औरत का भी यही नाम है। जब उसको पुकारा जाएगा तो उसके फौजी का नाम भी साथ पुकारा जाएगा—''धिनायक सिंह बनाम रेवती देवी।'' यह आवाज़ वह इस कचहरी में पिछले दो साल से भी ज़्यादा अरसे से सुन रही है और बराबर कहीं भीतर बजती रहती है। अपने खसम के साथ उसे अपना नाम सुनना अच्छा भी लगता है। भगवान भला करे इस अड़दली का, जो इन दोनों को जोड़ता है। बाकी सब तो इन्हें अलग करवाने में ही खुश हैं।

आज यह छुनकी कितनी खुश है। फौजी के इर्द-गिर्द चक्कर लगा रही है। सारी की सारी अपने बाप पर गई है। वही चुलबुली आँखें, चौड़ा माथा और सांवला घुटा हुआ रंग। अपने बाप के दिये इस खिलौने को छनछना कर फूली नहीं समा रही। अब लगता है फौजी का दिमाग भी कुछ नर्म पड़ गया है। तभी तो अपनी बेटी के लिए उसने इतना बढ़िया छुनछुना खरीदा है। रेवती के मन का महल कभी सज-संवर भी जाता तो दूसरे ही क्षण अड़दली की पुकार कहीं फिर कौंध जाती और सब ढह जाता।

ये गर्मियों के दिन भी बहुत लम्बे होते हैं। उबासी भरे, आलसी दिन। अगर कचहरी में इन दिनों अपनी पेशी का इंतज़ार करना पड़े तो और भी उक्ताहट होती है। गाँव की कामकाजी औरत, जिसके लिए एक घड़ी की भी फुर्सत न हो, उसके लिए तो सारा दिन बैठे-बैठे इन्तज़ार करना, मौत है। रेवती हर मौसम में कचहरी पहुँची है। बरसात में भीगती, सर्दियों में ठिठुरती और आज इस चिलचिलाती धूप में पसीने से तर हो आई है। शुरू की तारीखों में भाई या कभी कोई और रिश्तेदार उसके साथ चला आता था, लेकिन अब सभी थक गये हैं, कोई न कोई बहाना बनाकर किनारा कर लेते हैं।

यह कोर्ट के गलियारे का बैंच, उसका जाना-पहचाना हो गया है। इसका चुभने वाला

हर कोना जैसे उसके भीतर मौजूद है। एक कोने में सिकुड़ी बैठी, वह सामने की हर गतिविधि को देखती रहती है। अब पहले जैसा कोर्ट का डर, नहीं रहा। पुलसियों और वकीलों के चंगुल में फंसे लोगों को वह सारा दिन देखती ही रहती है। काले कोट पहने वकील, रेवती को मरे जानवर पर मंडराते कौओं की तरह लगते हैं। उसकी माँ तो, इस मनहूस कचहरी में आने से पहले ही उसे रोक रही थी। हमेशा बोलती रही कि अपनी जात-बिरादरी में ही फैसला करवा लो। परन्तु ये फौजी कहाँ मानने वाला था। उसे इस फौजी के लक्षण शुरू से ही ठीक न लगते थे। ब्याह से पहले ही यह दो-दो जनानियों के साथ बदनाम था। परन्तु बापू को बड़ा कमाऊ पुत लगता था। फौज की नौकरी करके सिमेंट का पक्का घर बना दिया था। परन्तु रेवती से शादी के बाद इस कमाऊ पुत ने उसे एक बार भी रुपये का मुँह न दिखाया। अपने आप फौज चला गया और उसे पीछे सड़ने के लिए छोड़ गया। इन फौजियों को कम्बलों के साथ औरतें भी मिल जाती होंगी शायद, तभी ये गाँव में छोड़ी अपनी जनानियों की परवाह नहीं करते। रेवती तो यह भी सहने को राज़ी थी परन्तु सारा स्यापा, छुनकी के पैदा होने से शुरू हुआ। अगर मुई लड़का होती तो उसे यह दिन न देखने पड़ते। उसकी माँ अभी भी कहती है कि यह फौजी का पहली लड़की होने का तो बहाना है। उसके दिल में कुछ और ही है। भला कोई एक छोकरी पैदा होने पर क्या अपनी जनानी को छोड़ देता है!

''अम्मा...अम्मा...माँ...मम...पानी'' कहती हुई छुनकी दौड़कर माँ की गोदी में आ गई। रेवती एक हाथ पकड़कर उसे सामने चाय वाले के पास ले गयी। सुबह से ही छुनकी की माँ ने कुछ नहीं खाया, बस थोड़ा-सा दूध छुनकी को पिला दिया था। दिन निकलते ही दोनों माँ-बेटी शहर के लिए चल पड़ी थी। आती बार उसकी नानी ने दुपट्टे में रोटी बांध दी थी। अब रोटी के टुकड़े-टुकड़े खिला कर वह छुनकी का पेट भर रही है। अपने आप तो उसने जैसे व्रत ही मान लिया है।

रेवती को फौजी और मुन्शी अपनी तरफ आते हुए सामने दिखाई दिए। लगता है वह शायद राज़ीनामा करने आ रहे हैं। फौजी को अपने नज़दीक आते देख उसने दुपट्टे का पल्लू सिर पर ज़रा आगे सरकाया। पास पहुँचते ही ब्राह्मण मुन्शी, मीठी ज़बान में उसे समझाने लगा, ''देख रेवती तुम्हारा भला हवलदार की बात मानने में ही है। मुकदमें का बोझ तुझ से नहीं ढोया जा सकता, और न ही तुम अपने हक में गवाह इकट्ठे कर सकती हो। यह केस पता नहीं और कितने साल चले। अभी तुमसे पहले की फीस भी पूरी नहीं दी गई है। आज यह मामला खत्म कर दो। वकील साहब तुम्हारे लिए जज से खाने-पीने और कपड़े-लत्ते के लिए कुछ पैसे माहवार लगवा देंगे। इस हवलदार का कोई भरोसा नहीं कब क्या कर बैठे।''

फौजी ने अपनी मूँछों पर हाथ फेरा और धमकाते हुए बोला, ''ओए! रेवती, फौजी की मार तो तू जानती नहीं? हमें सात खून माफ होते हैं। आज की पेशी में जज से अपने आप तलाक मांग ले। हर बार की तरह उसके सामने रोने-धोने का तमाशा करने लगी तो मैं तुम्हें आज गाँव नहीं पहुँचने दूँगा, न तेरी इस बेटी को...।''

रेवती पर जैसे पहाड़ टूट पड़ा। उसे कुछ न सूझ रहा था। बस वहीं टूट के बैठी रह गई। इस बीच छुनछुना बजाती हुई छुनकी फौजी की टांगों से लिपट पड़ी। रेवती कुछ संभली। उसने छुनकी को फौजी की टांगों से छुड़ाया और भड़क पड़ी, ''मार ही क्यों नी देते अपनी बेटी को...और मुझे भी। अब तुझे यही करना रह गया है। इस तरह जीने में रखा ही क्या

है। मैंने तो कभी भी कचहरी के लिए नहीं बोला था। तू ही मांग, यहाँ इंसाफ। मुझे न तलाक देना है और न लेना है। और मुन्शी जी, कौन-सी फीस मैंने तुम्हारे वकील को नहीं दी? वह जो टोकरियाँ भर कर गुड़, अनाज, वकील के घर पहुँचाया, उसका कोई हिसाब नहीं?''

मुन्शी इधर-उधर मुँह ताकने लगा, परन्तु हवलदार और तैश में आ गया, ''एक बार फिर सोच ले। आखिरी बार बोल देता हूँ। हम फौजियों से इस तरह ज़्यादा मुँह लगाना ठीक नहीं रहता।''

कचहरी के प्रांगण में इधर-उधर फैले लोग एक जगह भीड़ जुटाने लगे ही थे कि मुन्शी ने बीच बचाव करने की कोशिश की। बात को बढ़ती देख वह फौजी को कोर्ट की तरफ ले गया। छुनकी भी फौजी के पीछे-पीछे भागी, परन्तु अब की बार बाप की झिड़क पर वह रोती हुई माँ के पास लौट आई।

रेवती पसीने से तर हो रही थी। उसका जिस्म हलका-हलका कांपने लगा। ताप बढ़ रहा था। वह अपने साथ छुनकी को घसीटती हुई कोर्ट के गलियारे पहुँची। बैन्च के एक कोने पर कोई बूढ़ा बैठा खाँस रहा था। वह वहीं ज़मीन पर छाया में बैठ गई।

अड़दली ने फिर आवाज़ दी। कोई आदमी बैंच पर से उठा और वकील के साथ अन्दर चला गया। रेवती ने इस आवाज़ को अनसुना कर दिया। पिछले दो सालों से वह हर आवाज़ को कान लगाकर ध्यान से सुनती आ रही है। पर आज तो वह बहरी हो गई है। जैसे उसके कानों में किसी ने सीक डाल दी हो। वह धीरे-धीरे उठी और बैंच पर खाली हुई जगह पर टिक गई। दुपट्टे की गाँठ से रोटी का टुकड़ा निकाला और छुनकी के हाथों में दे दिया और उसे गोद में लेकर, दुपट्टे से हवा करने लगी। पसीना अभी कहाँ सूखा था।...उसे यकीन था कि वह आज अपने फौजी के साथ ज़रूर गाँव लौटेगी। सुबह से ही लग रहा था कि कचहरी का आज, आखिरी फेरा है। रात को सपने में उसे बाजा बजाती हुई बारात भी दिखाई दी थी। यह सपना उसे रात के आखिरी पहर में आया था। उसने सुन रखा था कि सच्चे सपने हमेशा सुबह ही आते हैं। वैसे सपने में बारात दिखने को अपशगुन मानते हैं अगर उसमें साथ डोली भी दिखाई दे। परन्तु रेवती ने तो बारात ही देखी थी। उसके बाद उसकी आँखें खुल गई थीं। ...सब कुछ ठीक ही होगा। फौजी को तो रोब मारने की आदत है। इस तरह पता नहीं वह कितनी बार उसे गोलियों से भून चूका है। अब तो जैसा भी हो यही उसका पति परमेश्वर है। ब्याह की अग्नि के सामने सात फेरे लगाये हैं। यह कोर्ट, कचहरी, जज और वकील उसकी शादी का फैसला कैसे कर सकते हैं!

दोपहर हो गयी है। रेवती का सिर सोचते-सोचते चकराने लगा है। भूख से उसके पेट में जैसे आग जल रही है। गला सूख गया है। आँखों के आगे अन्धेरा छाया है। उसे एक झटका-सा लगा और वहीं बैंच से नीचे लुढ़क गई। छुनकी भी उसकी गोद में साथ गिर गई। उसके हाथ से छुनछुना छूट गया। वह नींद से चौंकी और ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाने लगी।

रेवती फर्श पर बेहोश पड़ी है। कोर्ट के गलियारे में शोर मच गया। कचहरी का लंच टाईम हुआ है। लोग उसकी तरफ भाग रहे हैं। भीड़ ने उसे घेर लिया है। सभी तरह-तरह की सलाहें दे रहे हैं। कोई पानी छिड़कने को तो कोई उसके पैरों पर मालिश करने को बोल रहा है। छुनकी भयभीत रो रही है। उसका छुनछुना भीड़ ने कहीं कुचल दिया है।

इस बीच जज साहब भी लंच के लिए कोर्ट से बाहर निकले हैं। वह अपनी कोर्ट

के गलियारे में हजूम देखकर वहीं खड़े हो गये। उनके यहाँ खड़े होने की देर थी कि कई वकील उल्टे पैर लौट आये। भीड़ को हटाने लगे और किसी ने अपना मुन्शी पानी के लिए दौड़ाया। वकील साहब सामने खड़े जज साहब के पास फुर्ती से आये, ''सर! उधर उस औरत को चक्कर आ गया है, शायद कोई बीमारी हो। बेहोश हो गई है। आज उसकी पेशी है।''

जज साहब के भीतर भी गरीब के लिए दया जाग उठी। उन्होंने वकील साहब के कन्धे पर हाथ रखा और सामने जीप के पास खड़े ड्राईवर को इशारा किया, ''वकील साहब आप इस जीप पर इस औरत को हॉस्पीटल भिजवा दीजिए। मैं डाक्टर को फोन करता हूँ।'' इस तरह उन्होंने जन-सेवा का मौका हाथ से नहीं जाने दिया।

जज साहब के बोलते ही जीप आ गई। वकीलों ने ख़ुद रेवती को जीप तक उठाया। छुनकी को भी उसकी माँ के साथ बैठा दिया गया। किसी वकील का मुन्शी हॉस्पीटल तक साथ चला गया।

डाक्टर को जज का फोन आ चुका था। सारा इन्तजाम फटाफट हो गया। नर्सों ने रेवती को बैड पर लिटा दिया। छुनकी हैरान थी। वह कभी चुप तो कभी रोने लगती।

थोड़ी देर के बाद रेवती ने आँखें खोलीं। वह पूरे होश में अभी भी नहीं आई थी। मुँह में कुछ बड़बड़ा रही थी। एक बार तो वह बड़े ज़ोर से चीखी। उसे एक तरफ से नर्सों ने पकड़ा और दूसरी तरफ मुन्शी ने सम्भाल रखा था। पता नहीं उसकी हड्डियों में इतनी जान कहाँ से आ गई कि उसने अपने आप को इन सबसे छुड़ाया और उठकर सीधी बैठ गयी। अब वह ज़ोर-ज़ोर से चीखने लगी। डाक्टर ने एक और इन्जेक्शन लगा दिया। डाक्टर हैरान थे कि इतनी स्ट्रांग दवाई देने के बाद भी वह जल्दी ही पूरी चेतन अवस्था में आ गई।

''मैं सुहागन हूँ, उनको जल्दी बुलाओ। मेरा वक्त आ गया है। मैं ऐसे नहीं मरूँगी।''

नर्सें उसे दिलासा दे रहीं थी कि ''लेटी रहो, तुम ठीक-ठाक हो, बस हल्का-सा बेहोशी का दौरा पड़ा है।''

''न...न मैं तो जाने वाली हूँ। मेरे सुहाग को बुलाओ। जल्दी बुलाओ। उसके हाथों से ही आखिरी आचमन लूँगी...जा रही हूँ... मैं सुहागण हूँ। मेरा पति परमेश्वर ही मेरी चिता को आग देगा...।''

छुनकी अम्मा-अम्मा चिल्लाती अपनी माँ के गले लिपट गई। माँ ने उसे चूमा और फिर लुढ़क गई।

रेवती फिर बेहोश हो गईं इस बार वह काफी देर तक बेहोश रही। नर्सें निश्‍िंचत हो गई। मुन्शी भी वहाँ से खिसक गया। पास के बैड पर से किसी ने एक केला रोती छुनकी को पकड़ाया और कोई औरत उसे गोद में लेकर चुपाने लगी। शाम तक रेवती इसी हालत में पड़ी रही।

उधर कचहरी में निठल्ले बैठे वकीलों को रेवती का इस तरह हॉस्पीटल तक पहुँचाना चर्चा के लिए विषय मिल गया था। मुन्शी अपने वकीलों को और वकील, जजों को जन-सेवा में अपनी रुचि के किस्से बढ़ा-चढ़ाकर सुना रहे थे। जज साहब भी संतोष में मंद-मंद मुस्करा रहे थे। धिनायक सिंह हवलदार को भी इस सारी घटना का पता लगा तो वह पहले हॉस्पीटल जाने को तेयार न था। परन्तु अपने वकील और मुन्शी के कहने पर रेवती को देखने पहुँच ही गया।

रेवती अपने बिस्तर पर आराम से छुनकी के साथ बैठी है। अब उसकी तबीयत बिल्कुल ठीक हो गई है। नर्सों ने छुनकी के लिए दूध और पास की मरीज़ के पास आयी किसी महिला ने रेवती को भी खिचड़ी खिला दी है। वह खामोश है, लेकिन आज उसके चेहरे पर जरा भी तनाव नहीं है। जैसे इस घटना का उस पर कुछ भी असर न हुआ हो।

हवलदार धिनायक सिंह रेवती के सामने आया तो उसने उसकी तरफ देखा तक नहीं और न ही अपने सिर का पल्लू ही कुछ आगे सरकाया। नर्सें उसकी डिस्चार्ज़ स्लिप बनाने के लिए आईं।

''नाम?''

''रेवती देवी।''

''पति का नाम?''

''.......''

''क्या नाम है तेरे खसम का?''

''मेरा कोई खसम नहीं है...।''

नर्स ने रेवती के बाप का नाम लिखा और दवाई की गोलियाँ कब, कैसे खानी हैं, बताकर चली गई।

पास खड़े हवलदार पर सैकड़ों गोलियाँ चल गई। उसे समझ नहीं आ रहा था कि वह खुशी में उछले या गम में डूब मरे। उसने घबराते हुए रेवती को पेशी की अगली तारीख बतलाई। इस पर रेवती कठोरता से बोली, ''मैंने तुझे तलाक दे दिया है। तुझे अब जिसे लाना है लाओ। जिसके साथ चाहो, रहो। कचहरी की वह मनहूस शक्ल मुझे नहीं देखनी है... ये दो साल मैंने टोकरियाँ बुनकर और सूत कात कर जैसे निकाले हैं, वैसे ही अब पूरी ज़िन्दगी काट लूँगी।''

हवलदार को देखकर छुनकी को अपने छुनछुने की याद आ गई और वह अपनी माँ से छुनछुने के लिए जिद्द करने लगी। रेवती ने उसे गोद में लिया और उसके सिर पर हाथ फेरती हुई बोली, ''जरा ठहर बेटी...अब हम नया छुनछूना लेंगे।''

---

1. गाँव की महफिल

[मंडी, हि.प्र.]

[कथाकार-चित्रकार नरेश पंडित की पहली कहानी 'छुनछुना' विपाशा के अंक-13, मार्च-अप्रैल, 1987 में प्रकाशित हुई थी।]

अन्तर्दृष्टि

❑ जयवंती डिमरी

उनका कसा हुआ जूड़ा देखकर वह उन्हें पीछे से ही पहचान गई थी। उनके बाल अवश्य सफेद हो गए थे। उन्हें देखते ही गौरी की भृकुटी तन गयी। उसे आश्चर्य भी हुआ। यह इस ओल्डहोम में कैसे पहुँच गई? मन ही मन उसे प्रसन्नता भी हुई, ये थी ही ओल्डहोम में पहुँचने लायक। उसकी इच्छा हुई कि उनसे बात किए बिना ही लौट जाए, पर इतनी दूर आकर लौटना संभव नहीं था। मिसेज़ साइमन से मिलने ही तो वह दो सौ अस्सी किलोमीटर का पहाड़ी सफर तय करके आयी है। एक प्रवासी भारतीय का अपनी बहन के लिए विदेश से भेजी हुई सौगात को निर्दिष्ट पात्र के हाथों सौंपने का उत्तरदायित्व न होता तो वह मिसेज साइमन से मिले बिना ही लौट जाती। अब मिसेज साइमन के आने तक उसे प्रतीक्षा तो करनी ही होगी।

''मैडम नमस्ते। आपने मुझे पहचाना नहीं होगा। मैं...''

''पहचाना कैसे नहीं। तुम गौरी हो न'', वे उसे बीच में ही टोककर बोली। आवाज़ की कड़क पहले जैसे ही थी। एक क्षण रुककर वह उसकी आँखों में नज़रें गढ़ाते हुए बोली...''और तुम्हारे शंकर कहाँ हैं?''

तब भी गौरीशंकर, राधाकृष्ण, गोपीकृष्ण और सीताराम के अतिरिक्त उन्हें कुछ और नहीं सूझता था। एक विवाह समारोह में गौरी ने उन्हें देखा था। मुँह खोल, अपनी दंतपँक्तियाँ दर्शाती वह दुल्हन पर आशीर्वचनों की झड़ी लगा रही थी। बहुत वर्षों बाद गौरी को ज्ञात हुआ था कि वे बालविधवा है। लेकिन अपने नाम के आगे वह 'मिस' का ही प्रयोग करती रही थीं। मिस नागर। लेकिन स्कूल में छात्राएँ उन्हें 'नागरी प्रचारिणी' के नाम से ही जानती थीं। एक बार एक नई छात्रा स्टाफ-रूम में 'नागरी प्रचारिणी मिस' से मिलने पहुँच गयी थीं। तभी असेंबली में प्रिंसिपल ने गुरु-शिष्य सम्बन्धों पर एक लम्बा भाषण दिया था। अन्य छात्राओं की भाँति गर्दन नीची किए उसने भी प्रिंसिपल मैडम का भाषण सुना अवश्य था, लेकिन मिस नागर के प्रति गुरु भक्ति उपज ही न पाई। गुरु की गरिमा न मिस नागर बना पाई और 'शिष्यस्त्वामहं शाधिमाम त्वां प्रपन्नम्' भाव न कभी गौरी के मन में जागे। यद्यपि अधिकांश छात्राओं में मिस नागर अलोकप्रिय थी, किंतु गौरी के पीछे तो वह न जाने क्यों मरखुले बैल जैसी पड़ गयी थी।

''गौरी आजकल कहाँ हो'', मिस नागर ने उसकी विचारतंद्रा तोड़ी।

''मैडम फिलहाल तो कसौली से आ रही हूँ।''

''कसौली में क्या कर रही हो? पढ़ा रही होंगी। किसी पब्लिक स्कूल में होंगी।'' उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना वे अनुमानों के गोले दागे जा रही थी। नश्तर चुभाने की उनकी पुरानी आदत छूटी नहीं थी। पब्लिक स्कूल में पढ़ा रही होंगी। इससे अधिक वह सोच भी नहीं सकती

थी। अपना जीवन पब्लिक स्कूल की नौकरी में गंवा दिया तो सोचती होंगी वह भी पब्लिक स्कूल की नौकरी में दिन काट रही है। पूरी ज़िंदगी की नौकरी में इतना भी नहीं बचाया कि बुढ़ापे में सिर छिपाने के लिए एक कमरा ही बना लेती। इस वीरान ओल्डएज होम में दिन काट रही है। उन दिनों तो वे स्कूल के टीचर्स फ्लैट्स में रहती थी। सात साल गौरी ने इनके कारण बहुत घुटन और क्षोभ सहा है। आज इन्हें परास्त करने का कोई भी अवसर वह हाथ से नहीं जाने देगी। इसलिए गौरी ने रौब से कहा—''नहीं मैडम मैं कसौली में नही, अमेरिका में यूनिवर्सिटी ऑफ विंसकांसिन में पढ़ा रही हूँ। मिसेज साइमन के भाई डॉ. रिचर्डसन मेरे सहयोगी हैं, उन्होंने मिसेज़ साइमन के लिए कुछ सामान भेजा है वही देने यहाँ आयी हूँ।''

यूनिवर्सिटी ऑफ विंसकांसिन। शब्द निस्संदेह वजनी था। उसका वजन संभालने में असमर्थ, मिस नागर निमित्त मात्र के लिए अप्रकृतिस्थ हुई, किंतु अगले ही क्षण सामान्य हो वह अपनी तीखी आवाज में बोली—''तुम विंसकांसिन कब पहुँच गई! पिछले साल मुझे तुम्हारी क्लास की अलका मिली थी। अलका तुम्हें याद है न? आजकल वह दिल्ली में है। उसके हसबैंड हैल्थ मिनिस्ट्री में डिप्टी सेक्रेटरी हैं। बड़े प्यारे दो बेटे हैं उनके। हाँ तो अलका से पता चला था कि तुम दिल्ली में हो।''

''मैडम अल्का आपको तीन साल पहले मिली होगी। मैं तीन साल से अमेरिका में हूँ।''

अलका का पति, अलका के बेटे! पुरुष वर्ग के लिए ऐसा सम्मोहन! स्कूल के वार्षिक समारोहों के अवसर पर सब लड़कियाँ अपने छोटे भाई-बहनों को स्कूल लातीं तो मिस नागर का लड़कियों के भाइयों पर उमड़ता प्यार देखने लायक होता। अपनी छात्राओं का नाम भले ही वे भूल जाएँ पर उनके भाइयों के नाम भूलना असंभव था। अगले वार्षिक समारोह तक वे लड़कियों के छोटे भाइयों की कुशलक्षेम पूछना न भूलतीं।

''तुमने शादी नहीं की गौरी? अमेरिका में तो सुना है लोग बड़ी उमर तक भी शादी करते रहते हैं। फिर तुम्हारी तो अभी इतनी उमर भी नहीं हुई।''

गौरी दृढ़ प्रतिज्ञ थी कि ईंट का जवाब पत्थर से देगी। गुरु-शिष्य की मर्यादा जब उन्होंने ही नहीं निभायी तो गौरी तो भारतीय गुरु-शिष्य की परिधि से दूर ऐसे देश में अध्यापन कर रही है जहाँ शिष्य को गुरु से समानता के धरातल पर व्यवहार की स्वतंत्रता है।

''मैडम सुना तो आपने ठीक ही है। अमेरिका में लोग बुढ़ापे तक में शादी करते हैं। अमेरिका में ही क्यों अब तो हिन्दुस्तान में भी आयु विवाह में बाधा नहीं बनती।'' उसने 'बुढ़ापे' शब्द पर विशेष बल देते हुए उत्तर दिया। मिस नागर के कुछ कहने से पूर्व ही मिसेज़ साइमन आ गयीं। मिस नागर ने गौरी का परिचय दिया—''मिसेज़ साइमन, ये हैं गौरी प्रभा। आजकल अमेरिका में पढ़ा रही हैं। स्कूल में मैंने इसे पढ़ाया है। शी वॉज़ ए वेरी ब्राइट स्टुडेंट।''

गौरी को इस प्रशस्ति से लेशमात्र भी प्रसन्नता न हुई। प्रशंसा के यह शब्द अब उसके लिए बेमानी हैं। इस प्रशस्तिपत्र के बिना ही उसने स्कूल से अमेरिका तक का सफर तय किया है। जब उसे इस प्रशस्ति की आवश्यकता थी तब मिस नागर कृपण बनी रही। ध्याड़ी के मजदूरों की भाँति उनके नंबरों का रेट भी निश्चित था। गौरी का रेट दस में से साढ़े पाँच...पूरे सात साल यह रेट सूचकांक में ज्यों का त्यों बना रहा। न कभी घटा, न बढ़ा।

मिसेज साइमन विदेश में बसे भाई का उपहार पाकर खिल उठी। गौरी के बहुत मना करने पर भी उन्होंने उसे दूसरे दिन भोजन के लिए आमंत्रित किया और गौरी की शिक्षिका

होने के नाते वे मिस नागर को भी आमंत्रित करना न भूली।

ओल्डएज़ होम से लौटते समय मिस नागर से जुड़ी यादें गौरी के मस्तिष्क में घूमती रहीं। अपनी जानकारी और समझ से गौरी ने मिस नागर का कभी निरादर नहीं किया, किंतु मिस नागर ने उसे दंडित और अपमानित करने का कोई मौका हाथ से नहीं जाने दिया। उसे याद आया—मिस नागर की चहेती, चुलबुली नीलिमा उनकी कुर्सी के पीछे खड़ी उनकी नकल उतार रही थी और पूरी कक्षा की लड़कियाँ मुँह थामें, पेट पकड़े अपनी हँसी रोकने का असफल प्रयत्न कर रही थीं। गौरी के चेहरे पर भी कदाचित् हास्य की रेखाएँ उभरी होंगी तभी मिस नागर ने अपनी पैनी आवाज़ में उसे संबोधित करते हुए जवाब-तलब किया था—''गौरी क्या बात है?''

''मैडम मुझे मालूम नहीं। मैं तो नहीं हँसी।''

''हँसी नहीं तो क्या रो रही हो? जाओ क्लास से बाहर जाओ और जब हँसी थम जाए तो क्लास में आना।''

गौरी क्षोभ और अपमान से पीली पड़ गयी थी। इस अपमान और अन्याय के प्रतिकार का गौरी ने अजीब तरीका निकाला था। वह उनकी कक्षा में पूरी तरह तटस्थ हो गई थी। गाँधीजी के असहयोग आंदोलन ने जैसे अंग्रेज़ों को परास्त किया, गौरी के असहयोग के समक्ष मिस नागर धराशायी हो गई थी। किसी अनिच्छित व्यक्ति की दृष्टि ब्लाटिंग पेपर के सदृश कैसे चेहरे की समस्त लाली को सोख सकती है यह गौरी ने अपने अनुभव से जाना है।

अगले दिन मिसेज़ साइमन के घर काफी समय लग गया। विदेश में बसे भाई के विषय में मिसेज़ साइमन अधिकाधिक जानकारी लेती रही। पाँच वर्ष पूर्व वह अपने भाई से मिली थी। मिस साइमन की उपस्थिति में मिस नागर को व्यक्तिगत आक्षेप अथवा कटाक्ष करने का अवसर नहीं मिला या कदाचित् ओल्डहोम की सेक्रेटरी की अतिथि से अभद्रता करने का साहस न जुटा पायी हों। मिस साइमन से विदा लेकर जब वह गेट से बाहर निकली तो मिस नागर भी उसके साथ थीं। उनसे विदा लेने के लिए अभिवादन हेतु उसने हाथ जोड़े ही थे कि मिस नागर की अप्रत्याशित टिप्पणी सुनकर चौंक उठी—''गौरी मुझे मालूम था तुम्हारा विवाह नहीं होगा।''

मिस नागर की यह टिप्पणी इतनी अप्रत्याशित थी कि गौरी को कोई जवाब ही नहीं सूझा। बाहर घुप्प अँधेरा था। मिस नागर का मुँह वह देख नहीं पायी। किंतु उनकी आवाज़ में उदासी का पुट था। इससे पहले कि गौरी कुछ कहे, मिस नागर थके जैसे स्वर में बोली—''गौरी बच्चों को पढ़ाते, उनके साथ रहते, एक अन्तर्दृष्टि विकसित हो जाती है। यह अन्तर्दृष्टि बड़ी विचित्र होती है। सालों साल, सैकड़ों लड़कियों के चेहरे देखते-देखते, उनकी आँखों में झाँकते मैंने अचानक अनुभव किया कि मुझमें एक अन्तर्दृष्टि विकसित हो गयी है। चेहरे की स्क्रीन पर मैं इनका भविष्य देख सकती हूँ। शिव के तीसरे नेत्र की दृष्टि। पहले दिन जब मैंने तुम्हारी आँखों में देखा तो मालूम है मैंने वहाँ क्या देखा।'' गौरी के उत्तर अथवा प्रतिक्रिया की प्रतीक्षा किए बिना वह अजीब दरदरी, दीमकखाई मिट्टी जैसी भुरभुराती आवाज़ में बोली—''मैंने देखा यह चेहरा तो मेरा है, हू-ब-हू मेरा। और मुझे इस चेहरे से नफरत हो गई। मैंने संकल्प लिया मैं यह चेहरा बदल दूँगी। मैं नहीं चाहती थी इस चेहरे को मेरे जैसा अकेलापन, मेरे जैसी मनहूसियत मिले। तुम्हें याद है एक दिन मैंने तुम्हें क्लास से बाहर निकाला था।''

"जी मैडम, आपने मुझे क्लास में हँसने के लिए बाहर निकाला था जबकि मैं...?"

"जबकि तुम हँस नहीं रही थी। तुम ठीक कह रही हो गौरी, तुम हँस नहीं रही थी। उस दिन मैंने देखा... उस दिन मेरी अन्तर्दृष्टि अत्यन्त प्रबल थी। कभी-कभी मेरी अन्तर्दृष्टि अत्यन्त प्रबल हो जाती है। हाँ तो मैंने देखा सब लड़कियों के चेहरों पर गुलाबी धूप के छींटे बिखरे पड़े थे, पर तुम्हारे चेहरे पर सिर्फ धूप की परछाईं थी। और फिर मैंने देखा उस परछाईं पर मेरा अक्स था। मैंने चीखकर कहना चाहा—"हँसो, इन लड़कियों की तरह तुम भी हँसो, मेरी खिल्ली उड़ाओ जिससे गुलाबी धूप के कुछ छींटे तुम्हारे चेहरे पर भी पड़ें। उस परछाईं से घिरे चेहरे को अधिक समय तक देखने की हिम्मत मुझमें नहीं थी, इसलिए मैंने तुम्हें क्लास से बाहर भेज दिया। मैंने तुमसे क्या कहा था?"

"जी आपने ..."

"छोड़ो, कितनी बार शब्द बेमानी होते हैं, उनके पीछे छुपे दूर-पार के अर्थ ही सार्थक होते हैं। तुम्हें याद है मैंने तुम्हें नाटक में पत्नी की भूमिका दी थी।"

"जी मैडम, लेकिन मैं वे डायलॉग बोल ही नहीं पा रही थी। वे शब्द मेरे मुँह से न मालूम क्यों निकल ही नहीं रहे थे।"

"मुझे मालूम है, बहुत अच्छी तरह मालूम है।" मिस नागर की आवाज़ में पूर्ण सहानुभूति थी। "यह पत्नी के डायलॉग तुम्हारे और मेरे जैसे लोगों के लिए नहीं बने होते। इन्हें बोलने में हमें बहुत उलझन होती है। लेकिन फिर भी मैंने पूरी कोशिश की थी। तुम्हारे लिए वह एक सुनहरा मौका था। उस दिन तुमने यदि पत्नी की भूमिका कर ली होती तो तुम्हें तुम्हारे शंकर मिल जाते। मुझे पूरा विश्वास है तुम्हें शंकर मिल जाते सिर्फ अगर...।"

गौरी बुरी तरह से डर गई। ओल्डएज होम में रहते अवश्य इनके मस्तिष्क में विकृति आ गयी है। वह उनसे पिंड छुड़ाकर वहाँ से जाना चाहती थी। इसीलिए उसने मिस नागर को टालने की गरज से कहा—"लेकिन मैडम आपने तो हमेशा मेरे साथ पक्षपात किया।"

"मैने तुम्हें वही दिया जो मुझे मिला। अपने चेहरे के साथ मैं पक्षपात कैसे करती? तुम्हीं बताओ क्या कोई अपने चेहरे के साथ पक्षपात कर सकता है?" गौरी ने डरते-डरते उनके चेहरे की ओर देखा। वे भी टकटकी लगाए उसी के चेहरे की ओर देख रही थीं। उनकी उस दृष्टि में विचित्र-सी कातरता, जिज्ञासा, अनुनय, दया अथवा सहानुभूति का सम्मिश्रण था।

"गौरी तुम खुश हो न"? उनकी आवाज़ जैसे गहरे खाली कुएँ से आ रही थी।

गौरी ने उत्तर देना चाहा, लेकिन शब्द जैसे गले में ही अटक गए थे। गौरी ने झटके से गेट बंद किया और लम्बे डग भरती सड़क पर आ गई। सड़क की रोशनी से उसने देखा मिस नागर अब भी गेट पर खड़ी थी।

[हाऊस नं.-4, सरस्वती एनक्लेव बद्रीपुर, देहरादून-148005]

कविता खंड : चार

❑ मंगलेश डबराल

टॉर्च

मेरे बचपन के दिनों में
एक बार मेरे पिता एक सुन्दर सी टॉर्च लाए
जिसके शीशे में गोल खाँचे बने हुए थे
जैसे आजकल कारों की हेडलाइट में होते हैं
हमारे इलाके में रोशनी की वह पहली मशीन
जिसकी शहतीर एक चमत्कार की तरह रात को दो हिस्सों में बाँट देती थी

एक सुबह मेरी पड़ोस की एक दादी ने पिता से कहा
बेटा इस मशीन से चूल्हा जलाने के लिए थोड़ी-सी आग दे दो
पिता ने हँसकर कहा चाची इसमें आग नहीं होती सिर्फ उजाला होता है
यह रात होने पर जलती है
और इससे पहाड़ के ऊबड़-खाबड़ रास्ते साफ दिखाई देते हैं
दादी ने कहा उजाले में थोड़ा आग भी रहती तो कितना अच्छा था
मुझे रात से ही सुबह का चूल्हा जलाने की फिक्र रहती है
हम जैसे लोगों के लिए रात में उजाले का क्या काम
पिता कुछ बोले नहीं चुप हो गए कुछ देर तक

इतने वर्ष बाद वह घटना टॉर्च की वह रोशनी
आग मांगती दादी और पिता की खामोशी चली आती है
हमारे वक्त की कविता में एक विडम्बना की तरह।

क्या करूँगा

ताकत की दुनिया में जाकर मैं क्या करूँगा
मैं सैकड़ों हजारों जूते चप्पल लेकर क्या करूँगा
मेरे लिए एक जोड़ी जूते ही ठीक से रखना कठिन है
हज़ारों लाखों कपड़ों मोजों दस्तानों का मैं क्या करूँगा
उन पर मेरे मैल के निशान ही छूटेंगे
मैं इतने सारे कमरों का क्या करूँगा
यह दुनिया कोई होटल नहीं है
और मेरी नींद का आकार एक चिड़िया से ज़्यादा नहीं है

मैं सिक्कों पर अपना नाम और चेहरा क्यों खुदवाऊँगा
मैं जानता हूँ बाज़ार से बाहर उनका कोई मोल नहीं है
मैं क्यों बनवाऊँगा कोई मंदिर मस्जिद गिरजा या ऐसा ही कुछ
मुझे पता है ईश्वर वहाँ नहीं रहता
मैं प्रतिमा की तरह क्यों बैठूँगा मंचों और चौराहों पर
वे सिर्फ पक्षियों के बीट करने के काम आएँगी

मैं क्यों जमा करूँगा इतने टोप तमगे छाते इतने घोड़े कुत्ते
हीरे मोती इतना हरबा हथियार ऐसे-ऐसे जहाज
मैं क्या रहने जाऊँगा चाँद पर
वह मुझे धरती से ही दिखाई देता है बहुत सुंदर
तीन डग में ही मैं क्यों नाप लूँगा तीन लोक
मैं क्यों कब्ज़ा करूँगा इस धरती पर
संभव हुआ तो कर दूँगा दुनिया के नाम अपने खेत खलिहान
मैं कोई दरिंदा नहीं जो कहीं बम गिराने चला जाऊँगा
मैं मनुष्य हूँ
तेल पीते और खून चूसते हुए क्यों बिता दूँगा अपना जीवन।

[उत्तराखण्ड/नई दिल्ली]

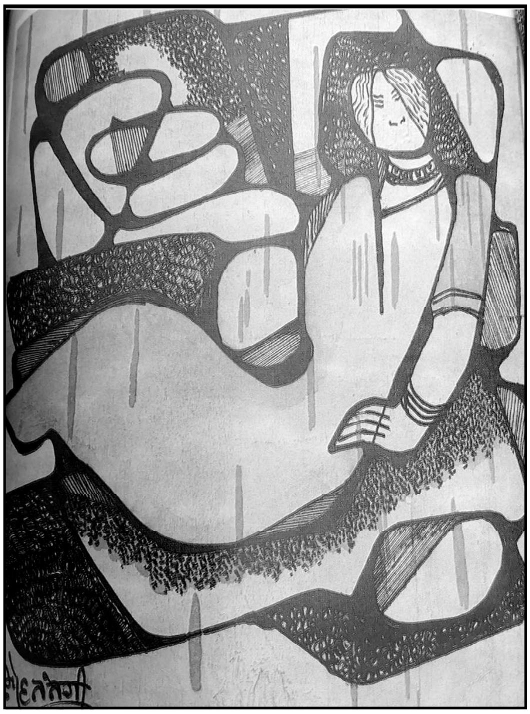

❑ **राजेश जोशी**

स्वदेशी ज़िन्दाबाद

मैं एक बहुराष्ट्रीय कम्पनी के टूथपेस्ट से दाँत माँज कर मुस्कुराता हूँ।

हथेली को मुँह के सामने रखकर दो-तीन बार
ज़ोर-ज़ोर से छोड़ता हूँ सांस
और कहता हूँ अहा...!
नहाने के लिए गुसलखाने में घुसता हूँ
तो बहुराष्ट्रीय कम्पनी का एक साबुन मेरी देह पर
फिसल-फिसल जाता है।

एहतियात बरतता एक बहुराष्ट्रीय कम्पनी के खुशबूदार पावडर से
अपनी काँखों को महकाता हूँ
कि अगले माह भी उपकृत कर सकूँ किसी बहुराष्ट्रीय को।
मेरी भाषा में अनचाहे अतिथि की तरह घुस आती है
बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के विज्ञापन की भाषा।

एक बहुराष्ट्रीय कम्पनी के लेबल वाली चाय पीता हूँ
और बिस्कुट खाता हूँ।

शाम को पीटर इंग्लैंड या पॉन अमेरिका की कमीज़ पहन कर
घुसता हूँ एक फास्ट-फूड कॉर्नर में
और कैन्टुकी चिकन मंगाता हूँ।

पीठ के पीछे खड़ा एक सेल्समेन पूछता है
कौन-सी शेविंग क्रीम इस्तेमाल करते हैं आप?

मैं मुस्कुराते हुए घुमाता हूँ अपना चेहरा
और उसे अपनी दाढ़ी दिखाता हूँ।
दोस्तों के बीच बैठकर स्वदेशी का गाना गाता हूँ।

आसमान पर चाँद

एक बहुराष्ट्रीय कम्पनी के विज्ञापन की तरह
जलता-बुझता है।

16.10.02

नया कौशल

आँख देखी को ज़्यादा विश्वसनीय माने जाने की
एक पुरानी धारणा चली आती थी।

इस धारणा की परख करना तो दूर
इस पर संदेह करने की भी ज़रूरत कोई महसूस नहीं करता था।
जादूगर इस रहस्य को सदियों से जानते थे
इसलिए दीठ बाँधने के कौशल में महारत हासिल कर लेते थे
नए बाज़ार और संचार साधनों की जादूगरी
ज़्यादा आधुनिक तकनीकों से लैस थी।

कान की प्रतिष्ठा पहले ही नहीं थी
और समझ पर यकीन करने का चलन खत्म हो चला था।

ऐसा समय था कि हर विश्वसनीय चीज़
हमले की ज़द में थी।

चीज़ों और विचारों के अविश्वसनीय होते जाने के पीछे
सत्ता का अविश्वसनीय हो जाना
छिप जाता था।
यह अपने को बनाये रखने का एकदम नया कौशल था।
19.10.02

[11-निराला नगर, दुश्यंत कुमार त्यागी मार्ग, भोपाल-462003]

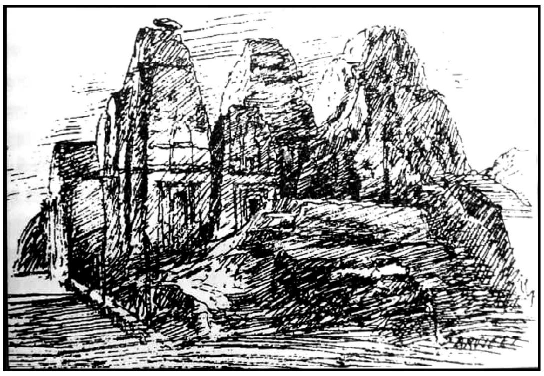

❑ असद ज़ैदी

पहाड़ी गाँव, पर्यटक, कवि

ऐसे लोग जिनके पास तकलीफ उठाने की क्षमता भी हो
और कामना भी
जिनकी आदत में शुमार हो उमड़ पड़ना और सोख लेना
उन्हें ही तैनात किया जाए इस समाज का पहरेदार
कह तो देते हैं हम ये, पर वहाँ लगा है शराब का पहरा

शाम होते ही ऐसी एकाग्रता से जुटते हैं पाँच छह
आठ दस लोग अहिंसक और शांत
जैसे धर्म और दाम्पत्य का विकल्प यहीं मौजूद हो
जैसे उनका पीते जाना और हँसते जाना रोते रहने का बदल हो
जो आवाज़ दें तो उनकी पुकार में
भरी हो एक सीली हुई ख़ामोशी और आश्वस्ति कि
खलनायकी भले ही अट्टहास करती रहे
मासूमियत गूँजती रहेगी अपने नशे में सदा स्वायत्त

वह खुशमिज़ाज आदमी थोड़ी सी पिए हुए था
2010 से फिसलकर 1962 तक गया
और बड़ी लड़ाई तक जा पहुँचा जिसमें
उसका पूर्वज लड़ा था मेसोपोटेमिया जाकर
और फिर गिनाने लगा
गोरखा राज के नुकसान और अंग्रेज़ी राज के नफे
जाते जाते बोला डोंट माइंड सर गुड नाइट सर!

वहीं वार्तालाप का एक टुकड़ा सुनाई देता है—
दीदी अभी शाम को ही बत्ती जलाने की क्या ज़रूरत है
मुझे तो घनी शाम तक रसोई के बर्तन
अपनी चमक के उजाले में दिखते रहते हैं
इस किफायतशुआरी में— कि चीज़ों की
अपनी रोशनी ही काफी है— भरी थी कैसी खुशी
कैसा इत्मीनान
बस की सीट के ऊपर लिखा था केबल हिलाएँ

पहाड़ी रास्ते पर जगह जगह तख्तियाँ लगी थीं
ध्वनि करें ध्वनि करें
स्कूली बच्चों से भरी उस छोटी बस में
तीस या पैंतीस बच्चे थे पर ध्वनियाँ साठ-पैंसठ होंगी
बस लहराती चली जाती थी
पीछे पीछे जाती थी पुरानी हवा

एक और बस
मील के पत्थर मंसूरी 13 मिलीमीटर...नैनबाग 26 किलोमीटर...
चकराता 65 किलोग्राम... आगे तीव्र मोड़ है
आगे तीव्र गाड़ अत्यंत तीव्र गाड़...
गाड़ क्या होता है पूछता है कोई उत्सुक मैदानी भाई
दो अधेड़ पहाड़ी यात्री हँसते हैं
उनमें एक अध्यापक है कहता है जी ऊधमी लड़कों की शरारत है
नालायक अनुस्वार लगाना भूल गए

यह मार्मिकता भी क्या इसलिए अनदेखी रह जाएगी
कि कैमरे की बैटरी हो गयी है खत्म

बूढ़े लोग बच्चों को हमेशा जेब से
खाने की चीज़ निकालकर देते हैं

स्कूल से लौटते छोटे-छोटे लड़के और लड़कियाँ
अलग अलग चलते हैं अपनी धुन में मग्न
एक-दूसरे से वाज़िब और लगभग जैविक दूरी बनाते हुए
ऊपर से देखने पर वे दिखाई देते हैं छोटे-छोटे कीड़ों से
उनके ऊपर मंडरा रहा है, काला बादल
जो जल्द ही उन्हें तरबतर कर देगा

यह दुनिया ग़लतफहमियों का रंगमंच है लिपियाँ
बदल जाती हैं। संकेत भी बदलते हैं
पर एक भाषा बची रहती है
जगमगाते बाज़ार के बगल ही तो बहता है
मृत्यु का नाला

यहाँ खाना पहले बना लिया जाता है
असली शोकगीत पहले लिख लिए जाते हैं
बाद का लिखा या तो लेटलतीफ़ी है या
अगले दुःख की तैयारी।

[बी-957, पालम विहार, गुरुग्राम, हरियाणा-122017]

❑ **सोमदत्त**

भीगी लड़कियाँ जिन्हें वेश्या समझा गया

भइया, वे न अप्सराएँ थीं न वेश्याएँ
वे लड़कियाँ थीं गरीबों की
बरतन मल के, कपड़े धो के, जूठन खा के
दफ्तरों में पोंछा लगा के, पानी पिला के,
पुराने कपड़ों के बदले स्टील के बर्तन बेच के
बदन से खेल के सारे काम
बदनाम कमा के, झेल के सुन्दरी दासियों की कथाएँ

1986 के भादों में
उमगती
पंछियों की पहली चहचहाट
वे तीन सहेलियाँ
दर-दर भटक-घर नाम के जर्जर लौटतीं
फर-फर-फर—चह-चह-चह—चिं-चिं-चिं

भइया
सूरज नहीं उगा था
कउए नहीं बोले थे
गौरेया नहीं उठीं थीं
जब तब
उनने अपनी बाहें पूरब-पश्चिम
अपनी टांगें उत्तर-दक्खिन फैलाईं
नापा अंतरिक्ष जोखी धरती तन भर
भरे बदन उखड़े सपन से
और उठ खड़ी हुईं
हड़बड़ा के
दतून घर में थी नीम का कटता रुख
कुल्ला भर पानी
चुल्लू भर जीवन
हाथ भर कोशिश

माँ की   भाई की   बहन की
बदहवास भौजाई की
दूर के मामा की—फुआ की
कब से चले आए ऊँचे खानदान की
ऊँची नाक की इज्जत
बचाने की।

भइया
आखर तो उसने चार ही पढ़े थे चतुराई के
लेकिन आँखिन देखी पूरी किताब
अपने पन्नों पे लिखी जाते

भरे जेठ भर बैसाख
उमस भरे सावन के बाद
भर भादों पहली झड़ी
वे भीगीं
(सस्ती से सस्ती बरसाती
झीना से झीना छाता
न था उन्हें बदा तनखाहों में)
भीगीं वे विनोद में
कि अकारथ न जाय बाब घरों की ख़ातूनों सी
उनकी पसलियों उनकी जांघों की मछलियों की तड़प
भीगीं वे मचल मचल कर बिजलियों-सी
कि सकारथ हो सकारथ हो मेघ
अकारथ भले चली जाए दौड़ते उन्हें देख
चाँदनी चौक के चौकड़ी भरते हिरणों की छलांगें
पोखर में डूब जाएँ दरियागंज के दरिया दिलों की किताबें
कुमारगियों के दिन
बहादुरशाह ज़फर मार्ग पे
भले हो जाएँ अस्त
काले को सफेद सफेद को काला
करते-भरते अपने कलमों में स्याही, जेब में पैसा,
आत्मा में अहं—ब्रह्मास्मि।

[भोपाल, मध्य प्रदेश]

❑ **पंकज सिंह**

तुमने देखा है

मिलते हैं सूखे सूखे कुएँ तड़ाग
सूखी धरती की दरारें धुँधले क्षितिज तक
दुष्काल में मवेशी और मनुष्य चले जाते सिर झुकाये
हकासे-प्यासे गाछ-बिरिछ तड़फड़ाते चिड़ई चुनमुन
सुन्दर साँवरी स्त्रियों के होंठ पपड़िआये
बच्चे उनके कुम्हलाये फूलों सरीखे नतग्रीव

पथरायी हुई ध्वनियाँ पत्थर और धूल सब एकरंग आकाश तले

कहीं रास्ता नहीं मिलता सब खोते जाते हैं निर्वर्ण फैलाव में
कुछ कुछ दूर जाकर पगडंडियाँ उलझ उलझ जाती हैं
तुमने देखा है झीनी मृत्यु का प्रसार उन धूसर इलाकों में वहाँ
हवाएँ भागती हैं निस्सहाय ज्यों अनवरत पलातक समय की हाथ

तुमने देखा है तिमिर की कारा में अनन्त विलाप-सा जीवन
तिल तिलकर छूटती जाती-सी जीने की अभिलाषा
धीरे-धीरे राख-सी झरती नीरवता की गूँज
हर तरफ बिछती राख राख

देखी हैं तुमने उतरती हुई केंचुल-सी
संवेदना की परतें एक एक कर
इधर भाषा और बुद्धि के इलाकों में
अंत में बचा रह जाता है चीमड़ काठ करियाता
निर्लज्ज खुशगप्पियों में

पूछता हूँ किस किस से फिर भी सभ्यता इतिहास के घमासान में
स्मृति के बियाबान में तुमने देखा है
पूछता हूँ बार बार देखा है देखा है
जाने किस किस की आत्मा के स्थापत्य पर चकित होता
चुप की विराटता पर धुआँ धआँ सीझता विषाद में बेचैन बचा खुचा

थमता कभी-कभी वाक्यों की लम्बी होती छायाओं में।

[नई दिल्ली]

❑ अरुण कमल

दोस्त

खाते वक्त न रोटियाँ गिनी जाती हैं
न जीते वक्त उम्र
जैसे मैं यह आकाश देख रहा हूँ तब से
जैसे यह पहाड़ देख रहा हूँ
जैसे यह नदी और यह इमली का पेड़
वैसे ही कहीं है सुरक्षित जमाराशि मेरी
मेरे जीवन का बाँध—
तेरी आस्तीन में पोंछता जाता हूँ गर्द

कोई है जिसकी नज़र से गिरने का मतलब
चौबीसवीं मंज़िल से गिरना
जो मेरी नब्ज़ छू बता दे कल मैंने क्या खाया
जो मेरी कमीज़ देख कह दे मैं कहाँ जा रहा हूँ
जो खुश हो तो मेरी हथेली का छापा
और नाराज़ तो उल्टा लिखा अक्षर 'एम्बुलेंस'

दो छोटे बच्चे बूट पॉलिश वाले
बैठे हैं कब से गाहक के वास्ते
कि शाम होते-होते आता है एक के पास एक जोड़ी जूता
और दूसरा उसे अपनी डिबिया से देता है क्रीम
और फिर दोनों ढाबे में खाते हैं लिट्टी एक साथ

क्या है इस छोटी-सी बात में जो आज मुझे व्याकुल कर रहा
कदम्ब के फूल-सा
क्या यही है वो रिश्ता खून से परे जो आदमी को
खींच ले जाता है एक ध्रुव से दूसरे ध्रुव—
काँटों भरी बबूल की देह से छूटी गोंद का रिश्ता
वो शहद वो ओस वो हवाओं वो पेड़ों का रिश्ता
वो मिट्टी और पानी का रिश्ता

'दोस्त जिनसे ज़िन्दगी में मानी पैदा होते हैं'
दोस्त
'ज्यों बैठा हो पास लाली भरा आसमान।'

जीवन का मेला

न वहाँ छतरी थी कोई न चारदीवारी
बस एक कब्र थी
मिट्टी से बालिश्तभर ऊपर पक्के चबूतरे पर मानों
कोई लेटे-लेटे सो गया हो
जिस पर उतनी ही धूप पड़ती जितनी ज़मीन पर
उतनी ही ओस और बौछारें
दो पेड़ थे आस पास बेरी और नीम के
और बकरियाँ मेमने बच्चे दिनभर फुदकते वाँ जैसे वो
कोई गोद हो
और शाम होते पूरा मुहल्ला जमा हो जाता जैसे वो
आँगन हो घर का
तिल के लड्डू और कुल्फी वाले पानी बताशा गंडा ताबीज़
वाले और डुगडुगी बजाता मदारी लिए रीछ का बच्चा
और रात को कोई थका माँदा मँगता सो रहता सट कर

और वह सबकुछ सुनता रहता
एक-एक तलवे की धड़कन एक एक कीड़े की हरकत
हर रेशे का मिट्टी में सरकना

वह महज़ एक कब्र थी एक कवि की कब्र
जहाँ हर बसंत में लगते थे मेले

[4, मैत्री शांति भवन, बी.एम. दास रोड, पटना-800004]

❑ **वीरेन डंगवाल**

लैंसडौन

आकाशवाणी एफ.एम. सुनाता
शुजात खाँ का बजाया मारु विहाग
उस सितार से ही बहती थी झनझनाती हुई गोया यह
चन्द्रभागा रात
रेत लदी हवा की तरह धीमे-धीमे
मैंने हल्की हथेली से ढाँप लीं तुम्हारी नम आँखें
चूम लिए बालू से खुरदुर तुम्हारे खुश्क कपोल
या मैंने ऐसा सोच लिया
चलती हुई मोटर के उनींदेपन में
शहरों के बाहर की रात की इस चाँद पगी निविड़ता में
ताजा रूपे धान के खेतों में भरा चमचम पानी
बुलाता-सा लगता है
बुलाती-सी लगती है कुछ दूरी पर दुगुन में भागती
रेलगाड़ी रोशन खिड़कियों की सरसराती लकीर
अनिवार्य है अमरता से इतनी दूरी
उसी में संभव हैं प्रेम और संगीत
बाकी तो फिर कोटद्वार से चढ़ाई शुरू होगी
हाथियों के झुण्ड दिखेंगे
सड़क की बगल बाँस-वन में रात्रि भोज करते
और लैंसडौन आएगा
तब का तब देखा जाएगा।

2.

बाज दिखता है तो लगता है कोई नज़दीकी रिश्तेदार मिल गया रास्ते में
विगत की किशोरी-सा छरहर बुरांस अब भी रिझाता चपल बनाता है
बुज़ुर्ग देवदार कहते हैं सो जा थोड़ी देर को
एक खोए हुए चैन की नींद
मगर इस निर्जन अरण्य में
जब मैं सोच रहा तुम्हें
तो कहाँ से बजने लगी ये बूटों की धम्म धम

और तड़ातड़ गोलियों की
जबकि सिर्फ एक लमपूँछ है ऊपर
चीड़ की मोटी शाखा पर
और झाड़ियों में कुरकुराते
कुछ तीतर।

3.
अमल धवल गिरि शिखर कहाँ खो गए
किधर जा मरे वे बादल जल भरे
लैंसडौन जैहरीखाल प्रांतर में हाहाकार मचा है
बिन पानी के।
स्कूल से लौटती बच्चियाँ
जिनके लिए अब यहाँ भी ज़रूरी हो गया है यूनीफॉर्म पहनना
आर्मी स्कूल की देखा-देखी
टोहती आती हैं
खोये हुए सोतों और धरती में समा गए
गधेरों को
तीखा है घाम
और 5500 फीट पर भी
चल रहे हैं पंखे
टूरिस्टों की सुविधा के लिए।

कालो डांडा की चोटी पर
अगल बगल खड़े दो देवदार
अत्यंत पुरातन
जैसे दुःख बाँटते हों
दो कवि जनता के
और कौन?
दो वो ही नागार्जुन और त्रिलोचन।

[उत्तराखण्ड/बरेली, उ.प्र.]

❑ **विजय कुमार**

इच्छाओं के बारे में

इच्छाएँ अनन्त हों
पर कोई इच्छा ऐसी न हो
कि गंगा हो जाऊँ
कोई सपना
फैले न इतना परेशान करने लगे
तुमसे मिलकर तुम्हारी बैठकों से लौटता हूँ इस तरह
तुम्हें तरस खाने का मौका नहीं दूँगा

मैं एक अदना-सा मुलाज़िम
थोड़ा-सा डरपोक थोड़ा-सा इमोशनल
कुछ लाटरी के टिकट खरीदता हूँ
एक कटिंग चाय पीता हूँ
शो-केस विंडो देखता हूँ और घबराता हूँ
थोड़ा-सा भटक जाने को आतुर
मैं बाल-बच्चेदार आदमी
लौटकर एक छाता फैलाए
बैठा रहूँगा इस
टपकते घर में किसी बरसात की शाम

उम्मीद जो तुम बार-बार मेरे भीतर जगाना चाहते हो
मैं बार-बार अपने आपसे मिलता हूँ
इसी खामोशी में आकाश को देखता

किसे ज़रूरत है
इतने सुनसान छायादार
आश्वासनों से भरे रास्तों की
मैं फटे पज़ामें में
चप्पलें फटकारता
आधा दर्जन केले लिए
ज़ोर-ज़ोर से गाता एक पुराना गाना

इन रास्तों से गुज़र जाता हूँ हर रोज़

लो घूरो
टकटकी लगाकर मुझे घूरो सूअरो!
मैं एक निहायत खुदगर्ज़ आदमी
जीता हूँ इसी तरह एक नाउम्मीद समय में
मैं दुखों के बाहर
मैं मंसूबों योजनाओं उत्सवों, हँसी-ठट्ठों के बाहर
मैं दुनियावी समझदारी से खदेड़ा हुआ आदमी
मैं इस तरह
कि किसी और की तरह नहीं

फिर भी एकाध कदम पीछे
वैसा कि जैसा मुझे होना चाहिए था
तुम्हारी बैठक से बाहर आकर
मैं खखार कर थूकता हूँ सड़क पर
गो कि जानता हूँ
मेरे थूकने से आसमान नहीं गिर पड़ेगा।

[ए-302, महावीर रचना, सेक्टर-15 सीबीडी बेलापुर, नवी मुम्बई-400614]

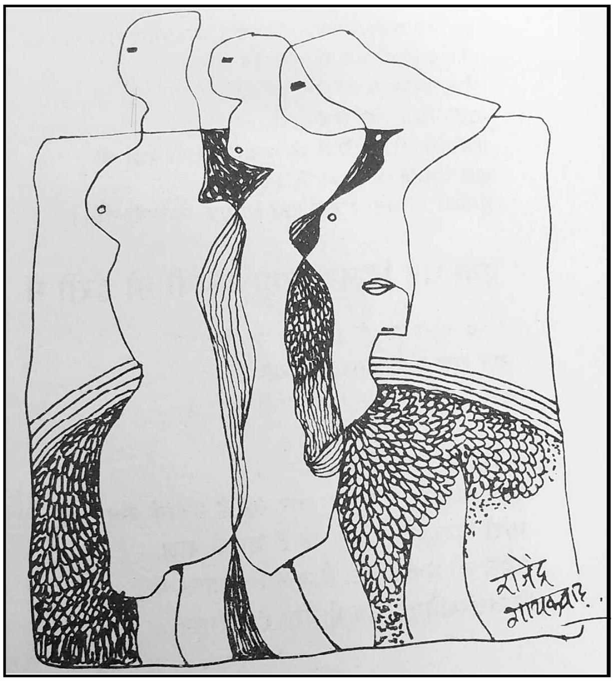

❑ **लीलाधर मंडलोई**

अंगूठा

किसी रसीदी टिकिट पर
नहीं लगाना अंगूठा
तुम्हारे अंगूठे की छाप में
गिरवी रखा है खेत

तुम्हारे बच्चे
अंगूठे की लाज बचाए
जोत रहे हैं अब भी हल
कर्ज़ अब भी चुका नहीं
सरकारी कानून अभी तक चुप है।

ज़मीन

मैं घूमता हूँ नियम से
बारह घंटे की नौकरी के बाद
आप क्या बिगाड़ लेंगे
मैं सोता हूँ बेफिक्र ज़मीन पर
मैं नींद की गोलियाँ नहीं खाता।

क़ब्रगाह

चार दिन की ज़िन्दगानी
पाँच दिन का खेल

शतरंज की बात और भारी
पहाड़ पर चढ़ने का जज़्बा अब कहाँ
भूल जाओ
एडमंड हिलेरी को
ध्यानचंद को सिर से
याद रखो

प्रीति जिंटा, शाहरूख खान और
ऋतिक रोशन को

गति को याद रखो
बिंदास क्रिकेट के आगे
दम तोड़ रहे हैं बाकी खेल
ये क्रिकेट की पिचें नहीं
कब्रगाह हैं
शेष खेलों की।

नींद और सपने का रहस्य

वह एक जादूगर है
धुनकता है रूई
तो धुनकता जाता है

खड़ा कर देता है धवल पहाड़
मैं उसके भीतर छिप जाता हूँ
कल्पना में बनता हुआ सांताक्लाज

मैं घूमता हूँ, गलियों में
मैं सपने बाँटता हूँ
कितने पुराने हैं वे

धुनिया ने सिखाया
पुरानी रूई कैसे होती है नयी

कैसे आती है नींद
सपने किस रास्ते आते हैं
कोमल तकिये बनाना नहीं जानता
सांताक्लाज

धुनिया है जो जानता है
नींद और सपने का रहस्य
इस तिलिस्म को
तोड़ा नहीं जा सका
आज तक।

[बी-253, सरिता विहार, नई दिल्ली-110076]

❑ **नरेन्द्र जैन**

इतना कुछ

अब हम सिर्फ़ कविता के बारे में
बातचीत करेंगे
कविता के बारे में कहने और जानने के लिये
इतना है कि एक उम्र गुज़र जायेगी
सफ़ेद हो जायेंगे हमारे बाल
तब भी हम कविता के बारे में
कुछ न कुछ
कहते और जानते रहेंगे।
2005

कोई रंग

लाल रंग क़लम का हो सकता है
कहना चाहिये कि होता ही है
कविता का भी होता होगा कोई रंग
धूमिल, धूसर, बदरंग या लाल
फ़र्ज़ करो कि कविता का रंग लाल ही हो
अगरचे ऐसा हुआ तो
कितनी देर लग सकती है दुनिया के बदलने में?

दिक्कत ये है कि
रंग बहुत सारे हैं
और क़लम पर काबिज़ भी हैं
और रंगों का अपना चलन है
आदतें हैं—परम्पराएँ हैं
व्याधियाँ हैं
भय हैं
गरज़ ये कि रंगों की मुश्किलें ही मुश्किलें हैं

होने को हो सकता है
क़लम का लाल रंग

कविता का भी
और उस लफ़्ज़ का भी जो
फ़ैज़ के शब्दों में लिखा जाता है
खूने दिल में अंगुलियाँ डुबोकर

पगडंडी

ज़मीन कैसी भी हो
काँटों भरी या उबड़ खाबड़
जब दो पाँव चलना शुरू कर देते हैं
पगडंडी बन ही जाती है

वह धीरे-धीरे शक्ल अख़्तियार करती है
वहाँ से गुज़रने वाले सोचते हैं
वे पहुँचेंगे ज़रूर कहीं न कहीं
उस पर चलते हुए प्रसन्न होते हैं उनके पाँव
वे चलते हैं सधे ढंग से
बचते-बचाते झाड़-झंखाड़ और काँटों से
पगडंडी उन्हें ऐसे संभालती है
जैसे मुलायम गोद किसी का सिर

जब हवा तेज़ चलती है
पगडंडी से उठते हैं धूल के बगूले
और छा जाते हैं आसपास की हरेक चीज़ पर

कुछ पगडंडियाँ बरसों तक कायम रहती हैं
उनसे राहगीर गुज़रते हैं
शवयात्राएँ गुज़रती हैं
मेले गुज़रते हैं
और राह भटका कोई यात्री भी

वे लोग
हमारे समय से कितना आगे जा चुके
जो अब पगडंडियों से नहीं गुज़रते।

[132, श्रीकृष्ण नगर, विदिशा, म.प्र.]

कथा क्रम : चार

गुमशुदा

❑ रेखा

यह पाँचवीं रात है। घर के सभी लोग बिना खाए-अधखाए, जगे-अधजगे गेट खुलने की, टेलीफोन की या फिर किसी भी ऐसी आवाज़ को सुनने के लिए चौकन्ने बैठे हैं। अचानक उनमें से कोई उठकर आँगन में चहलकदमी करने लगता है या फिर कोई उमस-भरी रात में फ्रिज़ खोल पानी का गिलास भरकर पी लेता है... अगर आज भी कोई पता नहीं चला तो?

पुलिस चौकी में रपट दर्ज़ करवाए भी चार दिन हो चुके हैं। खुद घर के दो जवान बच्चे, उनके दोस्त-मित्तर, सगे-रिश्तेदार, पड़ोसी; किसी ने कसर नहीं छोड़ी। कोई गाड़ी लेकर दौड़ा तो कोई मोटर-साइकिल और स्कूटर लेकर। जहाँ कहीं भी कोई जाननेवाला घर-परिवार है, सबको पूछकर खबर कर दी है। चारों दिशाओं में बीस-तीस मील तक तो चप्पा-चप्पा छान मारा है... अब क्या होगा? क्या कहेंगे लोग? बेटे से एक बूढ़ी माँ की देखभाल नहीं की गई? लोगों की तो कोई क्या कहें। जो कहना होगा कह लेंगे। पर उसकी अपनी अंतरात्मा उसे रात-दिन लताड़ रही है... किसी तरह बैठने ही नहीं देती। लताड़ ही तो रही है, जैसे वह उस झबरे खाज खाए कुत्ते को लताड़ती रहती थी।

वह झबरा, खाज खाया कुत्ता जब भी मुँह टाँगों में छुपाए कहीं छाया में ऊँघने लगता, वह झट पाँवों से उसे कोंचने लगती, ''उठ, उठ! करमजले उठ! रात-दिन सोया रहता है। खाता है या सोता है, बस... कुछ होर है नी तेरे बस का।'' कुत्ता कुछ देर कूँ-काँ करके फिर दूसरी जगह बैठ जाता। वह तब भी ऐसे ही उस कमरे के बाहर बैठा रहता था, जब कमरे में किशन का बाप दिन-भर हुक्का गुड़गुड़ाया करता या अपनी फालिज मारी टाँगों से दरवाज़े तक घिसट कर कभी-कभी रसोई की तरफ भूखी आँखों से ताकते हुए पूछ लेता, ''किशन की बीजी, रोटी कब पकणी?'' रसोई में कोई हो तब न? किशन की बीजी तो तब भी किसी आँगन में चार औरतों के बीच कह रही होती—''भैणजी, मैं क्या करूँ... मेरा तो जी नी लगता!''

आज वही किशन की माँ पाँच दिनों से घर में नहीं है। उसका उचाट मन वैसे तो हर सुबह 'चल-उठ, चल-उठ' कहते हुए उसे कोंचने लगता है। बेटा, बहू, दोनों पोते अभी घर पर ही होते हैं। वह उन सबसे पहले चाय के साथ दो रोटियाँ निगलकर पाँवों में हवाई चप्पल फँसाकर निकल लेती है।

रूखे, उलझे बाल, तिरछी धनुषाकार टाँगें, फटी हुई एड़ियाँ, झुकी हुई पीठ और सूखी बावड़ियों जैसी आँखें। बदरंग कुरते की बाहों से निकलकर झूलती हुई आधी नंगी बाहें, जैसे पेड़ चढ़ी सूखी हुई बेलों में काली तोरियों के पिंजर लटके हों... वही किशन की माँ पाँच दिनों से घर में नहीं है। उस दिन, शायद सोमवार की सुबह, जब वह घर से निकली किसी ने तो पूछा ही होगा—''पंडताणी कहाँ जाया करती?'' भले ही उसे छेड़ने के लिए पूछा हो। अलबत्ता अब तो इस बस्ती के लोग उसे इस तरह रास्तों पर देखने के अभ्यस्त हो गए हैं। कोई

समझ-सयाना तो उसे रोकता नहीं। जिसकी शामत आई हो वह पूछे और फिर सुने—"खसमा खाणे, राह चलते को ऐसे टोकते?"

शहर के बाहरी इलाके में हल्की-सी ऊँचाई पर, खेतों के बीच बना बेटे का सुन्दर आधुनिक बंगला। घर के दरवाज़े पर खड़ी दो-दो गाड़ियाँ। मज़बूत गेट के पास पोर्च में बंधा भेड़िया नस्ल का कद्दावर कुत्ता, लॉन में घास को सींचता हुआ माली, रसोई में बर्तन धोती हुई नौकरानी... अब उसे कोई भी नहीं रोकता। वह घर की नज़र उतारने वाली काली काढ़नी की तरह कील से उतरकर घर को अपशकुनी, अमंगलकारी नज़रों के आगे बेपर्द करके चल देती है। फिर भी ऐसा तो कभी नहीं हुआ। अँधेरा होते-होते, जब तक गायों को गुआणियों में बाँधने का, ब्राह्मणों के घर ठाकुर जी की आरती का और अति-व्यस्त उसके बेटे के घर लौटने का वक्त होता, तब तक किशन की माँ धूल-मिट्टी से सने पाँवों से तख्त पोश पर पालथी मार कर आ बैठती। वह सीधा बहू को हुक्म देती— "ओ कुसुमा! चाह बणा मेरे को! कभी माँ को बी पुछ लया कर।"

ऐसे वक्त यदि कोई पूछ ले कि सारा दिन कहाँ गुज़ारा तो 'किशन की बीजी' बहुत ही संजीदा होकर कहती—"देखो भैणजी, हमने तो गुरु धारण किया है, हम गुरु-पीर वाले हैं, मैं तो बाबे के गई थी... सारे ही जाणते हैं वहाँ सारी बहुएँ पैर हथ लगाती हैं, सारे बोलते—पंडताणी, आ जाया करो, यहाँ जी लग जाएगा।"

कहाँ था यह 'बाबे का डेरा?' घर से पन्द्रह-बीस मील। लेकिन पंड़ताणी रेगिस्तान के जहाज़ की तरह तपती धूप में यह फासला चल-चल कर तय कर लेती। ऊँट के तो पेट में पानी रहता है, पंडताणी की कमीज़ के नीचे पहनी शमीज की थैलीनुमा जेब में हमेशा चने रहते... और कुछ मूंगफली या बेसन की मिठाई के टुकड़े। दाँत हरदम कुछ पीसते से लगते। और पानी? कहीं भी बहती धार में अंजुरी बाँधकर दो घूँट पी लेती।

बेटा दफ्तर से आते ही पहले माँ के कमरे में झाँकता। उसे चुपचाप नाक तक मुँह ढाँपे लेटे हुए पाकर आश्वस्त हो जाता। ...बहू? वह खाने के साथ उन सारे तानों, फटकारों और गालियों का हवाला देती, जो पति की अनुपस्थिति में 'किशन की बीजी' उसके लिए परोसती रहती। पंडताणी का बेटा—'मेरा किशन' तो था भोला भंडारी... सच्चा, साहु... और बहू? बस पूछो ना! कुसुम उसके खुरदरे फटे हुए बालों में कंघी फेर रही हो... पंडताणी की जुबान चलती रहती—"... ए बहू है ना, ए बड़ी चंदरी है। किशन भी इसके कहे चलता! ए तो बसीकरण जाणती। मुझे तो रसोई में बढ़ने नी देती। नौकर-चाकर सब ठीक, बस मैं माड़ी। सबकी जूठ मुझे खला दी... भैणजी, मेरी तो दुरगत है दुरगत।"

वही 'किशन की बीजी' पाँच रातों से घर में नहीं है। कहाँ गई... कहाँ सोई... क्या खाया... कुछ पता नहीं। किशन का चेहरा गहरी पीड़ा से दरक-दरक जा रहा है। कुसुम का भी बुरा हाल है। वह रोते-रोते कह रही है—"बीजी, बस एक बार वापिस आ जाओ। चाहे फिर सारी उमर मुझे गालियाँ देते रहना। हम पर यह दाग न लगाओ।"

किशन जब थाने रपट लिखवाने गया तो उससे पूछा गया था, "गुमशुदा की दिमागी हालत कैसी है?" तो उसने कहा, "नहीं, वह पागल नहीं है।" वह पागल कहाँ थी? बस इतना ही तो कहती थी बार-बार—"हाय, मैं क्या करूँ? मेरा तो जी नी लगता!" पागल नहीं थी तो इस तरह घर से निकलकर सड़कों पर क्यों घूमती रहती थी? न मौसमों की मार का डर, न

चोर-उचक्कों का भय, न जंगली जानवरों से खतरा, न चलने की थकान, न भूख, न प्यास और न यह अहसास कि अस्सी साल की बूढ़ी काया कहीं राह-चलते आँख मूँद ले तो?

फिर भी किशन जानता है वह पागल नहीं थी। लोगों के बहुत कहने पर भी, कि उसे पागलखाने छोड़ आओ या धरमपुर अस्पताल में भरती करा दो... उसने किसी की बात न मानी थी। दिन-भर घूमती ही तो थी बेचारी... उस परिंदा रूह को पता नहीं किस घर की तलाश थी... कहाँ छूट गया था वह घर? कैसा था वह घर जो उसे कभी मिला ही नहीं?... न पिता के घर में, न पति के घर में, न पुत्र के घर में।

किशन जानता तो नहीं पर अपने खून में माँ की रूह का उच्चाटन ज़रूर महसूस करता है। माँ को लगता है कि उसके माँ-पेओ ने सनेहा भेजा है। तभी कहती, ''पुत्र, मेरा जी माँ-पेओ के वास्ते उदास है। मेरे भतीजे मेरा भतेरा मान करते। बहुएँ बोलती-बुआ आ जाया कर... पुत्तर, मैं जल्द मुड़ आणा, यहाँ मेरा जी नी लगता। बस मुझे जाणे दे...।''

वही 'किशन की बीजी' इस बार न बाबे के डेरे पहुँची, न माँ-पेयो के? माँ-बाप का घर तो कहीं था ही नहीं, पता नहीं सब भाई-भतीजे कहाँ-कहाँ बिखर गए थे। वे सब आत्मीय और उनका बसेरा उसकी कल्पनाओं में ही आबाद था।

तो फिर वह गई कहाँ? किशन बार-बार उस फोटो को उलटता-पलटता है, जो पुलिस को और टी.वी. पर दिखाने के लिए दी थी। कितनी मुश्किल से बच्चों के जन्मदिन पर यह फोटो खींचा था। कैमरे से वह इतना घबराती थी मानों कोई उस पर गोली चला रहा हो। किशन के गले से एक बेसाख्ता पुकार निकली—''बीजी तू है कहाँ?'' बाहर कहीं चिड़िया बोली और साथ ही टेलीफोन की घंटी। किशन ने झपटकर फोन उठाया, ''कौन? कहाँ?''

''किशन वीर जी आपकी माँ... जी गुरुद्वारे से थोड़ा आगे... पीपल के नीचे... जी, फौरन पहुँच जाओ... मुझे आगे निकलना है।''

यह किशन के गाँव का लड़का सतबीर था। ट्रक लेकर नूरपुर गया था। रास्ते में एक ढाबे पर उसने भट्टी के पास मुड़ी-तुड़ी पंडताणी को चाय के साथ सूखी रोटी चबाते हुए देखा। बीच-बीच में वह सुबकने लगती। सतबीर को देखते ही पहचान गई और उसके पाँव पकड़ लिए, ''तेरा भला हो पुत्तर... घर छोड़ आ मेरे को, बाट का पता नी।''

'किशन की बीजी' घर लौट आई है। आँगन में आस-पड़ोस के लोग जमा हैं। सबकी नज़रें उस पर टिकी हैं। पंडताणी झिड़ककर कहती है—''मुझे काहे ताका करते? कोई तमाशा है... जाओ अपणा कम करो।''

सारी धरती पर वह उस चार अंगुल ज़मीन को खोजती रही है, जहाँ जन्म के बाद उसकी नाल दबाई गई थी। कहाँ है वह चार अंगुल ज़मीन? निढाल-सा पड़ा किशन माँ के ऋण से उऋण होना चाहता है। उसके लिए वह चार अंगुल ज़मीन का टुकड़ा चाहता है, जहाँ उसका जी लग जाए। उसके लिए तो वह छितराई हुई कंटीली झाड़ होकर भी घनी छाँव थी। कभी-कभी बौखला कर उसे चूमती रहती—''मेरा पुत्तर-मेरा पुत्तर!'' ऐसे क्षणों में उसकी कुरूपता, कर्कशता, विक्षिप्तता जैसे कहीं गायब हो जाती... और किशन उन बौराई हुई आँखों में देखते हुए, ज़िन्दगी के सारे बीहड़ और भटकन भूल जाता।

फूस का वह घर यहीं कहीं था... यहीं, जहाँ आज गौशाला है। माँ ऐसी ही अलख

बछेरी। पिता जन्म-भर के रोगी। उसे ऐसा ही बचपन नसीब हुआ था। फिर धीरे-धीरे सबकुछ बदल गया। वह फूस का छप्पर इसी कोठी के पिछवाड़े गुम हो गया। पिता का दुर्भाग्य उनके जन्म के साथ आया था। मौत के साथ चला गया।... सबकुछ बदला... पर माँ? पत्नी के साथ घर में बसावट आई... फिर भी माँ?

माँ के लिए कुछ नहीं बदला। उसने तो शायद ही अपनी खाट और उसके ऊपर छत के अलावा आस-पास कुछ भी बदलते हुए देखा होगा। पहले घर से निकलती थी तो दरवाज़े पर से लकड़ी की अर्गला हटाकर जाती थी। अब गेट का यह रोबीला दरवाज़ा खोलना पड़ता है। बाहर का दुर्निवार आकर्षण तब भी था, आज भी है। आज भी रास्ते, पगडंडियाँ, कच्चे बाट देखकर पंडताणी की रूह में ऐसी हिलोरें उठती हैं जैसे कोई बीन बजाकर पिटारी में सोये नाग को जगा दे। उसके पैर रास्तों की लय में एकाकार हो जाते हैं।

कभी सुबह ही वह गठड़ी बाँधकर कहीं जाने की तैयारी में होती। किशन पूछे— "बीजी, कहाँ चली?" तो कातर-सी होकर कहती, "पुत्तर मैं माँ-पेओ के जाणा।"

खाट पर किशन बीजी के पाँव सहला रहा है... जानना चाहता है पाँच दिनों की व्यथा-कथा। आखिर यह बूढ़ी, बेसहारा, बेबस जान और युगों लम्बे ये पाँच दिन-रात!

वह बिना आँसू बहाये सुबक रही है और कहानी कह रही है—हाँ, तो वह चलती रही, चलती रही और एक बेगाने देस पहुँच गई... 'बाबा के डेरे' से जब लौटी तो शहर के बस-स्टैंड पर झंडे लिए लोग ही लोग खड़े थे, पुलिस ही पुलिस थी। बहुत सारी बसें रोके रखी थीं। वहाँ सिपाही ने पूछा— "माई कहाँ जा रही है?" बीजी बोली—"खड्ड पिंजौर! मेरे भतीजे की हट्टी है।" सिपाही ने बीजी को एक बस में बिठा दिया था। जहाँ बस ने उसे उतारा, उसके तो होश गुम हो गए। वह तो पैदल रास्तों से परिचित थी। वहाँ न तो हट्टी, न भतीजा। शटरवाली बड़ी-बड़ी दुकानें ही दुकानें थी। उसने आस-पास लोगों से चरनू का पता पूछा। बेड़ा गरक हो उन लफंगे लड़कों का। उसे पागल समझकर मसखरी करने लगे— "चरनू?... माई हम तो चरनू नहीं चरनदास को जानते हैं। क्या कहा चरनू? चूरन बेचता है?"... और बीजी ने जो आज तक नहीं किया था, वही किया। उन पर पत्थर उठाकर मारे।

हाँ तो वह चलती गई... चलती गई... गहरी शाम पड़ रही थी जब नलके पर पानी भरती एक बहू ने पूछा, "बीजी, जाणा कहाँ?" वह बोली, "घर और कहाँ?" उस भली औरत ने हाथ पकड़कर उसे रास्ते पर डाल दिया। सत्यानाथ! चलते-चलते हार गई। न घर-न गवाणी, न गाय-न गोहारे। अपने घर के पास तो कितने ही हरयाले पेड़ थे। टाहली थी, आम थे, खैर थे, नीम थे, एक शहतूत भी था और भी कई कुछ था... घर तो दूर-दूर पेड़ों में ही दबे रहते थे... पर ये क्या हुआ? बीजी घर के पास पहुँचने ही वाली थी कि लगभग दो फर्लांग दूर से ही फिर घूम गई। लगा ये तो कोई ओपरी-सी जगह है। सड़क के इधर-उधर कोई पेड़ न था। खूब निगाह दौड़ाई कि कहीं पीपल ट्याड़ा नज़र आए। फिर उसके बाद शिवद्वाला! शिवद्वाला तो चार-पाँच मंज़िल के घरों के बीच दब ही गया है। उस तक तो पहुँचना ही मुश्किल है। ये देख-जान कर बीजी का सिर ही घूम गया। फिर पंतों का नौण।... वो भी बर्बाद। थोड़ा आगे अपनी छन्न। पर नहीं, वहाँ तो नज़ारा ही कुछ और था। बड़े ट्रक थे और छोटी गाड़ियाँ कुछ लद रहा था, कुछ उतर रहा था। धूड़ ही धूड़ उड़ रही थी। कुछ पखले जैसे लोग थे। बीजी उलटे पाँव भागी। अँधेरा हो गया था। फिर किसी ने पूछा, "बीजी कहाँ चली?" पता नहीं

मन में क्या आई तो बोली, "मढ़ी पर! आ चल। तू बी जाणा?" पूछनेवाले ने सोचा पागल है, "जल्दी-जल्दी जा बीजी!" कहते हुए वह हँस पड़ा।

फिर भी... चलती रही, चलती रही। उसके बाद तीन दिन-तीन रात वह कहाँ-कहाँ गई? कहाँ रही? याद नहीं आया... बस चलती गई।

"रोटी कहाँ खाई?" इस सवाल पर बीजी की सूखी बावड़ियों जैसी आँखों में पानी की झलक तैर गई। उसने सुबकते हुए दोनों हाथों को फैला दिया। हड़ियल, खरोंचें खाए हाथ। शायद कहना नहीं चाहती थी कि माँगकर खाई।

एक शाम कुछ लड़कों के पीछे चलने लगी। चलते हुए आवाज़ें लगाती चलती, 'किशना ओ किशना!' उस जवान ने पीछे मुड़कर मज़ाक किया, "माई, वृन्दावन तो उस पासे है... तू कहाँ जाणा?"

"पुत्तर, मैं अजनोली जाणा, मैं घरे जाणा!"

वह लड़का भला था। उसने फिर उसे रास्ते पर डाल दिया। रात हो रही थी।... पंडत जी मध्यम-सी रोशनी में हुक्का गुड़गुड़ाते हुए दरवाज़े की तरफ देख रहे होंगे... किशना किताब पढ़ रहा होगा... वह सोचती रही। पर ये फिर क्या हुआ? वह फिर कहीं बाट भूल गई। न बूढ़ा बड़ का दरख्त मिला न उसके आगे हनुमान जी... लाल लंगोटीवाले। अपने घर की जगह तीन मंज़िला ऊँचा मकान नज़र आया, बड़े-बड़े हांडेवाले लट्टू... रोशनी ही रोशनी। पंडताणी की आँखें बंद होने लगीं। यह घर है या किसी राजे का महल? कहाँ देखा था ऐसा सबकुछ ... और वह फिर दूर से ही मुड़ गई। घबराकर दौड़ती हुई सड़क पर पहुँची तो बच्चों ने पीछे भागना शुरू कर दिया... पगली ओए! बीजी ने पूरा ज़ोर लगा दिया कि उन्हें अपना नाम बताए, घर का पता बताए। बताए कि वह फलां पंडत की पंडताणी है; कि उसका बेटा किशना बड़ा अफसर है... पर वह सिर्फ कराहती रही... "हाय मैं का करूँ, कहाँ जाऊँ?"

... और इस तरह अजनोली के पंडत पाधा जी की पंडताणी, 'किशन की बीजी' चार दिन तक हर शाम अपने घर के पास आकर भी जहाँ कहीं लौटती रही। अपने घर की पहचान खोकर। क्या वह पागल हो गई थी? या घर और वहाँ तक पहुँचानेवाले रास्ते खो गए थे? उसके मन में जो दिशा संकेत थे—पीपल का ट्याड़ा, पंडतों का नौण, शिवद्वाला, अपनी छन्न, बूढ़ा बड़, लाल लंगोटीवाले हनुमान जी, मद्धम-मद्धम सकुचाई-सी दीपों की रोशनियाँ; वह अपनी शीशम, वह आम, वह नीम—हरेक से उसका अपनापा था। सब जानते थे पंडताणी, किशन की बीजी को घूमने की लत है, ऐसे ही घूमती रहती है, फिर भी शाम होते-होते, अँधेरा होने से पहले सब उसे घर पहुँचा देते... कहाँ गए वे अपने मित्तर पियारे, जो दुनिया ने उसे पागल ही समझ लिया?

शरीके अभी भी आ रहे हैं। एक नज़र उस पर डालकर चले जाते हैं। अब तो मानेगा किशन कि उसे धरमपुर छोड़ आना चाहिए।

नहीं किशन जानता है वह पागल नहीं है। वह एक परिंदा रूह है...। गुमशुदा ... जो अपना घर ढूँढ रही है... वह चार अंगुल ज़मीन, जहाँ उसकी नाल गड़ी हुई है।

[तथागत, 214/1/1, लोअर जवाहर नगर, मंडी, हि.प्र.-175001]

मेग्लोमेनिया

❑ डॉ. बाबू जे.

"घरनिकाला हो जाने वाले किरायेदार की भाँति हैं शरीर के अन्दर बसता प्राण। उस प्राण को घरनिकाला बनाने के कुदरत के हाथों असंख्य तरीके भी रहते हैं। तब खुद को घरनिकाला बनाने के लिए आदमी क्यों तुल जाता है? बुढ़ापे के अलावा भीषण बीमारियाँ, पंचभूतों की आक्रामकता, असंख्य ज़हरीले साँप और खूँखार जानवर—इनमें से एक की ही मदद से प्रकृति मनुष्य का जीवन समाप्त कर सकती है। इस तरह प्राण तो हमेशा अनिश्चित बनकर रहता है। ऐसे प्राण को खुद समाप्त करने के सफल तरीके सोचते-सोचते आदमी क्यों विवश बन जाये?" शिवशरण प्रश्न भरी नज़र से मुझे ताकते पूछ रहा था।

शिवशरण के प्रश्नों का कोई जवाब मेरे पास नहीं था। मैं उस वक्त जवाब देना नहीं चाहता था। इसलिए मैं सिर झुकाये उसके सामने बैठा रहा।

मेरी चुप्पी को मेरी हार समझकर शिवशरण आगे पूछने लगा, "बताना तो, तूने इतना कठिन निर्णय क्यों ले लिया? आत्महत्या वास्तव में कायर आदमी ही करता है। जिसके पास जीने का सही लक्ष्य नहीं रहता या जीवन में कठिनाइयाँ आ पड़ने पर उनका सामना करने को हिम्मत न हो, वही आत्महत्या में छिप जाता है। साहसहीनता ही उसका मूल कारण है। समस्याओं और पराजयों के सामने डटकर मुकाबला करने वाला ही साहसी पुरुष कहलाता है। तुझमें साहस की कमी नहीं, ऐसा मैं सोचता था। मगर अब तूने मुझे निराश कर दिया।"

अब शिवशरण चुप हो गया। वह मुझसे कोई न कोई जवाब उगलवाना चाहता था। उसे इसका पूरा अधिकार भी है। एक ही गाँव के रहने वाले हैं हम लोग। एक ही जात वाले हैं। स्कूल, कॉलिज और हॉस्टल में भी हम एक साथ रहे थे। अब एक ही कॉलिज के, एक ही विभाग में हम अध्यापक भी हैं। बरसों से साथ-साथ रहने के कारण हमारे बीच एक-दूसरे से छिपाने की कोई बात आज तक नहीं रही। यदि किसी एक की कोई समस्या बन जाती तो वह दोनों की हो जाती। उसे हल करने का प्रयत्न दोनों मिलकर करते। ऐसे अभिन्न शरण को बताये बिना मैंने आत्महत्या की कोशिश की। बीच रास्ते में जीवनलीला खत्म करने का निर्णय जो मैंने किया, वह उसके लिए भारी धक्का ज़रूर था। इसलिए उसे आत्महत्या की वजह पूछने का पूरा हक भी था।

"तू उल्लू जैसा क्या देख रहा है, कुछ बताता क्यों नहीं?" शरण की आवाज़ कुछ तीखी हो गई।

"क्या बताऊँ यार? जो बीत गई सो बीत गई।" मेरी ठंडी आवाज़ निकली। आत्महत्या के असफल प्रयास के बाद अब पहली बार मेरा मुँह खुल पाया।

"ऐसा करने से काम नहीं चलेगा। तुझे परेशान करने वाली बात असल में क्या है?" शरण मुझे छोड़ने वाला न था।

इस बीच डॉक्टर राउण्ड्स के लिए आ गये। शरण बिस्तर से उठ खड़ा हुआ। डॉक्टर का उस वक्त आना मुझे अच्छा ही लगा। शरण के प्रश्नों की झड़ी से मैं बच गया।

चेकअप होने के बाद डॉक्टर ने मुझसे कहा, ''अब आप ठीक हो चुके हैं। आज चाहे तो घर जा सकते हैं। आइन्दा ऐसी कोई हरकत न करना। आपके मित्र की दौड़-धूप की वजह से ही पुलिस-कचहरी के झंझट से अबकी बार बच पाये हैं। आत्महत्या का कारण मैं पूछना नहीं चाहता। मगर आपको ये बात कहे बिना रहा नहीं जाता कि छब्बीस साल की अवस्था मरने की नहीं, जीने की है।'' डॉक्टर मुस्कुराते हुए बाहर निकले।

शिवशरण भी डॉक्टर के साथ निकला। शायद बिल चुकाने के लिए। उसके लौटने में कुछ समय लगा। उतनी देर मैं अकेले बैठा सोचता रहा। शरण को आत्महत्या की खबर कैसे मिली? वह एक सेमिनार में भाग लेने के लिए आगरा गया था। सेमिनार पूरा होने के पहले ही वह लौट आया? आगरा और मथुरा के बीच लम्बी दूरी नहीं है। दूरी एक यमुना की है। शरण के लौट आने पर ये सब उससे पूछने को अब मेरे पास भी प्रश्नों की झड़ी थी। अब तक मेरे प्रति शरण के प्रश्न ही रहे। अब बारी मेरी थी। सो सोचा-आने दो उसे।

शरण के लौट आने में कुछ देरी लग गई। वह देरी क्यों करता है? वह कहाँ गया होगा? बिल चुकाने के लिए उसे कैश काउंटर तक ही जाना है। शायद वह बाहर कहीं गया होगा। यही कुछ सोचते थकावट महसूस होने पर मैं लेट गया। लेटते-लेटते मैं शरण की शिकायतों के बारे में सोचने लगा। उसकी शिकायतें सही हैं। साहसहीन और निर्णय दुर्बल ही आत्महत्या करता है। जीवन-जंग में हारा हुआ ही आत्महत्या में शरण लेता है। लेकिन मेरे सम्बंध में आत्महत्या डरपोक की या हारे हुए की प्रतिक्रिया नहीं रही। बल्कि साहसी ही आत्महत्या कर सकता है। आत्महत्या के बारे में कोई भी सोच सकता है। मगर आत्महत्या करने के लिए साहस चाहिए। यह दुनिया मेरे रहने लायक नहीं रह जाती तो इस दुनिया से सारे सम्बन्ध काट डालने का मेरा पूरा अधिकार है। इस अधिकार का प्रयोग करने का साहस सब में नहीं होता। ऐसे लोग ही असल में कायर हैं। साहसी वही होता है जो अपने अधिकारों का इस्तेमाल वक्त पर करता है। इस दृष्टि से मैं साहसी ज़रूर हूँ।

''तूने अपने अधिकार का वक्त पर इस्तेमाल किया? तूने बेवकूफी की है। सरासर बेवकूफी!'' यह किसकी आवाज़ है? मैं चारों ओर देखने लगा। कमरे में कोई नहीं दिखाई पड़ा तो अब यह आवाज़ कहाँ से? ये शरण की आवाज़ तो नहीं। फिर मुझे पता चला मेरी अन्तरात्मा मुझे कोसती है। अचानक फिर वही आवाज़ सुनाई पड़ी—''हाँ तूने सही पहचाना। कई बार मैं तेरी भलाई की बातें कर रही थी; लेकिन सुनता कौन है? आज पहली बार तूने मेरी आवाज़ सुनी है। तो अब बताओ, तू अपने को तीसमारखाँ समझता है? ऐसा नहीं हो सकता।'' अन्तरात्मा अचानक चुप हो गई। कुछ गालियाँ दिये बिना इस प्रकार अन्तरात्मा के एकदम चुप होने पर मैं निराश हो गया। मैं किसी से गालियाँ सुनना चाहता था। शिवशरण गालियाँ देता ही नहीं। अब अन्तरात्मा, तो अन्तरात्मा ही सही। मगर अब वह भी चुप।

''आत्महत्या सुन्दर अनुभव है क्या?'' फिर वही आवाज़। अपनी अन्तरात्मा की आवाज़ को अब मैं आसानी से पहचान पाया। अब अन्तरात्मा आगे कहने लगी, ''पोटासियम साइनाइड के स्वाद का पता लगाने के लिए इसे जीभ पर डालकर परखने वाले एक व्यक्ति

को लेकर कहीं सुना है। स्वाद बता सकने से पहले ही उस व्यक्ति की परम गति हो गई। तेरी गति भी इस प्रकार की होने वाली थी। मगर तू बच गया। अपने शरीर पर खुद गोली चलाने की प्रेरणा हेमिंग्वे को कहाँ से मिली? अपनी मृत्यु या आत्महत्या को सुखमय अनुभूति मानकर ही उन लोगों ने ऐसा किया। अब तू सोच। सोचने का ज़्यादा वक्त है। सोच!...'' अब अन्तरात्मा चुप हो गई। वह फिर बोल उठेगी, मैं इन्तज़ार में रहा। मगर मुझे निराश ही होना पड़ा।

मैं सोचने लगा। शरण के प्रश्नों के चंगुल से मैं अब भी अपने को छुड़ा नहीं पाया था। तभी मेरी अन्तरात्मा मुझे मोटे-मोटे प्रश्नों में उलझाने के लिए आ धमकी। कहीं छिप जाने का विचार हुआ। भागकर छिपने के अनगिनत रास्ते सामने पड़े हैं। लेकिन रास्ता मुझे कहाँ पहुँचा देगा, इसका पता नहीं रहा। आखिर अपनी अन्तरात्मा से मैं अपने को कहाँ तक छिपाऊँ?

''अबे तू कुछ बोलता क्यों नहीं? ऐसी चुप्पी से काम नहीं चलेगा।'' मेरी अन्तरात्मा बौखला उठी।

कुछ पल सोचते रहने के बाद मेरा जवाब सिर्फ इतना रहा, '' सयाना कौआ ही गू खाता है।'' फिर मैं चुप हो गया। अन्तरात्मा भी चुप बनी-सी नज़र आयी। फिर कानों में एक भनक-सी सुनाई पड़ने लगी, ''तुने फेरफार की बात की है, मैं छोड़ती हूँ।''

अन्तरात्मा से हुए संवाद के बाद मेरा मन अपनी सहजता में आ गया।

वार्ड में किसी के घुसने की आहट सुनकर मैंने आँखें खोल लीं। शिवशरण बिस्तर की ओर आ रहा था। बिल चुकाने में देरी होने का किस्सा वह बताने लगा। सारे के सारे बिल मेरे सुपुर्द करते हुए उसने मेरी आँखों में आँखें डालते हुए पूछा, ''तूने मेरे प्रश्नों का एक भी जवाब अभी तक नहीं दिया। क्या तेरे पास कोई जवाब नहीं है?''

अपनी अन्तरात्मा से हुए संवाद का ज़िक्र मैं करना नहीं चाहता था। फिर भी कुछ जवाब देना ज़रूरी है, यही समझकर मैं बोलने लगा, ''भगवान विट्ठोबा के मन्दिर में त्यौहार का दिन था। सवेरे उठते-उठते मुझे लगा कि इस बार के त्यौहार में ज़रूर जाना है। पिछले कुछ सालों से उस त्यौहार में भाग लेने से अपने को वंचित रखने की हमारी बात तू भी जानता है। लेकिन इस बार मैं अपने को रोक नहीं पाया था। यदि तू उस दिन इधर होता तो शायद मैं अपने विचार पर संवरण रख पाता।''

''मगर मैं बहुत दूरी पर तो नहीं, एक बार फोन करने पर तुम्हारे सम्मुख उपस्थित जो जाता!''—शरण की आवाज़ धरती के उस पार से आती-सी लगी मुझे।

क्षण भर रुकने के बाद मैं बोल उठा, ''आपत्तियाँ नोटिस देकर नहीं आतीं। नाश्ता हो जाने पर मैं गाँव के लिए रवाना हुआ। दुपहर के होते-होते मैं गाँव पहुँचा। बस-अड्डे से ऑटो लेकर घर पहुँचने को मैं विवश था। क्योंकि तब तक पेट में चूहे दौड़ने लगे थे। लेकिन खेत की मेंढ़ तक ही मैं ऑटो में जा सकता था। तभी मैं गाड़ी से उतरकर पैदल चलने लगा। खेतों के बीच के रास्ते पर चलने की सुखद अनुभूति मैं बरसों बाद पा रहा था।

मगर उस सुखद अनुभूति के क्षण अत्यन्त सीमित रहे।

मेरी राह रोकते हुए डंडाधारी कुछ लिंगायत नौजवान हरिराम के नेतृत्व में खड़े हो गये। मैं डर गया था। गाँव में ऐसा मेरा वह पहला अनुभव था। फिर भी मैंने प्रश्न किया,

"मामला क्या है?"

हरिराम आगे बढ़कर बोला, "तुझे, एक महार को, जूता पहनकर चलने की जुर्रत कैसे हुई? जूता उतारकर ही तू आगे बढ़ सकता है।"

मैं उनसे भिड़ना नहीं चाहता था। इसलिए सौम्य स्वर में बोला, "देखो, मैं भी इसी गाँव का हूँ। ये जूते मेरी अपनी कमाई से खरीदे हुए हैं। इसलिए इन्हें पहनने का मेरा पूरा अधिकार है। अब तुम लोग रास्ते से हटो!"

लेकिन हटने के बदले डंडाधारी नौजवान अधिक उत्तेजित दिखाई पड़े। वे सब मुझे चारों ओर से घेरने लगे। उनके बीच खड़े रहते भी मेरा इरादा पक्का था कि मार खा-खाकर मर भी जाऊँ, मगर जूता उतारूँगा नहीं। मैंने कहा, "जूता पहनना मेरा अधिकार है। तुम सब लोग जूते पहने हुए हो। कोई रोकता नहीं। मैं भी जूता पहने हुए हूँ। मेरे जूतों से तुम्हारा क्या लेना-देना? हट जाओ मेरे रास्ते से!" मेरी आवाज़ कुछ ऊँची हो गई थी।

हरिराम और उसके दो-तीन साथी एक साथ कहने लगे, "गाँव में जूते पहनने का अधिकार तुम लोगों का नहीं, हम लोगों का ही है। कोई भी नीच जातवाला यहाँ की धरती पर जूते पहनकर चल नहीं सकता। गाँव के संस्कार का, आचार का उल्लंघन हम करने नहीं देंगे। एक पग आगे बढ़ने की कोशिश हुई तो हम से बुरा कोई नहीं होगा!" डंडे लेकर वे सब तैयार होकर खड़े हो गए।

मैं उनकी धमकियों में आने वाला नहीं था। उनसे प्रतिवाद करने का कोई फायदा नहीं है, यह सोचकर उन लोगों के बीच से रास्ता बनाकर मैं आगे बढ़ा। पीठ पर लाठियों की असंख्य मार खाता हुआ मैं आगे बढ़ा। मार-पीट की परवाह किये बिना बड़े साहस के साथ सबको धक्का मारकर आगे बढ़ने वाला मैं और मेरा पीछा करते वे मुझे मारने वाले एक जुलूस की तरह आगे बढ़ रहे थे। मार खाते हुए दौड़ते समय भी मेरे जूते कभी न उतर जायें, इस सावधानी के साथ ही मैं आगे बढ़ रहा था।

दौड़ते-दौड़ते और मार खाते-खाते अब मैं थक गया था। मैं मेंढ़ पर गिरने वाला था। मेरा दम घुटने लगा तो भी मैं रुकने वाला नहीं रहा। दौड़कर महारवाड़ा पहुँचने का ही विचार था। मगर मुझे अचानक रुकना पड़ा। सामने की मेंढ़ से होकर बप्पाजी आते नज़र आये। बप्पाजी महार जातवालों के मुखिया थे। कुछ महार नौजवान भी उनके पीछे-पीछे दौड़े आ रहे थे। लिंगायत नौजवानों का सामना करने के लिए महार जातवालों को भी कटिबद्ध हुए देखकर मेरी जान में जान आ गई। मेरे साथ होनेवाले अन्याय की खबर तब तक महारवाड़े तक पहुँच चुकी थी। महारवाड़ा इसे बर्दाश्त नहीं कर पा रहा था। महार नौजवान सब बप्पाजी के नेतृत्व में मुझे बचाने के लिए पहुँच गये। उन सबको देखते ही मेरी ताकत और बढ़ गई। मैं डट कर लिंगायत नौजवानों का मुकाबला करने लगा।

महारों की भीड़ को देखकर लिंगायत नौजवान हतप्रभ रह गये। उनकी ताकत कमज़ोर पड़ने लगी। बप्पाजी सामने आते ही आक्रोश करने लगे, "बन्द करो यह हाथापाई।" उनका गर्जन सुनते ही लिंगायत नौजवान सबके सब सुन्न हो गये। पहले ही ये लोग महारों की भीड़ देखकर डर चुके थे।

"अब बताओ, मामला क्या है? यह मेरा बेटा है। इसकी ओर से कोई ग़लती हुई है तो मैं सुधारने आ गया हूँ। डंडे-लाठी सब छोड़ दो।" पिताजी का गर्जन सुनते ही लिंगायत

नौजवानों की लाठियाँ नीचे गिर पड़ीं। सब ओर नीरवता छा गई। हरिराम भी कम नहीं था, जो सामने आकर कहने लगा, ''इस गाँव में कोई महार आज तक जूते पहनकर नहीं दिखाई पड़ता था। जो महार जूते पहनकर आया उसे हम गाँव में घुसने न देंगे।''

हरिराम के ये शब्द सुनते ही महार युवाओं के बीच खलबली मच गई। बप्पाजी के अपनी जातवालों की ओर एक कड़ी नज़र डालने से ही नौजवान सब के सब चुप हो गए। उनके चुप होते ही बप्पाजी की नज़र मेरे पैरों पर पड़ी। बप्पाजी एक क्षण के लिए तिलमिला उठे। उनकी आँखों से जैसे आग बरसने लगी। अब बप्पाजी मेरे सामने आ खड़े हो गये। मुझ पर कड़ी नज़र से देखते ही उनके मुँह से निकला, ''आचारों का उल्लंघन तूने क्यों किया? इसकी हिम्मत कैसे हुई? जूतों से बाहर निकलो।'' मैं एक क्षण के लिए विमूढ़-सा खड़ा रहा। सारे लिंगायत नौजवानों का सामना मैं अकेला कर सकता था। नहीं तो उनकी मार खाते-खाते यहीं खेत हो जाता। अपने आत्मसम्मान की रक्षा कर सकता था। मगर अब बप्पाजी का सामना करना मेरे लिए दूभर-सा बन गया। मेरा सर झुक गया। पिताजी से मुझे यह उम्मीद नहीं थी। इससे मुझे भारी चोट पहुँच गई। ''तू सुनता नहीं, मैं क्या कह रहा हूँ?'' बप्पाजी का यह आक्रोश मेरे होश उड़ाने को काफी था। मैंने दोनों जूते उतार डाले। दोनों पक्षों में भारी खलबली मच गई। मगर वह खलबली एक पक्ष के लिए जीत की और दूसरे के लिए अपनी नितान्त हार की थी।

बप्पाजी क्रोध की मूर्ति होकर लौट चले। दोनों पक्षों के बीच मेरे जूते अनाथ जैसे पड़े रहे। लिंगायत नौजवान जय रब करते निकल गये। दो-तीन महार नौजवान जो मेरे पास खड़े थे, बप्पाजी के एक बार मुड़कर देखते ही, मेरा साथ छोड़कर चल निकले। मेंढ़ पर मैं अकेला खड़ा रहा। बप्पाजी पर मुझे इतना गुस्सा आया कि घर जाने के बदले मैं सीधे बस-स्टेशन चला गया। उसी रात मैं शहर वापिस आया। आत्मग्लानि के कारण भूख-प्यास या थकावट की पीड़ा मुझ पर कुछ असर नहीं कर सकती थी उस वक्त। अपमान और आत्मग्लानि की पीड़ा कभी-कभी सब पीड़ाओं के ऊपर रहती है। ऊँची जातवालों के अन्याय सहते, दमन सहते रहने वाले महारों के प्रति मेरे मन में घृणा ही उत्पन्न हुई।

हॉस्टल पहुँचने के बाद मैं भारी सोच-विचार में पड़ गया। ऊँची शिक्षा, ऊँची नौकरी, ये सब पाने के बाद भी बिरादरी में अपनी औकात ज़रा भी ऊपर न उठी तो दूसरी जातवालों को मैं दोषी क्यों बताऊँ? अपने ही मन में कोढ़ लगे तो दूसरे कैसे दोषी बताये जाएँ? मैं हॉस्टल पहुँचा तो भी मुझे चैन न मिला। मन अब भी किसी से झगड़ा कर रहा था। लेकिन पता नहीं था कि यह झगड़ा किससे?

अचानक मन में विचार आया कि जब वर्तमान व्यक्ति को डराता है या झकझोरता है तब उससे बच जाने के लिए व्यक्ति खुद को अपने भूतकाल में, अपने बचपन में या मृत्यु द्वारा पहुँचाये जानेवाले किसी अज्ञात संसार में पहुँचा देता है। अपनी दुनिया और वर्तमान समय दोनों जीने लायक नहीं रहे, आत्महत्या करनेवाले हर व्यक्ति का यही विचार होता है। इसलिए आत्महत्या व्यक्ति की हार नहीं, व्यक्ति का विरोध है।

अचानक मैं रुक गया। ये मेरे अपने विचार नहीं; कहीं पढ़े हुए विचार हैं। लेकिन विचार सही लगे। मुझे अपना विरोध आत्महत्या के द्वारा ही प्रकट करना है। इस निश्चय के साथ मैं जल्दी ही उठ खड़ा हुआ। वर्तमान के विरुद्ध बगावत का विचार तो हुआ, फिर देरी

क्यों?—ऐसा एक प्रश्न मेरे अंदर से उठने लगा। कमरे में सब जगह अँधेरा था। बिना किसी प्रतिक्रिया के सबकुछ स्वीकार करने वाली रात का अँधेरा। उस अँधेरे में मैंने समाज से, बप्पाजी से और यहाँ तक कि अपने से भी प्रतिशोध लेने का निर्णय कर लिया।

निर्णय लेने के साथ ही मैंने चाकू उठा लिया और बायें हाथ की नस को पागलों-सा काटना शुरू किया। खून फूटकर बाहर आया। खून बहाते मैं नल के नीचे पहुँच गया। खून बहाती चोट पर नल का पानी बराबर गिराता रहा। पानी खून के रंग का होकर बहता रहा। धीरे-धीरे मेरी आँखें बन्द होने लगीं। होश आने पर पता चला कि मैं अस्पताल में हूँ और मेरे पास शिवशरण खड़ा है। अब भी मुझे पता नहीं, किन लोगों ने मुझे अस्पताल पहुँचाया होगा। अस्पताल का यह कमरा अब कब्रस्तान जैसा लगा।

शरण अत्यधिक गंभीर दीख पड़ने लगा। माथे की झुर्रियाँ यह बताती कि वह गहरे सोच में पड़ा है। अब वह अपने सिर के बाल सहलाने लगा। गहरी सोच में पड़ने पर सिर झुकाकर बालों को सहलाना शरण की आदत है। अन्तर आज सिर्फ इतना है कि उसका सिर झुका हुआ ही नहीं रहा। वह मेरी ओर देखता ही रहा। दस-बीस मिनट उसी मुद्रा में बैठने के बाद शरण कमरे में टहलने लगा। टहलते-टहलते वह मेरे सामने रुक गया। अपने कड़े स्वर में वह बोलने लगा, ''आज हम डिसचार्ज होकर अस्पताल से नहीं निकलेंगे। मुझे एक बार महारवाड़ा होकर आना है। तब तक तू यहीं ठहरना!''

मेरे जवाब का इन्तज़ार किये बिना ही शरण कमरे से बाहर निकल गया। 'आज ही वह महारवाड़ा पहुँच सकता है; मगर शाम तक वापस पहुँचना आसान नहीं। तो मुझे एक दिन और अस्पताल में रुकना पड़ेगा।' मैंने सोचा।

दूसरे दिन सवेरे दस बजते-बजते, डॉक्टर के राउण्ड्स के पूर्व, शिवशरण वार्ड में पहुँच गया। सवेरे से ही मैं उसकी राह देख रहा था। हँसते हुए आनेवाले शरण को देखते ही मालूम हो गया कि महारवाड़े में कोई गड़बड़ी नहीं, सब सकुशल हैं। आते ही शरण ने एक छोटी-सी गठरी बिस्तर पर रख दी। बड़ी खुशी के साथ वह उस गठरी के निकट ही बिस्तर पर बैठ गया। मुझे भी बड़ी खुशी महसूस हो रही थी उस वक्त। क्योंकि जो गठरी शरण लाया था, वह मेरी माँ की बनाई थी। हर बार हॉस्टल लौटते वक्त मित्रें में बाँटने की मिठाइयाँ ऐसी गठरी में माँ भेज देती थी। अब त्यौहार की मिठाइयाँ माँ ने भेज दी हैं। खुशी के साथ मन में ग्लानि भी भर आयी। आत्महत्या की कोशिश करने के पूर्व ऐसी स्नेहमयी माँ को याद तक मैंने नहीं किया। ऐसे विचारों से मन को मुक्त करने के लिए मैंने शरण से पूछा, ''डॉक्टर राउण्ड्स के लिए अभी आते होंगे, इससे पहले तू बता कि बप्पाजी और माँ कैसे हैं?''

''सवाल-जवाब का सिलसिला बाद में भी हो सकता है। तू पहले यह गठरी खोलकर देख ले, तेरे लिया क्या लाया हूँ।'' शरण ने कहा।

देखे बिना ही बता सकता हूँ कि इस गठरी में क्या-क्या मिठाइयाँ हैं। यह सोचकर गठरी की ओर ज़्यादा ध्यान रखे बिना ही मेरे मुँह से प्रश्न निकला, ''तू अभी बता, महारवाड़ा तू अचानक गया क्यों था? वहाँ की हालत कैसी है?''

''बताऊँगा, उसके पहले तू गठरी खोलकर देख!'' शरण ने फिर दोहराया।

शरण की रीत मुझे अच्छी नहीं लगी। उसे हमेशा खाने की बात ही पहले सूझती है। गठरी की बात दुहराते रहने पर मुझे भी गुस्सा आने लगा। तो भी शरण मेरे गुस्से की परवाह

किये गिना गठरी खोलने की बात दुहराता रहा। पहले से भी मुझे मालूम था कि शरण ज़िद्दी है और जिद्द करते हुए वह हारना भी नहीं जानता। उसे ज़िद्द करने का और उस पर अड़े रहने का अधिकार है तो मेरा भी ऐसा अधिकार है। अपनी हठ से मैं भी हिलने वाला न रहा। अन्त में शरण को ही मेरे सामने हार माननी पड़ी। विवश होकर शरण को गठरी खोलकर दिखानी पड़ी। उसमें मिठाइयाँ नहीं थीं। सिर्फ दो जूते थे जिन्हें त्यौहार के दिन महारवाड़े के किवाड़ में मुझे छोड़ आना पड़ा था। एक जूते पर थोड़ी-सी कीचड़ भी लग गई थी।

जूतों के दर्शन से मुझे अपनी हार याद आयी। जल्दी से दोनों जूते लेकर मैंने ज़ोर से ज़मीन पर पटक दिये। शरण तुरन्त जूतों पर झपट पड़ा। जूतों को एक साथ लेकर पहले आँखों में, फिर माथे पर और अन्त में सिर पर रखे नाचने लगा। उसका यह व्यवहार मुझे अच्छा नहीं लगा। मैं श्रीरामचन्द्र तो नहीं और यह भरत भी नहीं। फिर यह ऐसा क्यों पेश आता है? यह पागल हो गया है क्या? मगर अब भी शरण नाचता रहा।

''शरण बन्द करो यह नाच। क्या तू पागल हो गया है?'' मेरा आक्रोश सुनकर भी शरण रुकने का नाम तक नहीं ले रहा था। मुझे बलपूर्वक उसे रोकना पड़ा। शरण थका हुआ ज़रूर था; फिर भी आवेश के साथ बोल पड़ा, ''तू क्या जाने इन जूतों का महत्त्व; ये असल में एक संघर्ष की जीत के निशान हैं। ये एक वर्ग की सफलता के निशान हैं। एक पिता के आत्मविश्वास और आत्मसम्मान के निशान हैं।''

मुझे कुछ भी समझ नहीं आया। मैं उलझन में पड़ गया। ये मेरे जूते हैं; इन्हें मुझे छोड़ना पड़ा था—इतना ही मुझे मालूम था। मगर शरण कहता है कि ये जूते नहीं, कोई खास निशान हैं। वह कुछ बताता भी नहीं। अन्त में विवश होकर मुझे पूछना पड़ा, ''शरण बताओ, मामला क्या है? गाँव में सबकुछ ठीक-ठाक है?''

अब शरण अपनी साधारण स्थिति में आ गया। वह जल्दी ही मेरे पास बिस्तर पर बैठते हुए बोलने लगा, ''उस दिन अपने बप्पाजी से बिगड़कर तू शहर लौट गया था। यह खबर पाते ही तेरे घर में और समूचे महारवाड़े में भारी खलबली मच गई। महारवाड़े के सबके सब आदमी लाठियाँ लेकर मुखिया की झोंपड़ी के सामने इकट्ठे हो गये। सबके सब ज़्यादा उत्तेजित भी थे। सबकी माँग यही थी कि अभी लिंगायतों को एक ऐसा सबक सिखाना है जिसे वे लोग ज़िन्दगी भर याद रखें। मगर मुखिया उस वक्त भी अत्यधिक शान्त दिखाई पड़ते थे। उन्होंने उत्तेजित भीड़ की राय मांगी। सबकी एक ही राय रही, लिंगायत गाँव को जलाकर राख कर दिया जाए। दूसरे ने बताया, लिंगायतों का सफाया कर दिया जाए। एक और का सुझाव रहा, लिंगायतों की फसलों को जलाकर राख करना है। अन्य कई महार अपनी-अपनी राय रखते थे, मगर उन्हें बताने का मौका नहीं दिया गया। मुखिया तब तक खड़े हो चुके थे। उनकी प्रतिक्रिया सुनने के लिए सब तत्पर थे।

अत्यन्त शान्त होकर मुखिया बोलने लगे—"लिंगायतों को सबक सिखाने के लिए जितने तरीके यहाँ बताये गये हैं, सबके सब खतरनाक प्रतीत होते हैं। इन्हीं तरीकों से वे हम पर भी वार कर सकते हैं और बदला भी ले सकते हैं। कुछ समय चुप रहने के बाद मुखिया बोल उठे—"मेरे मन में एक उपाय है। त्यौहार के दिन विठोबा के मन्दिर में भगवान की बैठक सजाने के फूल भेजने का अधिकार कई पीढ़ियों से महार जात का है। इस बार हम फूल नहीं भेजेंगे। इसमें दैवीकोप की कोई बात नहीं; क्योंकि यह विचार भगवान विठोबा ने ही मेरे अन्दर भर

दिया है। जब तक हमें जूते पहनने का अधिकार नहीं दिया जाएगा, हम मन्दिर के सभी कार्यक्रमों से अलग होकर रह जायेंगे।'' अब मुखिया बैठ गये।

मुखिया की बातें खत्म होते ही महारों के बीच भीषण नीरवता छा गई। दैवीकोप का पात्र बन जाने से सभी डरते थे। लेकिन कुछ उत्तेजित नौजवान दैवीकोप से डरने वाले न रहे। वे सब इससे भी भीषण खतरा मोल लेने को तैयार थे। नौजवानों का कहना था कि जूते पहनने के अधिकार के साथ-साथ आदमी जैसा जीवन जीने का हक भी चाहिए। अन्त में मुखिया के घर में महार जाति का फैसला रहा कि महारों को जूते पहनने का अधिकार चाहिए और मुखिया के बेटे से उतरवा दिये गये जूते मुखिया के घर पहुँचाने भी चाहिए।

खबर गाँव-भर में फैल गई। ऊँची जात वाले सब इकट्ठे हो गये। महारों को किसी न किसी ढंग से तमीज़ सिखा देनी चाहिए। नहीं तो और नीच जातवाले भी जुर्रतें करने को तैयार हो जाएँगे। ऐसा निर्णय लेने में सभी एकमत रहे। तभी विठोबा के मुख्य पुरोहित सभा में आये। उनकी राय ऐसी सभाओं में हमेशा महत्त्वपूर्ण रहती है। उनका कहना रहा कि विठोबा का त्योहार आज है। गाँव के सारे के सारे कमल पुष्प महारों ने मन्दिर में लाने के लिए इकट्ठा कर रखे हैं। गाँव में एक भी कमल पुष्प अब शेष नहीं है। त्योहार के लिए गाँव के बाहर से कमल पुष्प लाना आचार के खिलाफ है। इस स्थिति में त्योहार रुक जाएगा। त्योहार पारंपरिक आचारों के अनुसार नहीं मनाये जाएँगे तो गाँव का सर्वनाश हो जाएगा। भीषण विनाश से गाँव को बचाने का कोई उपाय जल्द ढूँढ निकालना चाहिए।

पुजारी जी के कहे अनुसार जल्द ही पंचायत बुलाई गई। पंचायत में महारों का मुखिया भी बुलाया गया था। वे महारों की दो माँगों पर अटल रहे। चर्चाओं के अन्त में पंचायत का निर्णय रहा कि आज से महार लोग भी गाँव में जूतों का इस्तेमाल कर सकते हैं और मुखिया के बेटे के जूते महारवाड़े पहुँचाने का काम झगन चमार को सौंप दिया जाए।

''इस बार विठोबा के मंदिर में त्यौहार में भाग लेने वाले महार नौजवान जूते पहनकर ही पहुँचे। मुखिया में बेहद खुशी उस वक्त भी रही थी, जब वे महारों की यह वीरगाथा मुझे सुना रहे थे। पूरे महारवाड़े में भी वह खुशी देख रहा था। तुम्हारी आत्महत्या की कोशिश की खबर देकर उस खुशी को बरबाद करना मुझे उस वक्त उचित न लगा।''

शरण का विवरण समाप्त होते कमरे में कुछ समय के लिए सन्नाटा छा गया। मैं कुछ बोलना चाहता था, मगर बोल नहीं पाया। मैं सोच रहा था, बप्पाजी तो अनपढ़ हैं और उन्हें एक बार शहर देखने का मौका तक नहीं मिला। लेकिन उनके पास अन्याय के खिलाफ लड़ने की हिम्मत है। उस हिम्मत का इस्तेमाल करने का तरीका भी उन्हें नहीं आता। इन दोनों गुणों से वंचित रहते भी मैं आत्मसम्मान और आत्मग्लानि रटता रहता। मुझ जैसे आत्मविश्वास न रखने वाले का मरना ही अच्छा है। मेरा विचार यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते शरण की आवाज़ सुनाई पड़ी, ''अब समझना यार!...''

''बन्द करो यार, तू जो कहना चाहता, वह अनकहा भी भला।'' शरण को आगे कुछ कहने से मैंने रोक दिया।

[हरिश्री, ए.के.जी. नगर, चेरूरकटा, पो. तिरुवनंतपुरम-625005]

डग्याली की रात

❑ श्रीनिवास जोशी

भादों के आकाश में नीलापन गहराने लगा था। नूपा जानता था कि यह नीलिमा अब बढ़नी शुरू होगी और असौज-कातक में परमु के उस नीले दुपट्टे जैसी हो जाएगी जिसे पहनने पर उसका चिट्टा रंग और उभर आता है। धूप भी तब कड़क मज़ेदार होगी। चश्मे वाले बाबू ने उससे बोला था कि असौज-कातक की धूप में तोगेंडे की खाल भी सूखती है। वह बोलते थे गैंडा मोटी खाल का जानवर होता है जिसकी थूथनी के ऊपर एक सींग होता है, जो हड्डी का नहीं होता। उसे चश्मेवाले बाबू के इस मज़ाक पर गुदगुदी हुई। वह अपने से ही बोला, ''थूथण के ऊपर बालों का बना सींग। पशु हुआ कि परेत।'' इस पर उसे हँसी आ गई। वह कुछ देर और हँसता पर उत्तर दिशा के आकाश में बुढ़िया ने आज फिर बादलों की बड़ियाँ डाल दी थीं। ''उत्तर दिशा के बादल तो बराग जैसे जालम होते हैं—उल्कापात करते हैं—उन्हें देखकर हँस सकता है कोई! भादों का महीना भी बाईस्कोप में चलती तस्वीरों जैसा होता है—अभी धूप, अभी बादल, अभी भरी खड्ड, हरा जंगल, नीला आकाश, फिर कुहैट, फिर बरखा। नूपे ने इधर-उधर गर्दन घुमाई। चारों दिशाओं में बादलों की सेना बढ़ रही थी आकाश पर कब्ज़ा जमाने। जितनी टुकड़ियाँ समा सकती थीं समा गईं वहाँ। बाकी उतरने लगीं धरती की ओर। धरती से भी कुहैट ऊपर को उठी और फिर दोनों दो खड्डों के मिलते पानी की तरह एक हो गईं—पता ही नहीं चलता कौन धरती से उठी, कौन आकाश से उतरी।

मेघीली सफेदी ने सबकुछ ढाँप लिया तो नूपे को लगा दुनिया सिमटकर केवल उसका घर रह गई है। वैसे तो उसकी खुली दुनिया भी कभी विशाल न थी—ओबरे समेत तीन कमरों का घर, तीन बीघे दो बिस्वा ज़मीन, जिसमें घासनी शामिल थी। लछमी गाऊ माता जो सावन-भादों में चिकनी-चुपड़ी दर्शनीय हो जाती थी, अस्थियों के ऊपर चढ़ी चमड़ी। शहर के बाबूजी जो चश्मा लगाते थे, साफ चिट्टे कपड़े पहनते थे, जिन्हें वह रोज़ दो पाइया दूध दे आता था। और गाँववाले जिनमें बामण, कनैतों के अलावा उसके साथ तीन टोल कोलियों के भी थे। पारके साल तक उसका बापू भी उसकी दुनिया का हिस्सा था।

भादों के काले महीने ने एक बार फिर जब नूपे की इस दुनिया को सफेद लिफाफे में बन्द कर दिया तो उसे घबराहट-सी होने लगी। एक अजीब-सी चुप्प वातावरण में तैर रही थी—खड्ड के बहते पानी की आवाज़ को भी यह चुप्प निगल गई थी। नूपे को लगा सारे ब्रह्मांड में स्वयं नूपा, लछमी और उसका घर है—बस, और कोई नहीं। अभी मेघनाद के तीरों-सा बरसता पानी आएगा और वे बचे-खुचे भी बह जाएँगे उसी में। आज तड़के ही उसने देखा था—बणोग के जंगल के ऊपर जहाँ से सूरज निकलता है, सभी बादल लाल-लाल पड़े हुए थे। उसका बापू कहा करता था—सवेरे जब इस दिशा में बादल पके हुए होते हैं तो पानी शल-शल कर बरसता है। बापू की कही बातें जब वह याद करता तो उसे बड़ा आनन्द आता था। पर

इस बात का अफसोस भी रहेगा उसे जन्म-भर कि बापू के करम को वह हरिद्वार न जा सका था। सन्तोष इस बात का था कि ठाकुर से 151 रुपये कर्ज़ लेकर वह पंडतजी को दे आया था, जिन्होंने रीति से कारज करवा दिया और बता दिया था कि उसका बापू पित्तर-लोक पहुँच गया है। एक बार फिर उसे चश्मेवाले बाबूजी की कही बात याद आ गई। उन्होंने कहा था कि गोरे लोग चाँद पर आदमी भेज रहे हैं। उसने सोचा वैसे तो ऐसा हो नहीं सकता पर मान लो ऐसा हो ही गया तो पित्तरों का क्या बनेगा। ये गोरे लोग होते तो मुसण्डे हैं—हमारे राणा साहेब को भी 'जै-दया' नहीं बोलते और राणा साहेब तो हमारे जामू देवता का ही भाई होते हैं। जब इनको देवता का ही भय नहीं तो पित्तरों से क्यों डरेंगे। तभी गड़गड़ाहट हुई और नूपा पित्तर लोक से भूलोक में उतर आया।

पानी—जितना तेज बरसेगा उतने ही नालू नूपा के घर की छत से बह निकलेंगे। उसके जगह-जगह टल्लू लगे पाजामे से मेल खाती छत में भी स्लेटों के बीच कहीं कनस्तर का मुँह ठुंसा हुआ था तो कहीं डालडा का फाड़ा डिब्बा पसरा पड़ा था। न तो पाजामे के टल्लू सर्द हवा को जिस्म से दूर रख सकते थे और न ही छत के टिनडू टपकते पानी को रोक सकते थे। दोनों बस एक ही काम करते थे—नूपे के नंगेपन को ढाँप लेते थे।

चारों तरफ की सफेद कुहैट रामलीला के ठीए से उठते पर्दे की तरह धीरे-धीरे ऊपर की ओर सिमट गई और आकाश के घनेरे बादलों में समा गई। सफेद खोल जब नूपे के घर से उठ गया तो घर अपने आप ही जुड़ गया कलियाते हरे जंगलों से, दूर शहर के धुले-पुंछे मकानों से, मक्की की हरियाली लिए खेतों से—और नूपा भंवर गया मक्की की खेत में गुड़ाई करती परमु के गिर्द। परमु खिलने की हर चोट से बेकार पौधों को निकालकर, बढ़ने लायक पौधों का फासला सही करती जा रही थी—घास-पतवार छांट रही थी, दुपट्टे को उतार उसने उसे धाठू की तरह सिर पर लपेट रखा था ताकि लहराता दुपट्टा उसके काम की गति को कम न कर दे। बड़े-बड़े रंगदार छापेवाले हरे सुथण-कुर्तु में परमु, नूपे को खेत के किनारे उगे फूल के बूटे-सी लग रही थी। नूपे की अधमरी ज़िन्दगी में कुछेक ही छलकते क्षण आए थे जिनमें से कुछ उसे याद हो आया। माधी ने तब बापू से कहा था—

"सुन त्वारसू। परमू मैंने नूपे को दे देणी है।"

"मुआं तू, बच्ची दे देणी है।"

"ज्वाण नी होना इन्होंने। दो दयाली निकली कि दोनों तैयार।"

नूपे ने सोचा तब से तो अब तक तीन दीवाली निकल चुकी हैं—चौथी के लिए भी अखरोट जमने लग गये हैं। बापू के अकस्मात सुरगवास से काम रुक गया। दिवाली का शुभ पर्व मना लूँ तो परमु को घर ले आऊँ। तभी उसने देखा पच्छम का जंगल नहा गया है और बादलों को धरती से जोड़ती पनीली तारें उसके गाँव की ओर तेजी से बढ़ रही हैं। नूपा अपने घर की छत पर चढ़कर स्लेट और टीन-टून ठीक से बैठाने लगा। इससे घर के अन्दर आने वाला पानी रुकता तो नहीं था पर उसके मन को कुछ शान्ति मिल जाती। उधर खेत में काम कर रही परमु की पीठ ने भी गाँव की ओर आती बरखा को भाँप लिया। उसने सिर से दुपट्टा उतारकर खेत के डंगे से लगी खाली जगह पर बिछाया और मक्की के बीच-बीच उगी फ्रासबीन की फलियाँ बीन लीं। दो-चार खीरे तोड़ लिए, दुपट्टे में डाले और गठरी बना ली। गुड़ाई किए बेकार पौधों और घास-पतवार को एक हरी बेल से बाँधकर बगल में दबाया।

खिलना कंधे पर लटकाया और अपने घर की तरफ दौड़ लगाई। जब वह दौड़ते हुए नूपे के घर के पास से गुज़री तो ताना कस गई—"आज डग्याली की रात आणी हे नूपे। सब स्लेट ठीक से बैठा ले। भेखली भी काट के ले आणी थी—बछा लेणी थी ऊपर। देख कहीं खुला रै गया तो झपाक से डाग पहुँचेगी अन्दर। देवां भी पूजा रखणा था।" इतना कहकर बिदकी बछड़ी की तरह उछलती-कूदती, हँसती परमु अपने घर दौड़ गई।

नूपा छत पर बैठा सोचने लगा कि पटवारी साहब, सेवक जी गाँव आएँगे तो उनको साफ-साफ बता दूंगा, "भैंस नी लैणी मैंने—अपना घर ठीक कराणा है। पता नहीं क्यूँ भैंस लेने को बोलते हैं। लछमी के लिए तो घास नहीं है। परमु ने भी तो आना है इस घर में। टपकते घर में गीले बालण से अपनी बड़ी-बड़ी आँखें अंधी थोड़ी करणी हैं उसने।" दो-चार बूंदें ही नूपे को आनेवाले वक्त से इस वक्त पर ले आई। घर में घुसा ही था कि ताबड़-तोड़ वर्षा आरम्भ हो गई। नूपे ने बाल्टी, लोटा, कड़ाही, टोकणा सब बर्तन टपकती धारों के नीचे लगा दिए। ज्यों-ज्यों बर्तन भरते जाते वह पानी दरवाज़े के बाहर फेंक देता और बर्तन फिर वापस अपनी जगह रख देता। इसी प्रक्रिया को बार-बार करते साँझ हो गई, लेकिन नूपे को ज्ञान ही नहीं रहा। बर्षा फिर रिमझिम हुई और बन्द। सारी दुनिया फिर से कुहैटी की सफेदी के घेरे में आ गई। दिन ढले की धुंध जब बढ़ते अंधियारे के साथ मिलकर वातावरण में तैरती है तो बड़ी भयावह होती है—इतनी ही आकृतियाँ बनती-बिगड़ती रहती हैं और आज तो डग्याली की रात है। जीव-मानस सब सूरज डूबते ही घरों में बन्द हो गये होंगे और बाहर विचर रही होंगी—डाग-डग्वांस—जो देखते ही हर जन्तु, सुन्दर महिला या पुरुष को खा जाएगी।

तभी ऊपर ठाकुर के घर से आवाज़ आई, "नूपे...। अरे नूपे।"

"जी महाराज!" नूपा ज़ोर से चीखा, "ठाकुर लगे बलांवदे, शीगे आ।"

कोई बात होगी ज़रूर। तभी तो ठाकुर ने शीघ्र बुलाया है। नूपा बाहर निकलते थोड़ा-सा सिहरा—डग्याली की रात को वह ही अकेला होगा। उसने किवाड़ भेड़ा, सांकल चढ़ाई और पंडतजी से सुने-सुनाए मंतर का जितना भाग याद था उसे रीत से अनजान बाँच दिया, "रख राम, रख देव, रख शीश, रख महेश, रख देवा जामू धांहियाँ, कोरगण देवी, सरब इच्छा करई।"और पथरीली पगडंडी से कूल्ह जैसी बह रही थी। धुंधलके में उसने देखा 12 हाथ लम्बी डाग अपनी अनेक भुजाएँ फैलाए खड़ी है। फक से रह गया नूपा, "उई देवा"—उसके मुँह से निकला। नूपा स्थिर हो गया। झीनी चदरिया लपेटे वह डाग हवा में तैरने लगी। नूपे को लगा कि बस अब झपटी उस पर। कबूतर जैसे अपने ऊपर झपटती बिल्ली को देख आँख मूँद लेता है वैसे ही नूपा पथरीली पगडंडी पर उकड़ू बैठ गया—आँखों को अपनी हथेली में ढाँपे। कोई भी उसे याद नहीं आया। बस, पसीने से धुली शिला बना बैठा रहा वह इस अन्तिम क्षण। जब उसका चेत जागा तो उसने महसूसा उसकी साँस चल रही है और बाएँ पाँव के घुटने के पास उसका दिल ज़ोर-ज़ोर से धक-धक कर रहा है। आँखों से हथेलियाँ हटाई तो डाग फिसलगी कुहैट में खड़ा नाख का जाना-पहचाना पेड़ बन गई। अपने पर हँसते हुए वह सोचने लगा, पेड़ और डाग; डाग और पेड़—सच मति का भरम है। सच दो नहीं होते, सच तो एक ही है न, बस पेड़। डग्याली की रात न होती तो उसे पेड़, पेड़ ही सूझता।"

इसी सोच की लाठी उसे ठाकुर की देहली तक ले आई। ठाकुरों के घरों का धरातल कोलियों के लिए अनजान नहीं होता—केवल सीढ़ी चढ़ने की मनाही होती है उन्हें। यह मनाही

आदेश के रूप में पिता से पुत्र को विरासत में मिलती चली आती है। ओबरे के साथवाले कमरे में लैम्प का उजाला अँधेरे को भगाने की कोशिश कर रहा था। उजाला कमरे की छोटी-सी खिड़की से बाहर निकलने को ज़ोर मार रहा था और बाहर की धुँध उसे अपने में भींचकर दूधिया दैत्य बना-बनाकर बिखरा रही थी।

नूपे ने बन्द कमरे के द्वार को धकेला। दूधिया दैत्य पंच तत्त्व में बदल गए और नूपे से पहले इस कमरे में छुप गए। लैम्प की टिमटिमाहट भादों की रात की स्याही पर सफेदी पोतने का भरसक प्रयत्न कर रही थी। नूपे के कमरे में आज एक खाट और बिछ गई थी। तभी एक कोने पर पड़ी बड़े-बड़े फूलों के छापेवाले कपड़े की गठरी हिली—नूपा सहम गया—एक सर्द लहर उसके सिर से पैर तक दौड़ गई—गठरी तभी परमु बन बई—सुन्दर, भोली, अल्हड़, बड़ी-बड़ी आँखोंवाली परमु—सर्द लहर गर्म होकर नूपे के पैर से सिर की ओर दौड़ पड़ी।

''सुन नूपे! पटवारी जी, सेवक जी आए हैं। बापू को घर ठीक करने को पैसे दिए हैं। अहा जी! बैलों का जोड़ा भी मिलेगा। एक सिलाई की मशीन भी।'' परमु शहद उड़ेल रही थी।

''तेरा बापू कहाँ है?'' नूपे ने टोक दिया।

''पटवारी जी कागज भूल आए पटवारखाने। लेने गया है। सवेरे तक आ जाएगा।''

''सवेरे तक!'' डाग नीं चिमटेगी उसको?

''पंडतजी ने मन्तर बाँच दिया है। सरसों की पोटली का धागा बाँध दिया है, उसके हाथ में,'' यह उत्तर देते हुए परमु ने हँसते हुए जोड़ा, ''गिद्धड़ जैसा डरपोक है बापू, मन्तर बाँचने पर भी भेखल की बूटी हाथ में ले गया है।''

नूपे और परमु के बीच तभी नूपे को बुलाती एक आवाज़ खड़ी हो गई। नूपा कमरे से बाहर निकला। ठाकुर जैसी आकृति ऊपर की मंजिल के कमरे के बाहर बरामदे में खड़ी थी। नूपा करबद्ध नीचे खड़ा होकर ऊपर की ओर ताकने लगा मानो किसान बादलों की गहराई की टोह ले रहा हो। तभी गरजती वाणी बरसी, ''पटवारी जी, सेवक जी आए हैं नूपे। हमने साफ-साफ बता दिया है उन्हें। नूपे ने भैंस नी लैणी है। नूपे को घर बनाने के लिए मदद मिलनी चाहिए। मान गए हैं वे लोग। तड़के ही आ जाना। अंगूठा लगवाना है तेरा। और भी कई काम करने हैं समझा। जा अब।''

''धन्न है माई-बाप। आपका दिया खाया है सारी उमर। घर बन जाएगा मालक तो नसल सुधर जाएगी—जनम का कोढ़ दूर हो जाएगा।'' नूपे और उसकी बिरादरी को गिड़गिड़ा कर स्तुति करने की कला माँ के दूध के साथ ही मिली है और ठाकुरों को इसे सुनने की आदत घुट्टी में पिलाई जाती है। ऐसे शब्द उनकी भाव-भंगिमा में कोई परिवर्तन नहीं लाते केवल जाम के घूँट-सा सुरूर देते हैं।

ठाकुर चुस्कियाँ लेते रहे—आह्लादित, पर मूक : प्रशस्त, पर अविचलित।

नूपा अपने इष्ट के चरणों में अभी गन बखान के और पवित्र पल्लव चढ़ाना चाहता था पर उसके 'जनम के कोढ़' के साथ जुड़ा था 'नसल का सुधार'। हाथ बांधे प्रार्थना कर ही दी, ''परमु का बापू भी नहीं है यहाँ। उसको भी साथ ले जाऊँ नीचे।''

''चातक की प्यास को शान्त करती अमृत बूंदें बरसी, ''पागल है क्या'' जानता नहीं, आज डग्याली की रात है।''

['पंचवटी', गाँव कनैना, (पगोग), वाया ए.जी. डाकघर, शिमला-171003]

खिन्नू

❑ सुदर्शन वशिष्ठ

पता नहीं क्यों लग रहा था, वह सदा के लिए शहर छोड़ रहा है। पहले वह जाकर बार-बार वापस लौटता रहा है। अब वापस नहीं लौटेगा। कभी नहीं। चाहकर भी लौट नहीं पाएगा। अब जांघों में ज़ोर नहीं रहा। जब तक जांघ-जानू में ज़ोर है, शहर अपना होता है। एक बार जानू बैठ गये तो शहर क्या, सब पराया। इस बार उसे लग रहा था, वह लौटेगा नहीं। उसकी अन्तर आत्मा बोल उठी थी।

जितना ये चोला-घिस-घिस कर पुराना पड़ता जाता है, अन्दर की आवाज़ उतनी अधिक मुखर होती जाती है। चीज़ें बहुत साफ-साफ दिखने लगती हैं। समय बहुत चुस्त और चालाक जादूगर है। अपने बीतने का पता नहीं देता खुद जवान रहता है, सदा एक-सा। आदमी को भरमा देता है। बरसों पीछे की बात अभी कल ही की बात लगती है। बीच का समय धुंध भर रहता है। धुंध के परे का दृश्य बिल्कुल साफ दिखता है। बल्कि और भी उजला, निखरा और धुला हुआ।

अभी कल-परसों की ही तो बात लगती है। जब चाचा के साथ पहली बार शिमला के लिये चला था। माँ के रोकने के बावजूद चाचा के साथ जाने को तैयार हो गया था। ''अभी तो बच्चा है तू। परदेश कहाँ चल पड़ा''...माँ ने कहा था। वह तो एकदम बड़ा बन जाना चाहता था। तेरह बरस में ही पूरा मरद। चाचा शिमला में रहता था। चाहे रिक्शा ही चलाता था, बिरादरी में बड़ी धाक थी उसकी।

मुँह अन्धेरे ही वे निकल गये थे। माँ ने तीन बजे की रेल जाने की आवाज़ के साथ ही उठकर ढेर सारी रोटियाँ और साग बनाकर बाँध दिया था। भाई तो कोई नहीं उठा विदाई के समय। अकेली माँ ही रोई थी अन्धेरे में। डूबता मन लिये वह चाचा के पीछे चलता रहा अन्धेरे में। उजाला होने पर घर-गाँव पीछे छूट चुका था। नज़र से दूर। धूप की पहली किरण अनोखी जगह में देखी। चाचा ने सड़क के किनारे बने एक होटल में चाय पिलाई।

घट्टे की चढ़ाई चढ़ते-चढ़ते वह सुस्त पड़ने लगा। यूँ तो दिन-भर इधर-उधर दौड़ता-भागता-खेलता हुआ न जाने कितना सफर कर लेता था। लगातार चलने में बड़ा सफर लग रहा था। मन आगे भागता तो पाँव पीछे हटते। घट्टे की धार के सिरे पर पहुँचते-पहुँचते नीचे पूरे विस्तार से फैली धरती दिख रही थी। छोटे-छोटे घर, गाँव, पहाड़ियाँ दूर तक फैली। ऊपर ऊँचे पहाड़ का ताज। इन्हीं घरों में उसका घर भी है। बार-बार पीछे मुड़कर देखता रहा वह, जब तक पूरा दृश्य आँखों से ओझल नहीं हो गया।

चाचा ने उसकी सुस्ती भांपते हुए सड़क के किनारे बने एक छोटे से मकान की ओर इशारा किया, ये है चौकी। सड़क में एक लम्बा बांस लगाकर रास्ता रोका हुआ था। ऊपर बरामदे में दो सिपाही कुर्सियों पर बैठे हुये थे। घट्टे की चौकी ये होगी। देखकर वह सहम गया।

''यहाँ से आगे मण्डी की हद शुरू होती है। अपणा मुलख पीछे छूटे गया। रियासत के राज में भी यहाँ से आगे मण्डालिये राजे का राज था।'' चाचा ने बताया। बाँस से बचता हुआ वह किनारे-किनारे होकर आगे निकला तो लगा सिपाही अभी दबोच लेंगे। किसी अजनबी और परायी ज़मीन पर पैर रख दिया है उसने। दूसरी ज़मीन पर पहले से कदम और भी सुस्त और भारी पड़ गये। गठड़ी में बांधा सामान भारी पड़ने लगा।

चाचा रास्ता काटने के लिए उसे कथा सुनाने लगा—''एक गाँव था म्हारे जैसा... थोड़े-से घर, थोड़ी-सी ज़मीन। साथ में चीड़ों का जंगल, ऊपर पहाड़। वहाँ एक किसान रहता था। बचारा सीधा-सादा, भोला-भाला मेरे जैसा। जंगल के किनारे घर था उसका। घर क्या घासफूस से छाया टपरू था। ज़मीन तो उसके कोई नहीं थी। लम्बरदारों के यहाँ काम करता था कभी ढोर-डंगर भी चराता... ।''

वह कथा सुनते-सुनते अपने गाँव पहुँच चुका था। उसका घर भी जंगल के किनारे है, घास-फूस से छाया। उसका बाप भी लम्बरदारों के यहाँ काम करता था। बाप जब से बाहर से आया था, सनकी-सा हो गया था। बस चुप-चुप रहता। न कुछ काम करता, न कुछ बोलता। कोई कहता उसे किसी ने परदेश में कुछ खिला दिया है। घर के हालात ठीक न रहे तो उसे सारे गाँव के ढोर-डंगर चराने पड़े। जिस घर के ढोर चराने ले जाता, माँ वहाँ से खाना ले जाती। ...इस समय माँ क्या कर रही होगी। खाना बना रही होगी...नहीं खाना ढककर कहीं बरतन माँजने चली गई होगी। सब से कहेगी, आज वह चला गया। माना ही नहीं मेरी बात... ।

चाचा कथा सुनाते-सुनाते चुप हो गया। जब उसे कथा का ध्यान आया तो एकाएक बोल उठा, ''फिर क्या हुआ चाचा?''

''फिर क्या होगा सुनता तो तुम्हें नहीं। कथा तो तभी सुनाई जाती है बच्चा जब सुनने वाला हाँ-हूँ करे।'' चाचा खीज गया।

''हूँ चाचा सुना। क्या हुआ?''

''किसान जबरा हो गया उसी काम में। उसके एक लड़का था। लड़का तो ढोर-डंगर चराता था। किसान ने उसका जल्दी ही ब्याह कर दिया। बस जितना बड़ा तू हुआ है उतना बड़ा होने पर ही ब्याह दिया। ब्याह हुआ तो बच्चे भी हुए। देखते-देखते दो लड़के हो गये उसके। बूढ़े माँ-बाप, औरत, दो लड़के। परिवार बढ़ा। खर्चा भी बढ़ा। गुज़र होनी मुश्किल हो गई। वैसे वह लम्बा-तगड़ा जवान था। काम जो मिलता भी था उससे पूरा नहीं पड़ता। आखिरकार एक दिन वह घर छोड़कर बाहर कमाने के लिए निकल गया तेरी तरह।''

कथा के मोह-जाल में कितना रास्ता कट गया पता नहीं चला। चलते-चलते वह रास्ते के किनारे एक बावड़ी के पास पहुँच गए। कुछ लोग पीपल के नीचे टियाले पर बैठे थे। नाले में खच्चरें चर रही थीं।

''यहाँ रोटी खा लेते हैं दोपहर चढ़ आई। पानी भी है, छाया भी है।'' चाचा ने कहा। हाथ-मुँह धोकर वे दोनों टियाले पर बैठ गए। उसने रोटी की पोटली खोली। चाचा देखते-देखते ही तीन रोटियाँ और साग गटक गया। वह एक ही रोटी खा सका। छल्लियों की रोटी बिना सेके नहीं खाई जाती। पोटली में अभी भी तीन रोटियाँ बची थी। बावड़ी से जी-भर कर पानी पीकर वह टियाले के नीचे लेट गया। चाचा ने टियाले के नीचे बैठे दूसरे लोगों से दोस्ती गाँठ ली। दो खच्चराई थे जो खच्चरों पर माल ले जा रहे थे मण्डी नगर। तीन आदमी बैल खरीदने

सुकेत जा रहे थे।

जब वे वहाँ से चले तो पाँच-छः आदमियों का काफिला हो गया। चाचा कथा सुनाना भूल उनसे गप्पें हाँकने लगा। वह खच्चरों के साथ-साथ चलने लगा। कुछ दूर जाने पर खच्चराई ने उसे खच्चर पर बैठने के लिए कहा। सभी खच्चरें पहले ही लदी थी इसलिए वह पैदल चलता रहा।

खच्चरों के गले में बंधी घण्टियाँ बज रहीं थी टणण...टणण...टिणण। बैल खरीदने जा रहे तीन आदमी बैलों की बातें हाँक रहे थे अब तक। फलां सुकेत को गये तो रास्ते में ऐसा हुआ। फलां में गये तो ऐसे सौदा पटा। चाचा बीच-बीच में अपनी बात जोड़ता। एक खच्चराई छड़ी हाथ में लिए पाजामें से मार रहा था ठप्-ठप्-ठप्। दूसरे खच्चराई ने कान पर हाथ रखकर गाना शुरू किया। जब हाथ कान पर रखा तो उसने सोचा बड़ी ज़ोर से गायेगा जिसकी आवाज़ दूर घाटियों में गूँजेगी। वह मुँह से महीन आवाज़ निकाल जैसे नाक में ही गाने लगा, ''राहें तां जांदिया ओ कोई नौकरा औ मुसाफरा...।''

बीच की पगडण्डी छोड़ जब वे सड़क में आये तो मोड़ से एक बस निकली पीले रंग की डिब्बा-सी बस। जितना लम्बा उसका मुँह था, उतनी ही पीछे। चढ़ाई में धुआँ छोड़ती रेंगती-सी बढ़ रही थी। वह उसके पीछे भागने लगा। पूरी चढ़ाई वह बस के पीछे भागता रहा। एक बार तो उसने बस के पीछे की सीढ़ी भी पकड़ ली। कंडक्टर ने पिछली सीट से झांका और उसे दो-चार मोटी गालियाँ दी। पूरी चढ़ाई वह भागता ही रहा। चढ़ाई खत्म होने पर उतराई में बस तेज हो गई तो हाँफता हुआ वहीं किनारे बैठ गया।

''चाचा। बस तो ज़रा भी तेज़ नहीं चलती। हम भागते हुए चलें तो इससे पहले पहुँच जाएँ।'' चाचा हंस दिया।

''कहाँ ले जा रहे हैं इस बांदर को ...?'' खच्चराई ने पूछा।

''ये भी कमाने जा रहा है शिमला!'' चाचा ने बताया।

''अभी क्या कमाएगा। ये तो बच्चा है। इस के तो खेलने-खाने के दिन हैं अभी।'' एक ने कहा।

''हम लोगों के बच्चे नहीं खेल सकते भाऊआ कभी। न पूरा खा सकते हैं।'' चाचा बोला।

''कांटे का मुँह शुरू से ही तीखा होता है भाई। जिसने कमाना है वह बचपन से ही...।'' दूसरा बोला।

उतराई के बाद नमक की खानें दिखाई चाचा ने। बहता हुआ सफेद खारा पानी भी पिया उसने।

''लगता है सनाट पड़ेगा... वह देखो।'' खच्चराई ने बताया।

जामुन की तरह पके हुये ये बादल। निचली ओर मौसम साफ था। सुबह तो भली-चंगी धूप थी। दोपहर ढलते-ढलते बादल पहाड़ों के ऊपर भटकने लगे जो अब एक जुट होकर काले जामुन बन गये थे।

नमक की खान के पास दुकानों तक पहुँचते-पहुँचते छटांक-छटांक का गोला बरसने लगा। गुलेल से निकले पत्थर की तरह सीं धरती पर गोला बजता। खच्चरें एक पेड़ के नीचे बांध खच्चराई और दूसरे लोग दुकान के बरांडे में बैठ गये। दुकान की सलेटों पर तड़ातड़ ओले बजने लगे। देखते ही देखते सारी सड़क पहाड़ी ओलों से भर गई। नाले के पानी में ओले तैरते

हुए बहने लगे। लगभग आधा घंटा ओले और बारिश गिरती रही।

"होली आ रही है न। आजकल अम्बर भी होली खेलता है।" दुकानदार ने कहा। उसने उन्हें रात बरांडे में गुज़ारने की इजाजत दे दी।

एक खच्चराई ने बरांडे के नीचे चूल्हा जलाकर छल्लियों की रोटियों के बड़े-बड़े टिक्कड़ बनाए। उसने अपनी रोटी की पोटली खोली तो सब बहुत नाराज़ हुए। "यही रोटियाँ खाओ, ताज़ी-ताज़ी मरदों के हाथों की बनी। अपनी रोटियाँ रख छोड़ वहाँ काम आएँगी। ये खराब नहीं होती आजकल।" सबसे पहले उसे रोटी दी गई। चाचा भी खूब रोटियाँ मार गया। रात वे खच्चरों पर लदा माल सिरहाने रखकर सोये।

अगले दिन तड़के ही चल दिये थे। आगे के रास्ते की कुछ याद नहीं रही उसे। बैलों का मेला देखना चाहता था सुकेत में। मेला शुरू होने में अभी एक दिन था। एक रात भी कहीं काटी जो सपने की तरह याद रही है। हाँ, बिलासपुर के आसपास वे बस में बैठे थे। बस में बैठने से पहले रास्ता काटने के लिये चाचा ने बाकी कथा सुनानी शुरू की थी—"हाँ तो तेरी तरह कमाई करने निकला था वह। चलते-चलते एक जंगल में पहुँच गया। घना जंगल था। दिन-दिन में ही वह उसे पार करना चाहता था। जितना आगे जाता, जंगल और घना हो जाता। न्हेरा होने को आया। वह तेजी से चलने लगा। आखिरकार उसने दूर एक लौ जलती देखी। ये लौ एक झोंपड़ी से आ रही थी। झोंपड़ी में एक बुढ़िया थी। उसने बुढ़िया से रात काटने की अरदास की। बुढ़िया मान गई...।"

बीच की कथा क्या थी, वह सब भूल गया है। हाँ, अंत याद है। अंत में चाचा ने सुनाया था—"बारह बरस तक वह बाहर रहा। जब बारह बरस बाद घर लौटा तो आँगन में एक लड़का खिन्नू से खेल रहा था। उसने भीतर बैठ चाय-पानी के बाद पूछा, "ये लड़का कौन है?"

"अरे पता नी, ये तेरा छोटा पुत्तर...। वह हैरान रह गया।"

इस बार उसने चाचा को रोक पूछ लिया; "चाचा वो जो खिन्नू से खेल रहा था आँगन में, वह लड़का कौन था?"

"वह तू था और कौन!" चाचा मुस्काया। "मैं!" वह हैरान, परेशान।

उसी समय बस आ गई। चाचा ने बस रोकी और वे बस में बैठ गये। अंदर बहुत भीड़ थी। चाचा कहीं आगे घुस गया। वह पीछे अपनी गठड़ी नीचे रख उस पर बैठ गया। वह मैं हूँगा।... हाँ, खिन्नू से तो मैं ही खेलता था। गूदड़ की गेंद बना दी थी माँ ने। गूदड़ की गेंद उछलती नहीं थी। जितना भी ज़ोर से मारो, धरती पर फिस्स से बैठ जाती।... कहते हैं मेरा बाप भी कई साल बाहर रहा था। वह सोच में डूबा था कि कंडक्टर ने उसे हिला कर पूछा; "कहाँ जाना है? टिकट कटवाया।" वह हैरानी से उसे देखता रहा। कहाँ जाना होगा। जेब में कुछ पैसे तो थे। माँ ने दिये थे, पड़ोसियों ने भी शाम ही आना-दो आना रख दिया था हथेली पर। ये पैसे दे दूँगा तो मेरे पास क्या बचेगा। कुछ देर चुप रहने के बाद वह आगे देखता हुआ कठिनाई से बोला; "चाचा! टिकट कटाना।" सभी सवारियाँ पीछे मुड़कर हँसीं। कंडक्टर आगे चला गया।

रेंगती हुई बस ने कई मोड़ पार कर लिए। कई लोग उतरे, चढ़े। एक जगह कंडक्टर को कुछ ख्याल आया। वह चिल्लाया, "बाबा, कहाँ जाना है टिकट तो भराड़ी घाट का कटाया।

ये तो दाड़ले पहुँचने को आए।''

''हैं...।'' चाचा चौंका, अब।

''उतरो अब यहीं और वापस जाओ पैदल।'' कंडक्टर खीजा।

''भाई कहीं ठिकाने पर उतारो अब। वापस तो जाना ही पड़ेगा।'' चाचा ने मिन्नत की। कंडक्टर ने अगले पड़ाव पर उतार दिया।

''अब पीछे जाना होगा।'' उसने मासूमियत से कहा तो चाचा हंसा। जाना तो आगे है। इतना सफर मुफ्त में काट लिया। अब तो शिमला नज़दीक है।... तेरा चाचा गिरेगा भी तो बल देख के। जब गिर के उठेगा तो कुछ न कुछ हाथ में होगा। ये गुर सीख ले। कमाने जा रहा है शहर।... अब गिटमिट-गिटमिट कर। अंग्रेजी बोल। शिमला नजदीक आईगा..। चाचा ने हाथ में ली सोठी घुमाई और इठलाता हुआ चलने लगा।

अंधेरा होने पर वे शिमला पहुँचे। पाँच-सात बसें खड़ी थी, उनकी बगल में एक दुकान की तरह के मकान में वे घुस गये। अंदर अजीब-सी बास थी। उसी बास में मजूर पड़े थे बहुत से। एक चौड़े तख़्तपोश पर तगड़ा अधेड़ हुक्का पी रहा था। आगे कुछ पालकियाँ-सी रखी थीं। ज़रूर ये रिक्शे होंगे, वह समझ गया। बहुत से मेज़ जैसे फट्टों पर लेटे थे। कुछ नीचे पड़े थे। कुछ सोने की तैयारी में थे।

चाचा, जय राम जी की—कह कर चौड़े तख़्ते पर बैठ गया। वह भी अधेड़ के पाँव के पास टिक गया।

''नया रंगरूट लगता है...।'' अधेड़ मुस्काया। ''हाँ, अपना भतीजा है।'' चाचा ने जवाब दिया।

एक मजूर कहीं से बड़ी-बड़ी चपातियाँ और दाल ले आया। वह शर्म के मारे एक ही चपाती खा सका। जब पहुँचा था तो चलने की गर्मी थी। खाना खा कर ठण्ड से कंपकंपी छूटने लगी। चाचा एक मंजे पर पसर गया। उसे अपने मंजे के नीचे सोने को कहा... ''साथ सुलाने में तो मुझे नींद नहीं आएगी। सफर के थके हैं। तू नीचे सो जा।'' अपने मंजे से उसने एक मैली-कुचैली खिंद निकाल कर नीचे फेंक दी। मंजे के नीचे वह लेट तो गया, नींद नहीं आई। शुक्र था कि नीचे लकड़ी का फर्श था। जब अधिकतर मजूर सो गए तो वह चाचा को पूछने उठा; ''वो जो खिन्नू से खेल रहा था न, वह कौन था चाचा?'' वह नीचे से झांका। चाचा खुर्राटें भर रहा था।

जानुओं में सिर दिये वह कुत्तु की तरह कुनमुनाता हुआ सोने की कोशिश करने लगा।

['अभिनंदन' कृष्ण निवास, लोअर पंथाघाटी, शिमला-171009]

लाल होता दरख्त

❑ एस. आर. हरनोट

सुबह का सूरज मुन्नी के दरवाज़े बेरोक-टोक आता है। सूरज से पहले जागना उसका नियम है। आलस उसकी फितरत में नहीं है, यह बात उसे विरासत में मिली है। अम्मा उजास होने तक अठारह काम निपटा लेती है। मुख्य काम गाय-भैंस को दूहना और उन्हें घास-पत्ती देना है। मुन्नी जब भी उठती है वह अम्मा को चूल्हे के पास दूध बिलोते देखती है। बापू कभी जाग जाते हैं तो कभी देर तक सोए रहते हैं। तड़के वह कुछ काम नहीं करते। काठ के पटड़े पर बैठे भुरका गुड़गुड़ाते रहते हैं। सुड़क-सुड़क के साथ कुछ न कुछ बड़बड़ाना उनकी आदत हैं। मुन्नी को भुरके की सुड़क-सुड़क और बापू की बड़बड़ाहट में कोई फर्क नहीं लगता।

मुन्नी को सुबह का सूरज भला लगता है। टुकड़े-टुकड़े धूप दूर-पार घाटियों से आती। खेतों-खलिहानों, गाँवों के नए-पुराने घरों और पगडंडियों में ठहरती। लोगों, पशु-पक्षियों को जगाती-उठाती। फ़िज़ा में कई रंग भरती...और जैसे धूप की इन सुनहरी किरणों ने मुन्नी के मन में एक घर बना लिया हो। उसका घर खेतों की ढलानों पर है। सामने एक-दो पहाड़ियाँ...एक-दूसरे को काटती हुई, जिन पर चीड़ों के छितराए वृक्ष हैं। सूरज मुन्नी की दहलीज़ पर इन्हीं के बीच से झाँकता है।...और इन्हीं क्षणों को वह बटोर लेती है...सर पर दुपट्टा ओढ़े...आँगन में आकर दोनों हाथों से सूर्य-भगवान को प्रणाम करती है।

अब वह कांसे के लोटे को उठाकर उसे राख से माँजती है। पानी भरती है। उसमें दो-चार दाने चावल डालना वह नहीं भूलती। लोटा वह हाथ की उँगलियों से नहीं पकड़ती। लोटे को वह बाएँ हाथ की हथेली पर सटा कर उसे दाएँ हाथ की हथेली से ढक लेती है। पीपल भगवान को पानी देना हर सुबह उसका पहला काम है।

पीपल भगवान...पीपल का जवान होता वृक्ष है। मथरू यानी मुनिया के बापू ने इसे बड़े बेटे की तरह पाला है। अपनी ज़मीन की हदों में पीपल उगना घर में भाग जागना है। घर में और गाँव-बेड़े के लोगों के पास मथरू यह बात दोहरा लेता है, "म्हारी ज़मीन में पीपल का जमणा कोई पिछले जन्म के संस्कार हैं। भई कोली-चमार होते तो मरने देते। बामणों के घर जनम लेणे का कुछ तो फायदा होणा ही चाहिए।"

गाँव का कोई स्याणा उसकी बात का समर्थन कर देता है, "तू ठीक बोलया रे मथरू बड़ा भाग वाला है तू। देखणा तेरे घर में किसी बात की कमी नी रहेगी। बस नीम-धरम नी गवाणा। पाणी देते रैणा। नागा देखदा करदा।" जब कोई बुजुर्ग तुलसी के ब्याह की बात करता तो जैसे मथरू आसमान पे उड़ने लगा हो।

"तेरी बात मानते हैं बई पंडत। तुलसी का ब्याह बेटी की तरह किया। पर सच बोलूँ तो म्हारी बरादरी में अब ऊत जम गए सब। बस कमाणे पे जोर देई राखदे। तैं तो मथरू म्हारी भी नाक राखी ती। सोच लेणा तीन बेटियाँ जमी थी।"

तुलसी का ब्याह मथरू ने खूब धूम-धड़ाके से किया था। पर मुन्नी उस समय पैदा नहीं हुई थी। उसने यह बात अम्मा से सुनी थी। पर मिट्टी के गमले में हरी-भरी तुलसी की डालियाँ ससुराल के घर उसने देखी हैं। वह कई बार दिन को उसके घर चली जाती है। पहले नृसिंह देवता को मन्दिर में जाकर मथा टेकती है और फिर बाहर आकर तुलसी को। मन्दिर के बाहर दो-तीन वैसे ही गमले और भी हैं। उन्हें भी ब्याह कर वहाँ लाया गया है। पर उसे अपने आँगन से ब्याही तुलसी प्यारी लगती है। बहिना जैसी। वह मन्दिर की सीढ़ियों पर बैठी उसके पत्तों को सहलाती रहती है। उन्हें खूब पानी देकर सींचती है। उसे वहाँ बैठे देखकर कई बार पुजारी काका खांसते हुए वहीं चले आते हैं। दोहरा लेते हैं वही बात।

''मुनिया देखी लो अपणी तुलसी। तू तो जमी ही नहीं थी तेस बेला। क्या शादी रचाई थी मथरूए। गाँव बेड़ तो थी ही, पर सारा परगणा शादेया था। पूरी दो धामें देई थी बई। खूब खर्च किया थिया। मानते हैं बात। तेरा बापू मुन्नी बड़ा धरम-करम वाला है।

मुन्नी बापू की तारीफ में रम जाती है, उसके चेहरे पर नादान सी मुस्कान पुजारी काका को भली लगती है। वह उठ कर पास आ जाता है और उसके गालों को खूब चूमता है। मुन्नी को स्नेह खूब जचता है। पुजारी काका उसके बापू की उम्र से कहीं बड़े हैं। घर में मुन्नी इस स्नेह से वंचित है। उसके अम्मा-बापू ने इस तरह उसे कभी प्यार नहीं किया। जब से उसने होश संभाला है बस काम-काजी होने की सलाहें मिली हैं।... बेटी पराए घर का धन है। उसे घर का सारा काम आना जरूरी है। इसलिए इस छोटी सी उम्र में मुन्नी हर काम में आगे है। दूध वह कबलाती है। मक्की-गेंहूँ की रोटियाँ वह बनाती है। पानी-पनिहार। घास-पत्ती। गाय-भैंस दूहना। चक्की पीसना यहाँ तक की हाट-घराट भी...। उसका मन आज भी स्कूल जाने को करता है पर बापू नहीं मानते, कहते हैं बेटी को पढ़ाकर क्या करना है? तीसरी तक उसे स्कूल जाने दिया था। फिर हटा लिया। माँ हमेशा मथरू को डांटती रहती कि—''मुन्नी को बगाड़ो मत। स्कूल में ठारह घरों के लड़के-लड़कियाँ होते हैं। म्हारी मुन्नी अब कोली-चमारों के बीच बैठेगी। रोटी-पाणी करेगी।''...और बापू भी हाँ में हाँ मिला लेते और तीसरी से उसे हटा दिया। मुन्नी को याद है जब वह अपनी कलास में अब्बल आई थी। कितनी शाबाशी दी थी।

उसका मौन पुजारी काका तोड़ते हैं, ''तुम्हारा पीपल बड़ा होई गया है मुनिया तेरा बापू बोलता था कि उसका अगले बरस ब्याह कर देगा। तू भी तो ब्याहणे लायक होई गई।

प्यार से पुजारी काका उसके गालों को थपथपा लेते हैं। पीपल का ब्याह उसका अपना ब्याह।... शायद तुलसी के ब्याह जैसा होगा। मुन्नी सोचती हुई घर लौट जाती है।

मथरू की दो ही बेटियाँ हैं। बड़ी का विवाह तुलसी के ब्याह से पहले कर दिया है। मुन्नी बहुत बाद पैदा हुई है। दोनों ब्याह के कर्जे मथरू के ऊपर हैं। मुन्नी जब अम्मा के साथ खेतों में काम करने या घास-पत्ती लाने जाती है तो अम्मा कई बार मुन्नी को बताती रहती है कि फलाणा खेत बी हमारा है। फलाणा खेत बी.... वह घासणी बी हमारी ही है। पर जब उनसे घास-पत्ती अम्मा नहीं काटती तो मुन्नी पूछ लेती है। अम्मा यह बताकर गहरी साँस लेती है कि ये खेत और घासणी साहूकारों के पास रैहन हैं। तेरे बापू ने कमली और तुलसी ब्याहणे के लिए कर्जा लिया था।

एक ज़माना था जब मथरू की जमींदारी खूब थी। उसके बाप-दादाओं ने खूब खेती

छोड़ी थी। जमीन में इतना अनाज हुआ करता कि कभी बाहर से घर में राशन नहीं खरीदना पड़ता। बिरादरी में यही बात सरीकों को अखरती थी। मथरू के रिश्ते में और टब्बर के आठ-दस टोल हैं। उनमें एक-दो की साहूकारी परगने तक चमकी है। इसके इलावा तीन घर कोलियों के हैं और दो चमारों के। कुछ लूहार भी हैं जो गाँव से कुछ दूर हैं। इन साहूकारों ने इन लोगों की जमीन भी किसी न किसी बहाने अपने पास रैहन रख ली है। अब ये लोग दोनों तरफ से नंगे हैं। काम से भी और खेती से भी। वक्त बुरा आ गया है। महंगाई बहुत है। ध्याड़ी से भी कितना मिलता है। लूण-तेल का गुजारा ही नहीं होता। मथरू के हाल भी वैसे ही हो गए हैं अब एक खेत बचा है। जिसमें साल भर के दाने अभी भी हो जाते हैं। पूरा चार बीघे सात बिशवे का खेत। दो छोटी-छोटी घासणियाँ हैं।

मथरू की रोजी-रोटी पहले पंडताई से ही चलती थी। गाँव-परगने में कई जजमान थे। पर उसके टब्बर के ही भाइयों ने उन्हें काट दिया है। अब पुरोहिती वे खुद करते हैं। कथा-करम शादी-ब्याह खुद पढ़ते हैं। मथरू का इस बात को लेकर कई बार झगड़ा हो लिया है कि उन्होंने जबरदस्ती उसकी जजमानी छीनी है। पर उसकी कौन सुनता है? उसकी घरवाली समझाती रहती है कि भगवान पर भरोसा किया करो। इस फालतू के झगड़े से क्या लाभ। मरने दो इन सालों को। भगवान के घर देर है अंधेर नहीं। हमारा छोटा सा परिवार है। अभी बेटी भी ब्याणी है सुख-शांति से रहो।

पर मथरू सुख-शांति से कैसे रह सकता है। परिवार पालना है। रैहन खेत वापिस लेना है। बेटी जवान हो रही है। पीपल का ब्याह करना है। खर्च ही खर्च है। अब वह कभी सड़क पर ध्याड़ी लगा लेता है तो कभी जंगलात में काम कर लिया करता है। वहाँ से भी उसे बीच-बीच में हटा लेते हैं। उसकी कोई सिफारिश नहीं है। वह सुना करता है कि सड़कों पर जंगलात महकमें में भी अब अपरोच से रखते हैं। उसे कौन जानता है वह किससे कहेगा। बस जो भी काम मिलता है उसे कर लिया करता है। लेकिन कोली-चमारों की तरह वह काम कैसे करे। ये लोग तो गाँव-परगने में जमींदारों के पास भी काम करके गुजारा कर लेते हैं। पर वह तो पंडत है। उसकी इज्जत परतीत है। वह हर कोई काम कैसे कर सकता है। यह सोचकर कई-कई दिनों वह घर में बैठा रहता है।

मथरू महीने में एक-दो बार नारसिंह देवता के मन्दिर जाकर 'तुलसी' की सुखसांद पूछ लिया करता है। उसे खूब पानी से सींचता है। देवता के मन्दिर पूजा करता है। आज भी वह मंदिर गया है। गमले में तुलसी की डालियाँ खूब हरी-भरी हैं। जैसे देवता ने अपनी इसी दुल्हन को सर-माथे रखा हो। खूब प्यार किया हो। गाँवों के दूसरे पंडितों ने भी यहाँ तुलसी ब्याही है, पर वे इतनी जवान नहीं लगती। कई तो सूख गई हैं। मथरू जानता है कि तुलसी की डालियों का कमजोर होना या सूख जाना अच्छा नहीं है। जरूर कोई न कोई खोट ब्याहणे में रहा होगा। या फिर देवता की उन पर कृपा-दृष्टि कम रही होगी। अपने बारे में सोचता है तो भीतर ही भीतर गर्वीला हो जाता है। बिरादरी में सिर इज्जत से उठता नज़र आता है। अभी वह सीढ़ियों में यह सोच रहा होता है कि पुजारी काका दिखाई पड़ते हैं। मथरू पैरी-पावणा करता है।

"कैसा है रे तू मथरू?"

"बस तुसा री किरपा है दीवा जी।"

"बैठ पटड़ा लाता हूँ। तंबाकू का तो पहले से शकीन है। ल्याता हूँ भरके।"

और पुजारी काका भीतर चले जाते हैं। उनका कमरा मंदिर के पिछवाड़े है। बरसों से देवता की सेवा-चाकरी में यहीं रह रहे हैं। पहले मथरू भी देवता की कारदारी में शामिल था। पर अब नहीं है। लेकिन हर पंची-पंचायत में शामिल रहना उसका नियम है। अपनी बिरादरी की उपेक्षाओं की वजह से ही उसने कारदारी त्यागी है। उसका ध्यान पीछे चला जाता है। बरसों पहले यह मन्दिर क्या से क्या था। उसके बाप-दादा सुनाया करते थे कि देवता यहाँ स्वयं प्रकट हुए थे। गाँव में रह रहे एक चमार के परिवार की गाय किसी जमाने में यहाँ आकर कई-कई घण्टों चरती रहती थी। वह गाय दूसरे पशुओं की तरह दूर-पार चरने नहीं जाती? जब शाम को गाय की मालकिन उसे दूहने लगती तो उसके थण सूखे होते। मानों किसी ने निचोड़ कर दूध पिया हो। वह उसके लिए गवालू को खूब डांटती कि वह दिन को सूई गाय का दूध पी जाता है। लेकिन गवालू सच्चे मन से कहता कि उसे इसके बारे कुछ पता नहीं है। एक दिन गाय की मालकिन और मालिक खुद चुपके से गवाले के पीछे-पीछे चल दिए और एक झाड़ी के पीछे छिपे रहे। गाय चरती-चरती जुब्बड़ में एक जगह खड़ी हो गई। उन्होंने देखा कि उसके थनों का दूध स्वतः ही गिरने लग गया। जैसे कुछ चीज ज़मीन के नीचे से थनों को निचोड़ रही हो। उनकी हैरानी की सीमा नहीं रही। वे दोनों भागते बामणों और कोलियों के घर गए और सभी को इक्कट्ठा करके ले आए। सभी ने इस दृश्य को देखा। निर्णय हुआ कि जुब्बड़ को खोदा जाए। पहले सभी घबराते रहे। पुजारी काका के किसी बुजुर्ग ने पहले कुदाली पकड़ कर खुदाई शुरू की। तीन-चार फुट गहरा खोदने के बाद कुदाली किसी ठोस चीज़ से टकराई और वह मूर्छित-सा हो गया। कुदाली हाथ से छूट गई। हाज़िर लोगों ने ज़मीन के नीचे से किसी के कराहने की आवाज़ सुनी। नज़दीक जाकर देखा तो एक गोल पत्थर की पिंडी दिखाई दी जिससे खून की धारा बह रही थी। किसी को कुछ नहीं सूझ रहा था कि क्या करें। तभी गाय के मालिक ने अपने सर का साफा खोला और पिंडी के ऊपर लपेट दिया। कराहना बंद हो गया। लेकिन दूसरे क्षण ही देवता की छाया उन दोनों में आ गई। यानी खुदाई करनेवाले और साफा बाँधनेवाले पर। खूब खेल हुई। फिर गाँववालों को देवता ने बताया कि वह 'नृसिंह देवता' है। यहाँ बसना चाहता है। मेरा मंदिर इस जगह बनना चाहिए। देवता ने यह भी बताया कि मंदिर के लिए वह दूसरे दिन जगह चुनेगा।

दूसरे दिन जब लोग वहाँ आए तो देखा कि पिंडी के चारों और चींटियों ने एक गोल दायरा बना दिया है। इसका मतलब था कि इतनी जगह पर मंदिर बनेगा।... और मन्दिर बन गया। मथरू को याद है कि बामणों के साथ-साथ बाहर की बिरादरी विशेषकर चमारों के लिए भी पहले-पहल बराबर इज्जत मंदिर में दी जाती थी। परन्तु अब वह बात नहीं है। हरिजनों का मंदिर के भीतर जाना बंद है। यह नियम पंडतों-ठाकुरों ने बड़ी बाद बनाए होंगे। पर चमार के घर से एक दीवा ज़रूर है पंची-पंचायत में पुजारी काका के साथ वह भी 'हिंगरता' है। उसे भी देवता की छाया आती है।

पुजारी काका आ रहे हैं। एक हाथ में पटड़ा है और दूसरे में कांसे का हुक्का। मथरू ने इस हुक्के में कितनी बार चिल्म पीने का आनन्द लिया है। अब कहाँ बांस का भुरका और किधर कांसे का हुक्का। बात ही निराली है। मथरू कई बार सोचता है कि एक हुक्का और ले लें। अपने पास पुराना था भी। पर जरूरतें चीज़ों को रहने कहाँ देती हैं। तुलसी के ब्याह

के दौरान बेचना पड़ा। कई और पुरानी चीज़ें भी बेच दी थीं।

"ले बैठ मथरू और चिल्म पी ले।"

दोनों बैठ जाते हैं। तभी पुजारी बात छेड़ देता है।

"कल मुन्नी बी आई थी। ब्याहणे लायक हो गई। देख मथरू जमाना खराब आइ गया है। छोड़-छोड़ हाथ पीले कर दे उसके। मैं तो बोलता हूँ तू दोनों की शादी एक साथ कर दे। पीपल बी तो बड़ा होई गया। उसका बी तो ब्याह करना है।"

"गुरड़...गुरड़..." यानि कई पल मथरू हुक्का सुड़कता रहा।

पुजारी काका ने ही चुप्पी तोड़ी थी।

"केथा रिश्ता आया कि नहीं। तू बोले तो मैं गल चलाऊँ। मेरी नजरां दे एक-दो जगह है जेती बात बण सकती है।"

मथरू कुछ नहीं बोला। सर से स्वीकृति दे दी।

जानता है। दोनों काम करने तो हैं पर करेगा कैसे। पल्ले में फूटी कौड़ी नहीं। पर गाँव-बेड़ में मुट्ठी कैसे खोले। कल्ली (हुक्का) काका की तरफ सरका कर चल दिया।

कुछ देर पहले तुलसी को देखकर जो गर्व भीतर था वह टूटता-सा लग रहा है। पाँव जैसे धरती पर नहीं टिक रहे। पुजारी काका की नजरें पीछा करती हुई लगती हैं। मन में डर है कि काका ने भीतर की बात टोह तो नहीं ली है। अब मथरू ब्राह्मण है। बिरादरी की ठीस तो रहेगी ही। कोली-चमारों की तरह अपनी गरीबी तो जगह-जगह नहीं बखाणेगा। सोचता है...और पता ही नहीं चलता कब घर पहुँच गया है।

मुन्नी और पीपल का ब्याह...दो बड़ी जिम्मेदारियाँ मथरू पर हैं। पुजारी काका ने उसे जैसे नींद से जगाया। ऐसा भी नहीं कि पहले से उसे इसकी चिन्ता न रही हो। परन्तु आज वह ज़्यादा परेशान है। बेटी और पीपल अपने ऊपर से निकलते नज़र आ रहे हैं।

चुपचाप चूल्हे के पास बैठकर मुन्नी की माँ पूछ लेती है, "क्या हुआ जी, तबीयत तो ठीक है न?"

"ठीक है...ठीक है। तू आपणा काम कर...।" चिढ़कर बोलता है मथरू। मुन्नी की माँ मर्द की आदत जानती है।

चूल्हे में लकड़ियाँ आंवदे के नीचे सरका कर मुन्नी की माँ ऊपर रखे तम्बिए के पानी को उंगली से छूती है। "पाणी तपी गया है जी। हाथ-पैर धोई करी धूप-बत्ती करी लो।"

...यह कहते हुए वह डबरा मथरू की तरफ सरका कर उसमें गर्म पानी उड़ेल देती है। मथरू थोड़ा 'भीत' के साथ ढासना लगाकर दोनों पाँव गर्म पानी में डाल देता है। मुन्नी की माँ नजदीक खिसक कर खुद पाँव धोने के लिए कहती है पर मथरू इतने तक अपने पाँव खुद मलने लग जाता है। वह हाथ में लगे पानी को चादरू से पोंछती है।

ऐसा रोज़ ही होता है जब मथरू पाँव धोने लगता है। उसकी घरवाली चाहती है अपने मर्द के पाँव धोए पर मथरू की आदत है कि उसने घरवाली से कभी पाँव नहीं धुलाए।

पाँव धोने के बाद मथरू धूप-बत्ती करता है और लौटकर चूल्हे के पास बैठ जाता है। मुन्नी कहीं आँगन में लाली के बच्चों के साथ खेल रही है। लाली उनकी बकरी है। हाल ही में उसने दो बच्चे जाए हैं। मुन्नी के लिए दो साथी मिल गए हैं।

मुन्नी की माँ मथरू का चेहरा निहारती है। इससे पहले कि फिर कुछ पूछे अब मथरू

ही बात छेड़ देता है।

''पुजारी काका मुन्नी और पीपल के ब्याह की गल कर रहे थे। पर...।''

वह रुक जाता है। भुरका खींच कर कटोरी से सूखी राख चूल्हे में झाड़ता है। मुन्नी की माँ अपनी बगल में पड़े तम्बाकू के डब्बे को उनकी तरफ सरका देती है।

''ठीक बोलेया तिनें मुन्नी ब्याहणे लायक है। कई जगह ते रिश्ते बी आणे लगिरे। काल दिने दीवें री लाड़ी बी बोलो थी। तिना री बरादरी दे ही लड़का है।''

ठीक है...पर पीपल बी कितणा बड़ा होई गा है। पैले एसरा ब्याह होई जांदा तो...।''

मुन्नी की माँ को शायद यह बात भाई नहीं है।

''जी...मेरी गल मानों तो पैले मुन्नीआ रा सोचो। बथेरी थी एक तुलसी से आसे ब्याही दिती थी...एक पीपल रैई बी जाओगा तो...कोई फर्क नी पड़ने वाला...अपणा घर बी देखणा हो। सरीक तो क्या नी बोलदे। पर किनीए आज तक कोई मदद की...? बड़ी मुन्निया होर तुलसी रे ब्याह से ही सारे डोरू चलीगे। एबे जो एक-आध है से फेर चली जाओगा।''

मथरू को घरवाली की यह सीख कुछ जची नहीं। तेवर चढ़ गए।

''तेरा दिमाग तो टकाणे नी है लाड़ी। तेरे को क्या पता कि शास्त्र क्या चीज हैं। गाँव-परगणे दा है कोई इतणा भागवाला जिसकी खेती दे पीपल जमया हो...।''

वह कुछ आगे कहती मून्नी भीतर आ गई है। वह नहीं चाहते कोई बात मुन्नी के सामने करें। नादान है पर समझती तो है ही। पर मथरू की घरवाली मर्द की बातों से परेशान हो गई है। मुन्नी भीतर नहीं आती तो दो-चार और कह देती। मन ही मन सोच रही है। परात लेकर उसमें आटा डाल देती है और चूल्हे पर तवा रखकर रोटियाँ बनाने लग गई है। मुन्नी, बापू की दायीं ओर बैठकर रोटियाँ सेकने लगी है।

मुन्नी की माँ के लिए बेटी पहले है। वह सोचती है कि तुलसी और पीपल इस घर में भाग जगाणे नहीं, बल्कि उनको नंगा करने जमे है। दो बेटियों के ब्याह ही करने होते तो इतना न तो कर्जा सर पर होता न डोरू-घासणी रैहन होते। रैहन क्या बिक ही गए हैं। कभी पैसा तो दिया नहीं जाएगा। उल्टा फिर ऊपर ही कर्ज होना है। वह जानती है। मर्द के पास खेत रैहन रखने के सिवा दूसरा चारा भी क्या है।

अब मथरू की रातें हराम हो गई हैं। रात को जब उसकी अचानक नींद टूट जाती है तो वह अचानक उठ जाता है। बिस्तर पर बैठा-बैठा इधर-उधर दियासलाई टटोलता रहता है। जब उसे नहीं मिलती तो चूल्हे तक सरक जाता है। पठाई में चिमटा ढूँढता है। हाथ लगता है तो उसे उठाकर चूल्हे में शाम की दबाई आग में से एक अंगारा निकालकर फूंक मारता है। खाँसी आ जाती है। कई पल खाँसता रहता है। सहज होता है तो फिर अँगारे में फूँक मारने लगता है। जैसे ही साँसें अँगारों से टकराती हैं भीतर की चीज़ें दिखने लगती हैं। ढिबरी निकालता है और उसकी बाती चिमटे से पकड़े अँगारे के बीच सटा देता है। फिर फूँक मारता है तो ढिबरी जल जाती है। सिरहाने भुरका पड़ा है। खींचता है। चिल्म भरता है। फिर बिस्तर पर जाकर भीत का ढांसना लगाए सुड़कने लग जाता है।

अचानक उसकी नजरें कुछ दूर सोई मुन्नी के मुख पर पड़ती हैं। वह गहरी नींद में सोई है। मथरू देखता है ढिबरी का प्रकाश उसके चेहरे पर सिमट गया है। दो-चार सिर के

बाल उसके गालों पर बिखरे हैं। मथरू ने इस तरह मुन्नी को कभी नहीं देखा है। उसका भोलापन, उसका निखरता यौवन, रूप...रंग...ब्याह के लायक हो रहे हैं। उसे लग रहा है कि मुन्नी पल-पल बड़ी होने लगी है। तम्बाकू पीते वह न जाने क्या-क्या सोचे जा रहा है। महंगाई का ज़माना है। कोई रोज़गार होता तो भी बात बन जाती। उसे अपनी बिरादरी के गंगू की याद आ रही है। पिछले दिनों धूम-धाम से ब्याह रचाया था। खूब दाज दिया था। पर फिर भी ससुरालवालों की नाक-भौंए चढ़ी हुई थी। शायद कुछ नकदी भी माँग रहे होंगे। बिरादरी बड़ी है...हाथ-पैर भी झाड़े नहीं जा सकते। मन मनाता है कि अपनी इज्जत-परतीत पहली है। बेटी की जिम्मेदारी पहली है। पीपल का ब्याह महा पुन्न है...बची ज़मीन भी चली जाएगी तो क्या, अपनी चीज है। फिर उम्र-भर कमाना ही है। जैसे-कैसे रैहन छुड़ा दूँगा।

मन आशाओं के समंदर में डूबने लगता है। ढिबरी बुझा देता है। चिल्म अभी सुलग रही है। भुरके की गुड़-गुड़ाहट अँधेरे में कुछ अजीब-सी लग रही है। जैसे यह बेसुरा, बेतुका शोर उसके भीतर हो रहा हो। वह कटोरी उतारता है। चिल्म सुलगाने के लिए फूँकें मारने लगता है। साँसें जब अँगारों से टकराती हैं तो एक अजीब-सा उजाला क्षण भर के लिए कमरे में हो जाता है...उस उजाले में फिर मुन्नी का वही चेहरा जगमगाता है। भीतर एक कसक-सी है। यह दर्द बहुत बड़ा है। जिसकी बेटियाँ होती हैं, इस दर्द की चुभन वही जान सकता है। ऊपर से बिरादरी की ठीस है। बेटी की ज़िम्मेदारी है...और पीपल धर्म है। मथरू दोनों के बीच गोते लगा रहा है। सोच रहा है बेटी का ब्याह खूब नहीं हुआ तो बिरादरी में नाक कटेगी। पीपल बिन ब्याहा रहा तो लोग बोलेंगे मथरू बामण नहीं चमार-डुमणा हुआ।

पुजारी काका ने बेटी का रिश्ता तय करा लिया है। अब मुन्नी पर बंदिशें लग गई हैं। उसे अम्मा अकेला नहीं जाने देती। यहाँ तक कि गाय-बकरी को जंगल-पानी भी खुद कराती है। घास-पत्ती को उसे अकेला नहीं भेजती। मुन्नी का भेड़ के बच्चों के साथ खेलना भी बंद हो गया है। वह कई बार खेलने की ज़िद करती है पर माँ डांट देती है। उसे भनक लग गई है कि उसका ब्याह हो रहा है, लेकिन ब्याह के मायने उसके लिए 'समंदर के खेल' जैसे हैं। तुलसी के विवाह जैसे हैं। वह आँगन में चुपचाप बैठी रहती है या फिर कमरे में पीछे की खिड़की के बीच जहाँ से वह अपने एकमात्र बचे खेत को कई-कई पल निहारती रहती है।

उसे जी-भर नींद भी नहीं आती। कारण अम्मा और बापू हैं। जब से उस पर रोक-टोक लगी है वह उन दोनों को परेशान देखती है। इसलिए हमेशा टोह में रहती है कि उनकी कुछ बातें सुने। पर वे दोनों इससे बचते हैं। आज मुन्नी बहुत पहले ही सो गई है। नींद का बहाना किया है। उसकी उत्सुकता अम्मा-बापू की बातें सुनने की है। चूल्हे के पास वे दोनों बैठे हैं। उनके साथ फिर वही चिन्ताएँ हैं। जिम्मेदारियों को निपटाने की जल्दबाजी है। मुन्नी की अम्मा बात शुरू करती है तो मथरू एक नज़र मुन्नी की तरफ दे लेता है। मुन्नी ने पट्टू से सर ढाँप लिया है। निश्चिन्त होता है कि वह सो गई है।

''गरधारी के घरे जाई आए थे, कुछ काम बणा कि नहीं।''

एक गहरी साँस लेता है मथरू। कुछ कहते हुए साँस निकलती लग रही है। मुँह को खून चड़ने लगा है।

''दे देगा पैसे। बोलता है जे खेत नाम लिखवा दे।''

"और चारा बी क्या है आसा गे। कुछ न कुछ तो करना ही है।"

मथरू को घरवाली की बात हथोड़े की चोट लगती है। अपनी नालायकी दिखती है। वह किसी बात के योग्य नहीं है। खेती दे-देकर ब्याह हो रहे हैं। इसमें अपनी कमाई कहाँ है। पर ध्याड़ी से शादी-ब्याह तो नहीं हो सकते हैं। अब कर्जा तो सूरज-चाँद के पास भी है। वह तो इंसान है। सोचता है, एक बेटा होता तो बड़ा सहारा हो जाता है। बेटियाँ पराया धन है।

मुन्नी की माँ जानती है कि मर्द को बात चुभ गई है। पर सच्चाई से कौन मुँह मोड़ सकता है। बात बदल कर सहारा देने लगती है, "देखो जी। आपणी खेती है। केसीरे बावा रा कुछ नहीं है। शरम होती है मांगणे की। आपणी चीज़ के पैसे लेणे हैं। फेर आसे एबू खाणे-कमाणे जोगे हैं। ये जिम्मेदारियाँ निपटी जावोगी तो उमर भर पै पटांदे रऊंगे। ना बी निपटोगा तो आसा कुणजे फेर पुत ब्याहणे... धड़ल्ले साधी करूँगे ब्याह...।

अकल की बात की है मुन्नी की अम्मा ने। मथरू को सहारा मिल गया है। बात ठीक है। जगह-ज़मीन किस काम की है। अगर इज्जत-परतीत से न रहा गया। पर मन में जो खेत देने का दर्द है वह मुखरित हो जाता है। आँखें अनायास ही छलछला जाती हैं। भुरके की नड़ी से आठ-दस कश एक साथ लेता है मथरू।

"मुन्नी की अम्मा। अब खेती देणे को मन नी करता। पैले जो रैहन दिए थे कहाँ छुड़ाए गए...। एक ही डोरू है, कैसे-कैसे कमाया थिया। ऐसा खेत भला गाँव-बेड़ में है किसी के पास...।"

रूँआसी आवाज़ हो गई है मथरू की। मुन्नी की माँ की भी आँखें भर गई हैं। वह पठाई की तरफ मुँह करके आँखों का छलकता पानी अपने चादरू से पोंछ रही है। भीतर एक सन्नाटा छा गया है। मुन्नी ने पट्टू उंगलियों से इतने ज़ोर से भींच रखा है कि फट गया है। उसने अम्मा-बापू को इस तरह आँखें भरे कभी नहीं देखा है। मन करता है उठकर उनकी गोदी में ज़ोर-ज़ोर से रोए पर कुछ नहीं कर पाती। उसकी आँखों से भी बरसात होने लगती है। बिस्तरा भीग रहा है। पर उसका दर्द कौन जानेगा। और उसके मायने भी क्या हैं।

मथरू चुप्पी तोड़ता है—"पर मुन्नी के हाथ पीले करके बोझ उतरी जाणा सिरा परा थे। साथी पिपला रा सुधार बी होई जाणा। ए तो मुन्नी री अम्मा जमीना थे बड़ी गल है...।"

मुन्नी बोझ भी है उन पर। यह सुनती है तो कलेजा बाहर को आने लगता है। बात समझ में आ रही है। सबकुछ उसी की वजह से है। खेत उसके कारण बिक रहा है। वह इस घर में जमी न होती तो अच्छा था। उसे अपने ऊपर ग्लानि आ रही है। वही जैसे घर की परेशानियों की जड़ है। कलछणी है वह। दूसरा वह पीपल है जिसे रोज़ पानी दे-दे कर पाला है। मन करता है सुबह उसे जड़ से काट आए...न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी। पर उसका अपना क्या होगा।

सुबह उठी मुन्नी का चेहरा कोई देखता तो जानता कि घर के दर्द कैसे उसके मुँह और उनींदी आँखों में समा गए हैं। हालाँकि वह ब्याह का मलतब नहीं जानती। उसके लिए तुलसी हो या पीपल या फिर वह खुद, सभी ब्याह एक जैसा है। पर खेत देकर बेटी का ब्याह उसे जच नहीं रहा है।...सूरज पहले की तरह उग आया है। वही सुनहरापन है। वही लालिमा है...अनूठा उजास है। लहलहाते खेत हैं। हवाओं में नृत्य करती डालियाँ हैं। पक्षियों की चहचहाटें हैं।...पर मुन्नी का मन अँधेरा है, फिर बाहर कैसे उजाला हो सकता है।...उसने

आज हाथ-मुँह भी नहीं धोए हैं। बाहर आकर या दहलीज पर से न सूरज को हाथ जोड़े हैं। ...और लोटा भी नहीं मांजा है। जैसे-तैसे पकड़ कर पानी भर लिया है। आँगन से निकलती हुई खेतों, पगडंडियों से जाती हुई वह पीपल के सामने खड़ी है। तभी सूरज की किरणें झाड़ियों के बीच से पीपल के पत्तों पर पड़ती हैं। उसका ध्यान पूर्व की ओर चला जाता है। सुनहरे बादलों की ओट से सूरज अलसाया-सा उग रहा है। उसकी किरणें भी सुनहरी ही हैं। पीपल के पत्तों पर बैठी वह उन्हें भी लालित्य से भर देती है। उसे लगता है यह लालित्य उसके भीतर तक रिसता चला जा रहा है। वह पीपल के वृक्ष को बड़े चाव से देखती है। इससे पहले उसने इस तरह कभी नहीं देखा। उसका यह अंदाज उसे भाने लगा है। मानों मुन्नी को देखकर वह मुस्कुरा रहा हो। पत्तो-पत्तों में मुन्नी के लिए स्नेह भर गया हो। हवा के झोंके जब-कभी उसके पत्तों को स्पर्श करते हैं तो उनकी सरसराहटें मुन्नी के भीतर एक कसक पैदा कर देती हैं। ...उसका उनींदापन चला गया है। भीतर वही चंचलता है। अनायास मुँह से निकलता है, ''...तेरा ब्याह हो रहा है...ब्याह।''

कुछ सोचती है।... पर बापू इसको सकपाल में बिठाएँगे कैसे?...यह सोचकर ज़ोर से हँस देती है...और हँसते हुए पानी का लोटा उसके तने पर उड़ेल देती है। वापिस मुड़ती है...कहती है, ''मेरा ब्याह बी होणे लगी रा...।''

शायद वह कहना चाह रही होगी कि उसके ब्याह के बाद उसे कौन पानी देगा...?

एक भरी नज़र से फिर पीपल को देखती है। पत्तों की सरसराहट मधुर संगीत पैदा कर रही है। हवा के झोंके उस संगीत को मुन्नी के कानों में उड़ेल देते हैं। भीतर लालिमा का उजास और संगीत की मृदुलता एक अनोखा आनन्द पैदा कर देती है।...पीपल उसे पहले से भला लगने लगा है। वह घर से दूर पहुँचती है तो गाँव की औरतों को अपने घर के आँगन में आते देखती है। उसके ब्याह की तैयारियाँ शुरू हो गई हैं। उसने सुना है उसकी ससुराल से आज लोग आएँगे इसलिए सुबह से ही घर की लीप-लिपाई होने लगी है।

वह भीतर नहीं आती। लोटा 'स्पील' पर रखकर घर के पीछे चली जाती है। यह वही खेत है जिसके सौदे से मुन्नी का ब्याह होना है। उसमें बापू ने सरसों बोई है। सरसों फूल रही है। कितना बड़ा खेत है। दूर-दूर तक पीले फूलों का जैसे गलीचा बिछ गया हो। एक फूल के ऊपर बैठा छोटा-सा तोता (कीड़ा) उसे आकर्षित करता है। उसे पकड़ लेती है। हथेली पर रखती है। फिर दाहिने हाथ की तर्जनी के पोर पर बिठा देती है। उंगली को सीधा आकाश की तरफ करके कहने लगती है, ''उड़...उड़ पंछिया पास की फेल...उड़...उड़।'' और पंछी सचमुच उड़ जाता है। मुन्नी आश्चर्यचकित। यह कैसे उड़ गया? क्यों उड़ गया? स्कूल तो कई बरस पहले छोड़ दिया है। उसे याद है जब इम्तहान देने के बाद परिणामों का समय निकट आता तो दूसरे बच्चों के साथ वह भी सरसों के खेत में चली जाती। पंछियों को उंगलियों पर बिठाया करती...पूछती, ''उड़...उड़ पंछिया पास की फेल...?'' जिसका उड़ जाता वह सचमुच पास और जिसके हाथ की उंगली में बैठा रहता वह सच का फेल।

वह स्कूल नहीं जाती। कोई इम्तहान नहीं दिया है। फिर पंछी ने झूठ कैसे बोला है ...क्या जो कुछ हो रहा है वह भी एक इम्तहान है...पर उसमें वह कैसे पास होगी...बेटी तो गऊ है। माँ-बाप के हांके चल देगी...।

मुन्नी को ससुराल से सगाई का जोड़ा मिल गया है। बात पक्की हो गई है। मुन्नी

और पीपल दोनों के लिए मुहूर्त निश्चित हो गया है। मुन्नी के ब्याह से एक सप्ताह पहले पीपल का ब्याह हो जाएगा। मुन्नी के बापू ने 'सूणी' की डाली भी देख ली है। उसे ही दुल्हन के रूप में पीपल को ब्याणा है।

मुन्नी अब कई बार सूरज निकलने का भी इंतज़ार नहीं करती। जब उठी तभी पानी भरकर चल देती है। पर पहले की तरह वह तत्काल नहीं लौटती। अब काफी देर पीपल के पास बैठी रहती है। उसे जी-भर देखा करती है। पत्तों को सहलाया करती है। तने को स्पर्श करती हुई उसे कभी बाहों में भरने का प्रयास भी करती है।

आज शाम उसने सुना है कि कल बापू खेत का सौदा पक्का कर देगा। गरधारी का नौकर कुछ कागज़ बापू को थमा गया था। उसी पर बापू को अंगूठा लगाना है। मुन्नी परेशान है। सुबह और रात के मध्य फासला ही कितना है।...रात-भर उसे नींद नहीं आती। उसने देखा है कि बापू कई बार उठकर देर तक भुरका सुड़कते रहते हैं। अँधेरे में उसकी गुड़गुड़ाहट डरावना शोर कर रही है। जैसे बरसाती नदी-नाले की बाढ़। अम्मा-बापू को खेत जाने का बहुत दुख है।

आज सुबह मुन्नी सबसे पहले उठ गई है। ट्रंक से सगाई का जोड़ा आहिस्ता-आहिस्ता निकालकर अपनी चुनरी की ओट में छुपा लेती है। लोटा लेकर झटपट पानी भरती है और दबे पाँव चल देती है। दूर-पार पूर्व की पहाड़ियों-घाटियों पर सोए बादलों में लालिमा भर रही है... सूरज उग रहा है पीपल के पास पहुँचते पहुँचते सूरज की किरणों ने जैसे पत्तों पर बसेरा कर लिया हो। पीपल उसे दूल्हे जैसा सजा-धजा लग रहा है। वह सर उठाकर पहले जैसा उसे नहीं देख पाती।...

पानी का लोटा चबूतरे पर रखकर झाड़ियों के पीछे जाती है। नया जोड़ा पहनती है। उसमें कंघी है। शीशा है। चूड़ियाँ हैं। सिंदूर की डिबिया है। माँ से सीखा है ब्याहता औरतें कैसे रहती हैं।... चूड़ियाँ पहन लेती है। बालों में कंघी कर लेती है। शीशे में अपने चेहरे को देखती है तो देखती रह जाती है। डिबिया खोलती है। सिंदूर निकालती है और माँग भर लेती है। उसी की बिंदिया माथे पर लगाती है। नई चुनरी ओढ़ती है। माथे पर से आगे सरकाती है...हल्का-सा घूँघट बन गया है। फिर शीशे में इस रूप को देखती है...शरमा जाती है...फिर ख्याल आता है बापू ने गरधारी को कागज़ देने हैं...खेत का सौदा होना है। घबरा जाती है। शीशा, कंघी और सिंदूर की डिबिया पुराने कपड़ों के बीच रखती है और पुरानी चुनरी में उनकी गठरी बना देती है।

दबे पाँव पीपल की तरफ आती है मुन्नी। इधर-उधर देखती। जायजा लेती...चोर मन है। घबराहटें हैं। जल्दबाजी है।...कपड़े की गठरी में से फिर सिंदूर की डिबिया निकालती है। पीपल की एक टहनी को अपनी तरफ खींचती है। उसके एक पत्ते पर सारा सिंदूर उड़ेल देती है और उस पत्ते-टहनी को फिर अपनी माँग में सिंदूर भरने को जैसे मजबूर कर देती है। उसे लगता है यह टहनी या पत्ते नहीं हैं....पीपल है...उस दरख्त के अपने हाथ हैं। उन्हीं हाथों ने उसकी माँग भर दी है।... अब लोटा उठाती है। पहले जैसी चंचलता मन में नहीं है। केवल पानी भर देने का उत्तरदायित्व नहीं है। अम्मा-बापू की आज्ञा नहीं है...श्रद्धा है। विश्वास है। विजय है...वह पंछी याद आ रहा है...जैसे कह रहा हो, "मुन्नी तू पास हो गई है...।" शरमाती, लज्जाती चाव से पीपल को पानी देती है मुन्नी। फिर लोटा एक तरफ रखकर आदर से सर

पीपल के तने से सटा लेती है...दुल्हन का पहला प्रणाम है...माथा टेकते-टेकते उसकी आँखें भर आई हैं...उठती है। थोड़ा दूर आ जाती है। खुले मन से अब पीपल को देखती है। सुनहरी किरणों की लालिमा ने उस दरख्त को लाल कर दिया है। यह लालित्य मुन्नी के भीतर भी है।

मुन्नी लौट गई है। ब्याहता मुन्नी दुल्हन मुन्नी। बापू और खेत के लिए दाव पर लगती मुन्नी...उसके लिए ब्याह माँग भरना है। सोच रही है बापू का बोझ खत्म हुआ। मुन्नी का भी और पीपल का भी। वह बापू के जाने से पहले पहुँचना चाहती है...।

आँगन की मुंडेर पर आकर ठिठक गई है। भीतर से खांसते बापू बाहर निकल रहे हैं। एक कंधे पर झोला है। उस पर पट्टू की बुक्कल है। दाहिने हाथ में लाठी है और बाएँ हाथ में कागजों का पुलिन्दा है। दहलीज से निकलती बापू की अचानक नजर मुन्नी पर पड़ती है। ठिठक जाते हैं। कौन लड़की दुल्हन जैसी आँगन में आई है...पहचान नहीं पाते। पीछे अम्मा खड़ी है। बापू आगे बढ़ रहे हैं। मुन्नी शरमाती...घबराती...आगे आ रही है। दोनों आमने-सामने हैं। जैसे पहचानते हैं बापू के पाँवों के नीचे की ज़मीन खिसकने लगती है। आसमान नीचे छूटता महसूस होता है। साँसें कहीं गले में अटक रही हैं। इससे पूर्व कि कुछ शब्द जुटाता...पूछता...चीखता-चिल्लाता...एक आत्मविश्वास से मुन्नी बापू के पाँव पड़ती है...।

"बापू। मैंने ब्याह कर लिया है।"

...मथरू के हाथ से कागज़ों का पुलिन्दा गिर जाता है।

[साहित्यकुंज, मारलब्रो हाऊस, धरातल मंज़िल, नज़दीक सचिवालय, शिमला-171002]

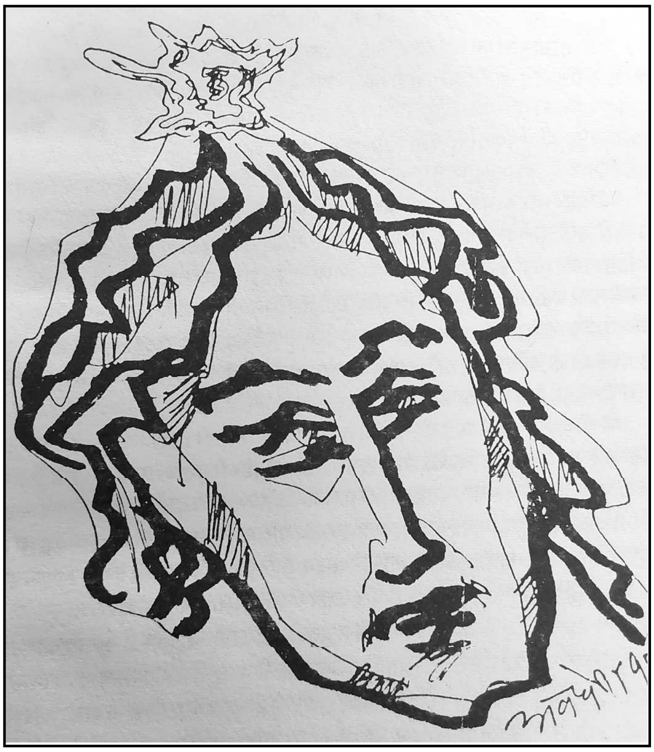

भ्यागड़ा

❑ त्रिलोक मेहरा

याकूब मागरे के शब्दों ने पूरा गाँव चित कर दिया था। मागरे बशीर का बहनोई। बशीर का बहनोई पूरे गाँव का बहनोई। बशीर के सिवाय और कोई उसके शब्दों को नहीं काटता। वे चाहे उससे सहमत हों या न हों, लेकिन जुबान नहीं खोलते। वह उनके बीच दिन-रात नहीं रहता। आया और चला गया।

एक रात वह अपने थैले में पीतल की बाँसुरी लेकर उसके घर आया था। यह वही बाँसुरी थी जिसे वह अपनी ज़िन्दगी-भर बजाता आया था। उसके हाथ में रहती या कमर में ठूँसी रहती। उसके हर काम, हर सोच में उसका दखल था। जब कभी दूर से लहराती आती धुन उसके कानों से टकराती, उसके हाथ भी स्वरों को तलाशते। उसकी पकड़ में आती और उँगलियाँ नाचतीं उसके रंध्रों पर। वह नहीं जानता कब से उसके मन को वह बहकाती-बहलाती आ रही थी। उसे यह ज़रूर पता था कि जब भी वह काम करते-करते थक जाता था, वह बड़ी चट्टान पर बैठ जाता और इत्मिनान से उसे बजाता। उसके शरीर के अंग-अंग खुल जाते और उसका मन हल्का हो जाता। उसने एक बीघा ज़मीन खरीदी। उस खाली पड़ी ज़मीन पर जब पहली दफा उसे बजाया तो उसकी खुशी आँखों में पानी बनकर उतरी थी। उसे उस ज़मीन के टुकड़े पर अपने हक का अहसास हुआ था। वर्षों की कमाई वहाँ बिखरी थी। उस पर कच्चा कोठा खड़ा कर दिया। बड़े-बड़े चट्टानी पत्थरों को तोड़ते-तोड़ते साँझ हो जाती। अँधेरा उतरने लगता। तब भी पसीना पोंछकर उसे निकाल लेता। अपने घर की कल्पना उसकी धुनों पर तैरती। जब कोठा ज़मीन पर खड़ा हो गया तो भी हर शाम उस पर बैठकर अधिकार से गीत गाता था। पहली बार उसने अपने परिवार को घेरे में बिठाकर, स्वयं बीच बैठकर उसे बजाया था। चाँदनी की रात को रोटी खा चुकने के पश्चात् उस पर अल्हड़ गीत बजाता। हर खुशी में और हर गम में वह उसके साथ रहती। उसमें उसके साँस थे।

पर दूर परदेश से आए हुए धर्म गुरु ने एक दिन कहा—"ढोल-ढमाका, नाच-गाना और बजाना मना है उनके लिए। अल्लाह नाराज़ होता है।"

उस जैसे सब लोगों के होश हवा हो गए। मन कुंठित हो गए। यह क्या? उसकी बाँसुरी का क्या होगा। उसकी आँखों की नींद गायब हो गई। क्या किया जाए। सबके मन उलझे हुए थे। जब वह जीने के लिए संघर्ष कर रहा था, बेघर से घर पाने तक उसने अल्लाह की नाराज़गी की बात कभी नहीं सुनी थी। उसने जब भी चाहा उसके गीत धुनों पर गाए।

उसने उसे कभी उस पर गुस्से होते महसूस नहीं किया। काम बन जाने के लिए उसने उसकी दुआएँ माँगीं और काम बन गया तो शुक्र अदा किया। पहाड़ों की छटाओं, घाटियों के अंधकार और पनिहारों के कलकल में स्वर मिलाती बाँसुरी।

सब तंगहाली से गुज़र कर खुशहाली में कदम रखा था उसने। और अब उसे अल्लाह

से कोई शिकायत नहीं थी। इक्का-दुक्का घर उसने बस्तियों में बदलते देखे थे। वे चाहते थे कि वे अल्लाह को एक जगह बैठकर याद करें। उन्होंने और उनके पूर्वजों ने उसे चलते-फिरते ही याद किया था। वह उन सब पर मेहरबान रहा है। जब वह भी बस्तियों में शामिल हो गया तो उन्हें एक ही जगह इकट्ठे मिलकर उसे याद करने की ज़रूरत महसूस हुई। और उन सब ने मिलकर पहले छोटा तथा उसके पश्चात् उससे बड़ा देवस्थल बना डाला। सब वहाँ इकट्ठे होते। आपस में दुःख-दर्द बाँटते। क्या घट रहा है इस इलाके में उसकी भी चीर-फाड़ होती। धर्म के अर्थ क्या होते हैं। अपनों में से बने धर्म गुरु की व्याख्याओं पर उन्हें संतोष नहीं मिलता। कहीं बाहरी क्षेत्र से धर्म गुरु बुलाने की ज़रूरत समझी गई। उसका विचार-विस्तार बड़ा होगा। वह अपने ढंग से वहाँ के अनुभव से उन्हें सब अर्थ समझाएगा। कुरान भी समझाएगा। अब तक उन्हें ज्यादा पढ़ने-लिखने का मौका ही नहीं मिला था। जंगलों से ही अपनी रोज़ी-रोटी निकालते रहे। वह उनके कई रहस्यों का उद्घाटन कर सकते थे। लेकिन अलिफ, बे, पे की उन्हें पहचान नहीं थी। दूर प्रदेश से आया हुआ धर्म-गुरु उन्हें नासमझ और गंवार समझता था। तभी उसने आते ही उनके रसीले स्वरों पर आघात किया था ।

उसे अपने ही निकाह की याद आ गई थी। तब ढोलक और खंजरी दिन-रात बजते रहे थे। कव्वालों ने गले फाड़ लिए थे। गर्म पानी पी-पीकर उनके तंतुओं को विराम दिया था। पहली शाम कुँजड़ी मल्हार से शुरू हुई थी। उसे अभी भी वे बोल याद थे। तभी पता चला था, कुँजड़ी मल्हार इस तरह गाई जाती है। जब भी शाम ढलती, उसके दोस्त उसे गाने को कहते और वह गाता था। बाँसुरी बजाता था। उसकी बेगम दूर से ही धुन सुनकर बता देती थी कि कौन बजा रहा है। वह भी चाहती थी कि उसके निसार के निकाह की पहली शाम कुँजड़ी मल्हार से शुरू हो और बाद में औरतें गीतों से पूरी धार को मदमस्त कर दें। रात में रति और उसमें गुंजन हो ।

निसार के मामा-मामी बशीर और शायदा ने उसकी उड़ानों को और भी पंख लगा दिए थे। धाम में न राजमाह का मधरा, न छाछ की कढ़ी और न ही होगी माह-चने की दाल। वे अपना मुर्गीखाना खाली कर देंगे। पिछली गर्मियों में दिए मुर्गियों के अंडे न उन्होंने बेचे, न स्वयं खाए, न ही अपने बच्चों को खाने दिए थे। सबसे चूजे निकलवा दिए। बशीर उन्हें छक देने तक पालने के स्वप्न ले-लेकर जीता रहा था। उस समय तक हर चूजा किलो/डेढ़ किलो का होगा ही। कोई दाल ही खाना चाहे, खा ले। लेकिन उन साठ मुर्गों के गोश्त के स्वाद की लार वे हर रोज़ लम्बी खींचते। बकरा खरीद कर उसे हलाल करने की जहमत नहीं उठाएँगे वे। सब खरीद सकते हैं बकरा। अभी खरीदो और पका लो। कोई याद नहीं रखता। चूजों को मुर्गा बनाने की हर रोज़ की कारगुज़ारी का वर्णन वे हँस-हँसकर करते। वे चाहते थे कि सब जान जाएँ कि अपने पाले मुर्गों की छक दी है उन्होंने। उनकी तमन्ना थी कि जब भी बात चले, सब यही कहें—बशीर ने निसार के लिए अपना मुर्गीखाना खाली कर दिया था। वीणा, बाँसुरी और ढोल पर भी यही गूँजे।

''अण्डों से मुर्गे बनने तक वह सबसे यही कहता था—निसार के निकाह के लिए हैं ये। हट्टे-कट्टे करूँगा इनको सबके सब परोस दूँगा। गिन-गिन कर बोटियाँ दूँगा। कोई थाली खाली न रहेगी।

"उसे तो केवल एक ही काम रहा था—दाना खिलाना चूजों को। फिर खुले में छोड़

देता और स्वयं डंडा लेकर चलता कि भेड़-बकरियों के पीछे पुहाल गडरिया हो। वहाँ हर घर में मुर्गियाँ पलतीं। उनके बिना उनका निर्वाह ही मुश्किल था। दारू में अंडा, सब्ज़ी में अंडा और सर्दियों में गाय-भैंस सूख जाए तो अंडा ही उनकी ताकत का स्रोत था। यों भी जब बर्फ़ की खुली चादरें झरतीं और दिन-रात की झारन से रास्ते स्वयं को छुपा लेते, यह मुर्गियाँ ही उन्हें गर्म रखने के लिए स्वयं को सौंप देतीं। याद दिलातीं कि परिंदे चले गए हैं, लेकिन परिंदे अभी भी यहाँ हैं। जब भी ज़रूरत पड़ती, एक-एक करके वे हलाल होती रहतीं और फिर गर्मी आने तक एक जोड़े को छोड़कर बाड़ा खाली हो जाता। लेकिन इस दफा वे पूरे ठंडे मौसम में हर बार मन मार लेते और कश्मीर की आबादियों में ईद के दिन कटते मुर्गों और आपस में बँटते गोश्त को याद करते।

चम्बा की इसी चौराह के पाँव का अंगूठा जम्मू-कश्मीर में धँसकर तड़पता रहता कि कश्मीरी हिरण की तड़प यहाँ आकर अभी शांत होनी थी। दशकों से वे इन पहाड़ों को लाँघते इस तरफ सुनसान पड़े जंगलों को छान रहे थे। उन्होंने अपने रहन-बसेरे तो कर लिए थे, मगर अभी क्लांत थे, और चाहते थे कि मकड़ी के तंतु उन्हें आर-पार बाँधे रखें। यहाँ रह रहे लोगों ने उनका विरोध कभी नहीं किया। वे सब पेट भरने की जुगाड़ में दिन-रात लगे रहते। उनका आरा उनके आरे के साथ-साथ साँ-साँ करता और दोनों की कुल्हाड़ियों की काट रई, तोष और कैल के घने जंगलों में बाँसुरी की धुन के साथ-साथ गूँजती। वे फैल गए थे घुमन्तू से लेकर पक्के ठिकाने पाने तक। उनकी बाँसुरी ने पहाड़ के टीले से, पनिहार के पत्थर से और पगडंडी लकीर से सदा प्रेम गीत गाया था, थकान पिघलाने के लिए।

ऐसे में याकूब मागरे बड़े संकट में था। वह सोचता यह कैसा आदेश था जो आदमी की ग्रंथियों को ताला लगा दे। उसे चलती-फिरती लाश बना दे। उसकी बाँसुरी की धुन में सदा अल्लाह की आवाज़ ही आती थी। देखते-देखते सुबह-शाम दूर से आती उसकी धुन बिरली ही सुनने को मिलने लगी। उसकी बाँसुरी भी गूँगी होने लगी और एक दिन उसने उसे थँबी से लगी कील से लटका दिया। कई दफा उसने वहाँ से उठायी, आधे बोल निकाले और फिर लटका दिया वहीं। उसे बड़ी तकलीफ होती थी अपने मन से उसे दूर करते हुए। अन्दर जाते—बाहर आते उसकी नज़र उस पर ज़रूर पड़ती। जितनी वह अपनी आँखें रोकता उतनी ही वे उधर मुड़ जातीं। दो-चार बार उसके छोटे लड़के ने ही डंडे से उतारकर उसमें उल्टी-सीधी फूँकें मारीं। और उसे भी कहा बजाने के लिए। एक बार तो उसे थप्पड़ खाने पड़े कि उसने 'उसे उतारा ही क्यों?' पहले जब वह कोठे पर धुन छेड़ता था, वह उसकी टाँगों पर सिर रखकर सो जाता था। उसे बेवक्त सुलाने का अच्छा उपचार था।

"एड़ियों तक ऊँची सलवार पहने। अल्लाह इस तरह थे।" धर्मगुरु ने फिर कहा था। उन्हें पता था कि अल्लाह की सलवार ऐसी थी, मगर वे चौंक पड़े कि उनकी पीठ में बर्फ़ का गोला मल दिया हो। ऐसी ज़रूरत उन्होंने कभी नहीं महसूस की थी। वह उन्हें किस तरफ ले जा रहा था, यह उनकी समझ से परे था। यह जगह छोड़ अरब चले जाएँ और रेत में चलें। फिर भी अल्लाह होने का लालच किसे नहीं था। कुछ लोग ऊँची सलवार पहनने लगे, परन्तु जब शहर जाते, पेंट-कमीज़ ही डालते, अन्यथा अलग-अलग प्रतीत होते। वहाँ नए ज़माने में दिखना चाहते। जब उसने ऐसा देखा तो उसने अपना पहनावा नहीं बदला। वह दुविधा के जाल में था। इस तरह बाँसुरी छोड़ने पर भी उसे अफसोस हुआ। फिर भी गाना बजाना धीरे-धीरे

लुप्त हो गया। जैसे दहशत खाए हुए स्वर लौटकर आए ही नहीं।

हेमराज की बाँसुरी नित नए बोल गाती रही। वे दोनों साथ-साथ काम पर जाते और साथ-साथ ही खाना खाते, दोपहर का।

"तूने सलवार नहीं पहनी, मागरे।" एक दिन खाना खाते हुए हेमराज ने कहा। वह हैरान हो गया सुनकर, उसकी तरेरी आँखों ने प्रश्न फेंके उसकी ओर। वह गुत्थमगुत्था सोच को भाँप रहा था। दोनों बिन बोले रहे।

"तूने सलवार नहीं पहनी।" उसने फिर कहा।

"तूने मेरी बेगम का वाक्य बोला।" उसने सोचकर कहा। 'कैसे?' वह हँस दिया।

"इसी तरह। मैंने बाँसुरी रख दी तो अब रोज़ सवेरे कपड़ों के लिए कहती है।"

मज़ाक करती है। कहती—"बिना राग-रंग के इंसान कसाई होते हैं।" मैंने सोचा था, उसकी मति काम में ही मारी गई होगी। हर वक्त लकड़ी और घास की बातें करती थी। उसे क्या मतलब मेरे शौक से। लेकिन उसे अपने निकाह में हुई मस्ती की भी याद है। कहती है—"जब हम औरतें जंगल को मुँह अँधेरे जाती हैं तो केवल काम ही नहीं करतीं। हमारी दराती भी हमारे संग गाती है। काम के वक्त मस्तियाँ आती रहें तो थकान की बर्फ़ जमती नहीं...।"

हेमराज उसका चेहरा ताकता रहा। बेगम के सोच की कैसी छाप थी उस पर। परन्तु चेहरे पर तो पीड़ा झलक रही थी। उस इमारत से निकला द्वंद घर-गृहस्थी में घुस चुका था। उसके अपने ही फैसले पर कोहरा जमता देखा उसने। उसने बात को और मोड़ दिया।

"यह बात पुरानी हो गई। कपड़े नहीं बदले। सलवार, वह एड़ियों तक वाली।"

"बाँसुरी जल्दी ही मरोड़ दी गई। थोड़े लोग ही थे उसके गुलाम। गुलामों के सरदार भी गुलाम। ऐसी सलवार पहनने से इब्राहिम तो नहीं बन जाओगे। जो बनना चाहते हैं वे बनें।" वह कहती है—"मैं उसके आदेश या उपदेश को नहीं मानती। मेरी माँ मुझे बचपन में सुनाती थी उसका मुझे आधा हिस्सा याद है : औरन को करे चानना, आप अँधेरे माही।" आज मुझे सब ताज़ा होता नज़र आ रहा है। मैं समझता हूँ वह मुझसे समझदार है।

'हूँ।' हेमराज हँस पड़ा। ये लोग औरत को इतनी तरजीह तो नहीं देते। शायद इसके दिमाग के पुर्जे कुछ ढीले पड़ गए होंगे। वैसे बाँसुरी ताक पर धरने से पहले उससे पूछता तो अच्छा था। दिशा और दशा दोनों की भिन्न-भिन्न। बशीर की बहन जो ठहरी बेगम। शायद खातून भी पीछे हटनेवाली नहीं। इसके होश तब काफूर होंगे जब निसार के निकाह की छक डालने आएगी। उसका सुर्ख चेहरा। उँगलियों में सोने की अँगूठियाँ और कलाइयों में कंगन। कलेजी रंग की ज़मीनवाली कमीज पर गहरे रंग के फूल और सलवार और दुपट्टे का रंग भी कलेजी। सारी खुशियों का पराग फूलों से उड़कर चेहरे पर सजा होगा। उसका स्वभाव ही ऐसा है। दुपट्टा केवल कंधों पर ही नहीं लटकाती वह, उसे सिर पर भी ओढ़े होगी और उस पर होगी छक की टोकरी। टोकरी भी कलेजी रंग के पट में लिपटी हुई। उसने उनकी तैयारी के सम्बंध में सुना है। छक यानी धाम डालने ऐसे सुनमसुने नहीं आएँगे वे। निकाह का खर्च हल्का करेंगे तो दिखाएँगे भी लोगों को। बशीर का अपना रौब होगा। कश्मीरी टोपी विशेषकर मंगवाई है उसने। जून का महीना होने पर भी कमरी डालेगा सुन्दर-सी। उसके पाँव भी ज़मीन पर कब टिकेंगे। वीणा और ढोल की लय में पूरा का पूरा गाँव उठकर चल पड़ा होगा। जब वीणा बंद होगी तब बाँसुरी, ढोल उनके कदमों को लय देंगे। पूरा नहीं तो हर घर से कम से

कम एक मर्द या औरत या लड़का-लड़की चलेंगे धाम डालने। सबको कहा है उसने चलने के लिए। इन पहाड़ों की वीरानियों में जब इस तरह का अवसर आता है तो सब जी भरकर जी लेते हैं। न जाने कब फिर ऐसा मौका मिले। सब गिन-गिन कर रख लेते हैं दिन इस अवसर के लिए। समझदार मागरे न जाने कैसे बेसमझ बन गया एकदम, उसे पता था निसार का निकाह जल्द है। अकेली बाँसुरी ही काफी थी रौनक जमाने के लिए। बिना गीत-संगीत जनाजा और बारात में क्या अंतर रह गया। बारात को समझेंगे जनाजा और जनाजे को समझेंगे बारात। फर्क तो होना चाहिए। आदम जात हैं, कब वे रोटी खा चुके, उन्हें पता ही न चला।

स्पष्ट था उसके घर में कलह ने घर कर लिया था। वह सदा ऐसा नहीं था। छोटी-छोटी बात पर मियां-बीबी में बहस छिड़ जाती और एक के चुप होने पर ही माहौल शांत होता। काश! वे घुमंतू ही बने रहते। वह सोचती। वह बड़ा कोमल दिल था, लेकिन अब उसका स्वभाव पत्थर होता चला गया था। वह चुप-चुप रहता। हँसी उसके चेहरे पर आने से डरती। बात-बात में वह तुनक पड़ता। वह सलवार और बाँसुरी में उलझा पड़ा था।

"मैं दूसरे धर्म पुरुषों को ऐसे घरों के अच्छे-बुरे में शामिल होने से इंकार कर दूँगा, जो मेरे कथन पर अमल नहीं करेंगे।" धर्म पुरुष ने फिर कहा।

हवा में फिर खलबली हुई। एक भय की लहर उनसे लिपटकर उन्हें कसने लगी। अन्दर खाते छोटे धर्म गुरुओं में भी खुशी की लहर थी कि उनका ढीला पड़ता शिकंजा मजबूत होगा। सानिया मिर्जा स्कर्ट में क्यों खेले? उसे हक नहीं अपना हुनर दिखाने का। देश को गौरव दिलाने का। वह उनसे पूछे कि उसे कैसे कपड़े पहनने चाहिए। चाहे अपना हुनर ही क्यों न मारना पड़े।

उन्होंने कभी ऐसी बात नहीं सुनी थी। जिसे वे बड़े चाव से लाए थे, वही उनकी नींद हराम करने लगा था। बात-बात में वह कहता—"लाए हो तो मेरी बात भी मानो। मैं स्वयं नहीं आया हूँ। धर्म की बात ही कहता हूँ।"

मागरे मन ही मन उस पर तिलमिलाता था। वह भी उनमें से एक था जो उसे बुलाने गए थे, अपने जेब खर्च पर। अब वह सोचता था, उसे नहीं जाना चाहिए था। जैसे चल रहा था, वैसे अब भी चल सकता था। सड़क के मोड़ों पर खड़े डिब्बा देवस्थल अब उसे अच्छे लग रहे थे। न भीतर कोई बैठ सकता था, न रुक सकता था। कहीं चोटी पर झूलती पताका भी अच्छी लगी थी। पहले भी उसने उनके बारे में कभी बुरा नहीं सोचा था। उसने अपने लिए ही विचार किया था कि रोज़ी-रोटी ठीक है तो धर्म की सेवा भी की जाए। निसार का घर बसेगा पता नहीं उस दिन क्या तमाशा खड़ा हो जाएगा। अगर वह पीछे हट गया तो वे लोग ही आ जाएँगे तमाशे में, जिन्हें लेकर वह चला था। अपने बुने जाल में वह फँस चुका था। वह उसे हटा देने की तरकीबें सोचता, मगर कोई फिट नहीं बैठती थी।

अब वह अकेला था। अल्लाह पहले भी था और अब भी। लेकिन हिदायतें नहीं थी जो अब आ रही थी, उसे तिल-तिल कर सुखाने। उसकी मण्डली के कुछ लोग उसकी ही तरह स्वरहीन हो जाने थे।

उसकी बाँसुरी थँबी से लटक कर उसे चिढ़ाती रहती थी। वह उसकी यादगार थी। उसका अल्हड़पन, उसका यौवन, उसका प्रेम और शिथिल होती पकड़, सब गुँथे पड़े थे एक-एक स्वर में। लेकिन अब जी का जंजाल बन गई थी। जब उस भले मानस ने अधिकार

युक्त फरमान जारी किया तो वह और घबरा गया। वह उसे वहाँ से संताप उड़ेलती रहती। छटपटाहट में अब उसने उसे थँबी से हटाकर छह फुट दयार के बक्से में सबसे निचले तह में डाल दिया कि आनेवाले दिनों में वह उसके हाथ ही न लगे। वह भूल जाए।

निसार की माँ संदूक में उलट-पलट करते हुए उसे देखती रही थी। उसने उससे पूछ लिया था, परन्तु वह चुप रहा था। उसे बाँसुरी दिख गई थी उसके हाथ में। वह बोली थी, "उस जगह जाना ही क्यों जिससे जीवन में अशांति फैलती हो। छोड़ो वहाँ जाना।" जैसे पहले जीते थे, अपना जीवन जियो। मत बाँधो स्वयं को। गाने दो इसे स्वछन्द होकर अपना गीत। यहाँ-वहाँ छुपा रहे हो तो अच्छा है, हेमराज को दे दो या तोड़ दो। न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी। यह भी नहीं करना तो निसार के मामा के पास सम्भाल आओ। उबाल बैठ जाएगा तो ले आना या वहीं रहने देना। कोई अगली पीढ़ी बजाएगी।"

वह पलक-भर रुका था। उसकी ओर देखा था। उसने संदूक बन्द कर दिया था और चला गया था काम पर। अब शामें चुपचाप उतर आएँगी।

शायदा खातून और बशीर चावल, दालें आदि तो खच्चरों पर लाद कर ले आए मागरे के घर एक दिन। आस-पास से बुलाए रिश्तेदारों और मित्रों को स्वादु खाना खिलाएँगे और उन्हें खाता देख प्रसन्न होंगे। खातून अकेली ही गाए जा रही थी।

मामा तेरा छक तेई आया, आमा मेरिये...।

मामा तेरा पंज मण जिंस लेई आया हो, आमा मेरिये...।

मामा आया हाथी दी सवारी, मामी तेरी आई पैदल हो, आमा मेरिये...

सब औरतें हँस-हँसकर इस गीत को बार-बार पूरा रास्ता गाती हुई आएँगी। आज वह अकेली है। निसार की माँ हैरान थी कि इतनी खुशी है उसे आज भी, तो उस दिन क्या होगा। उसने अपने कलेजी रंग के कपड़ों के बारे में भी बताया कि वह कलेजी रंग की चलती-फिरती गुड़िया ही बन जाएगी। बशीर की पोशाक को देखकर लोग यही न कह दें कि यही दुल्हा-दुल्हन तो नहीं। जितनी देर वह वहाँ रही उसकी खनकती रसीली जिह्वा बोलती ही रही। निसार के निकाह के दिन निकट आते गए और मागरे के मन की बेचैनी बढ़ती चली गई। वह इस उधेड़बुन में था कि धर्मगुरु और गीत-संगीत में कैसे तालमेल बिठाए। उसे बाँसुरी फिर याद आने लगी। सब गा-बजा लें, लेकिन वह नहीं बजाएगा। उसने उसे संदूक से निकाल लिया। उसने निसार की माँ से कहा वह सम्भाल आए अपने भाई के पास इसे। निकाह के उपरान्त वह स्वयं इसे ले आएगा। परन्तु उसने वहाँ जाने से इन्कार कर दिया और कहा कि उसे स्वयं ही जाना चाहिए। वह क्या उत्तर देगी जब वे पूछेंगे। कारण तो होना चाहिए। वह उसे इस उत-पुत से अलग ही रखें। ऐसा उत्तर उसने कभी नहीं सुना था।

रात के पहले पहर का वक्त था। वह अपने थैले में बाँसुरी डाले आ गया था बशीर के घर। धुकधुकी तो पहले ही थी उसके दिल में। "अमानत सम्भाल रहा हूँ तुम्हारे पास।" उसने बाँसुरी को हाथ में पकड़कर दिखाते हुए कहा।

"क्यों?" क्या हुआ ऐसा? बशीर ने पूछा।

"मैं नहीं रख सकता इसे। जब चाहूँगा ले लूँगा। अभी मेरे पास नहीं रहनी चाहिए।"

"फिर भी। तुम तो इसके साथ जागते-सोते रहे हो।"

"हाँ, पर धर्मगुरु ने गाना-बजाना मना किया है।"

"पर क्यों?"

"कहता है अल्लाह नाराज़ होता है।"

"हाँ, घर, ज़मीन जुगाड़ ली। उम्र भर ओंठों से चिपकाए रखी, तब नहीं हुआ, अब होगा।" घर के सब लोग बैठे थे। वे सोच रहे थे कि उनके दामाद को क्या हो गया है। कहीं किसी बोझ से परेशान तो नहीं। कहीं जादू-टोना तो नहीं हो गया। उनके टी.वी. पर 'मुगले आजम' फिल्म चल रही थी। वे सब देख रहे थे। रसवाले रसोई-घर में खाना खाने के पश्चात् सभी उस बड़े कमरे में बैठकर टी.वी. देखते थे। फिर अपने-अपने कमरे में चले जाते थे। वहाँ केबल नहीं आती थी। केवल डी.टी.एच. ही था।

"टी.वी. बंद कर दूँ? कहीं तुम्हारा...।" बशीर ने हँसकर कहा।

"नहीं, चलने दो।"

"अकबर बादशाह था। उसके दरबार में एक महान संगीतकार तानसेन था। उससे अल्लाह नाराज़ हुआ ही नहीं।" उसने कहा है इस तरह।

"अन्तर्मन की हत्या अल्लाह का गुनाह है। तनाव देखो चेहरे पर। सेहत पीली पड़ गई है।"

उसे कुछ धक्का लगा। उसने अपनी कटी दाढ़ी पर हाथ फेरा। यह बात हेमराज ने भी कही थी। उसे उसने काम का दबाव कहकर टाल दिया था। कहीं वह पगला न जाए। "हमारे पूर्वज इन पहाड़ों को लाँघ इस ओर आ रहे थे। उन्होंने भी संगीत का सहारा ज़रूर लिया होगा। उनमें औरतें भी होंगी, बच्चे भी। उस समय वह कहाँ था? अल्लाह की खुशी इसी में है कि तुम खुश रहो।" बशीर ने कहना जारी रखा।

"हाँ, यह तो है। मैं भी...।"

"तो भी...?"

"समझ नहीं आ रहा, क्या करूँ?"

"कर्म करना मत छोड़ो। मन को शांत रखो। घर में भी कलह हुई होगी। हमारी बहन इस तरह आसानी से माननेवाली नहीं। सारे परिवर्तन परिवार में सहमति से होते हैं।" वह कुछ न बोला।

"क्या छोड़ें, क्या रखें हम? छक भी हमारी नहीं है। हम क्यों करें इसे? अपनी प्रसन्नता के लिए हम दूसरों की रीतियाँ अपना लेते हैं। मेल-जोल बढ़ता है।"

"यह तो सभी करते हैं। मामा का मान बढ़ता है।"

"हाँ, पर मान गुमसुम चलने से होता है? हम बैंड-बाजा के संग आएँगे। या हमें रखो या धर्मगुरु को।"

याकूब मागरे निरुत्तर हो गया। कमरे में बैठे सब उसके हाव-भाव पढ़ रहे थे। वहाँ एक मान्यता यह थी कि दशरथ ने श्रवण को तीर से मारा था। तो कोई भी कारज भानजे के घर होगा उसका आधा भार मामा उठाएगा। दूसरी मान्यता थी कि बेटी अपने पिता की सम्पत्ति से कोई भाग अपने साथ नहीं ले जाती तो भानजे या भानजी की शादी का आधा भार मामा वहन करेगा। वह जानता भी हो, लेकिन बशीर ने यह बताना उचित न समझा कि कहीं वह भड़क न पड़े और सोचे कि वे उसे इतना ही मूर्ख समझते हैं। सबने उसकी बात सदा

मानी थी, लेकिन इस बार तेवर अलग थे। उन्होंने हेमराज, उसके लंगोटिये यार में आए बदलाव के सम्बंध में कहा—"पर तुम अल्लाह के नज़दीक नहीं हुए इस तरह। उससे दूर ही हुए, बहुत दूर।"

उसके लिए ये वाक्य गरजते बादल थे। वह चुप रहा। न ही बशीर ने कभी इस तरह कहा था। उसे चिंता थी उसने जो तैयारी की थी, वह कैसे प्रकट करेगा। वह कई दिनों से डफली बजाता आ रहा था और यह है जो वीणा को ही कुंद करने पर तुला है। मागरे ने उससे बाँसुरी लेकर उसे चुपचाप अपने थैले में डाल लिया।

"यह क्या?"

"कुछ नहीं।"

सब उठकर अपने-अपने कमरे में चले गए।

पूरी रात वह अपने पक्ष बदलता रहा। ज़रा-सी भी आवाज़ उसके कानों के पर्दों से टकरा जाती। आँखें हर वक्त तरोताजा रहीं। कब सुबह हो और वह चले वहाँ से।

जब तक अँधेरा स्वयं को समेट न ले, वह बिना किसी से बात किए वहाँ से गायब हो गया था। पूरे गाँव में उसके आने की बात फैल चुकी थी। पर पता चला था कि वह गाँव के रास्ते में बाँसुरी पर सुबह का गीत यानी 'भ्यागड़ा' गाता जा रहा था।

[गाँव मेहड़ा, डाक. भवारना, ज़िला कांगड़ा, हि.प्र.-176083]

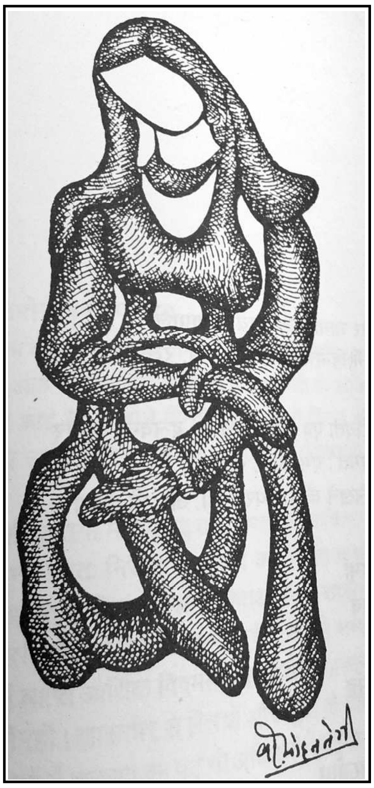

फूल क्यों खिलते हैं?

❑ ओम भारद्वाज

अपने मरने की खबर कोई नहीं पढ़ सकता। अगर ऐसा कुछ घट जाए तो विश्वसनीय नहीं लगता। अतः मैं जानता हूँ कि आप भी इस बात पर विश्वास नहीं करेंगे। करो, न करो, मुझे क्या मैंने खबर पढ़ी है। इस खबर को पढ़कर मैं जीवन और मृत्यु के दोनों पक्ष देख रहा हूँ। मरा हुआ व्यक्ति जब लौटता है तो वह व्यक्ति नहीं 'जेयों' यानी यमदूत हो जाता है। मैं तो निस्संदेह आपके समक्ष खड़ा हूँ। इसलिए मैं 'जेयों' नहीं हुआ। मारनेवाले ने मार डाला। परन्तु मैं मरा नहीं। जीवित होने के कई प्रमाण दे सकता हूँ, फिलहाल मैं घटना के मध्य लौटता हूँ।

उठते ही मैं आँखें मलता हुआ बाथरूम की ओर गया। बाथरूम में पत्नी बड़बड़ा रही थी, "आठ बज गए। कुम्भकरण बनकर सोये हैं। रातभर सोते नहीं न सोने देते। किताबों में झक मारते रहते हैं। जब पढ़ने का समय था तब पढ़े नहीं, अब बनेंगे प्रोफेसर। बच्चों की डायरी तक नहीं देखते, जिनकी पढ़ने की उम्र है।"

शायद वह नहाने की तैयारी में थी। मैं दरवाज़े से ही मुड़ गया। कुर्सी पर बैठा। अखबार आ चुका था। अखवार पर नज़र दौड़ाई। आखरी पन्ना क्रिकेट की खबरों से भरा था। क्रिकेट की खबर न मिले तो खाना हज़म नहीं होता। अन्दर वाला पन्ना पलटा मेरे बाल खड़े हो गए। मोटे अक्षरों में लिखा था, "साहित्यकार देवकांत नहीं रहे।" एक ही नाम के कई साहित्यकार हुए हैं। मैंने सोचा मेरे नाम का यह कौन साहित्यकार है? ...खबर पढ़ी। खबर में मेरी ही रचनाओं का उल्लेख था। पहले तो धक्का-सा लगा। कुछ सम्भला। अपने आप को इस मोर्चे के लिए तैयार किया। मगर तभी लगा अपने मरने की खबर पढ़ने का भी अलग मज़ा है।

पत्नी बाथरूम से बाहर आ चुकी थी। मैंने अखबार को समेटा और मेज़ के नीचे डाल दिया। मुझे मालूम था कि पत्नी यदि खबर पढ़ेगी तो खबर लिखनेवाले की शामत आ जाएगी। उससे पहले वह मुझ पर चार-छह ताने कस लेगी, तुम लिखने वालों की अक्ल चरने चली गई है। ज़िन्दा आदमी को मार लेते हो, मरे हुए को ज़िन्दा कर देते हो। मैं ये सब नहीं सुनना चाहता था। अखबार में छपनेवाली हर खबर सच्ची नहीं होती। मेरा मन कह रहा था कि तहकीकात करूँगा। फिर यह विचार कुछ दिनों के लिए स्थगित कर लिया। ताकि जान सकूँ कि दोस्तों और दुश्मनों में किस तरह की प्रतिक्रियाएँ पनपती हैं। मेरी रचनाओं का छपना लगभग बंद हो चुका था। हर रचना खेद सहित लौट आती थी। जैसे मेरी लेखनी के प्राण संकट में हों।

मैंने सोच लिया। सोच नहीं लिया, धारणा बना ली कि अब में देवकांत नाम से नहीं लिखूँगा। कोई नया नाम ईजाद करूँगा। जैसे बाबा नागार्जुन ने किया। मुंशी प्रेमचंद ने किया।

कई दिनों नाम बदलता रहा। कोई नाम मेरी सोच और साहित्य रचना के अनुरूप न बैठा। बेचैन, उदास, आशिक, अकेला, कई नाम देखे। सब घराट के घिसे हुए पाट लग रहे थे।

एक दिन मेरे गाँव में एक इज़रायली युवती आई। उसे मंदिर रचना के बारे कुछ जानकारी चाहिए थी। वह पहाड़ी मंदिर वास्तु पर शोध कर रही थी। पुजारी ने मुझे बुलाकर उससे मेरा परिचय करवाया।

"बहुत बड़े लेखक हैं बेटी। मंदिर के बारे में इन्होंने बहुत कुछ लिखा है। यही व्यक्ति हैं, जो तुम्हें समझा सकते हैं।"

दो दिन वह मेरे घर पर ही रुकी। मंदिर की जानकारी पाकर वह गदगद हो उठी। उसने दोबारा हिमाचल आने का वचन दिया। उसका नाम मुझे बहुत अच्छा लगा। छोटा नाम बोलने में जीभ को अधिक ज़ोर नहीं देना पड़ा। इसलिए मैंने उससे आग्रह किया, "क्या मैं तुम्हारा नाम चुरा सकता हूँ।"

"अफकोर्स।" उसने सहमति दे दी।

मैंने बेटी जैसी मासूम ऐनी के फोटोग्राफ पहले से ही कैमरे में कैद कर लिए थे। उस दिन से मैं ऐनी नाम से लिखने लगा। मैंने बहुत-सी रचनाएँ ऐनी नाम से पत्रिकाओं में भेजीं। कोई वापिस नहीं आई। बल्कि कुछ और नई रचनाएँ भेजने के लिए भी आग्रह आया। इस तरह एक लेखक का पुनर्जन्म हुआ। ऐनी नाम के साथ मेरी कलम का आकर्षण बढ़ गया। अब देवकांत जाए भाड़ में।

ऐनी का रचना संसार बढ़ने लगा था। देश की प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में तस्वीर सहित रचनाएँ आने लगीं। नामी-गिरामी आलोचक साहित्यकार ऐनी की भाषा और शैली पर अपनी टिप्पणियाँ देने लगे। ऐनी के नाम दो-तीन पुरस्कार घोषित हो गए। एक पुरस्कार लेने हेतु ऐनी को मुम्बई बुलाया गया। मैंने पत्र द्वारा असहमति भेजी। कहा मैं इतनी बड़ी साहित्यकार नहीं हूँ कि मुझे बड़े-बड़े पुरस्कारों से अलंकृत किया जाए। फिर भी आपको ऐसा लगता है तो पुरस्कार राशि मेरे पते पर भेज दी जाए। न ऐनी मुम्बई गई, न पुरस्कार राशि पहुँची। घोषणा कहाँ दबकर रह गई, में नहीं जानता। हाँ, घोषणा का इतना लाभ ज़रूर हुआ कि ऐनी का कद और ऊँचा हो गया। इसी बीच मुझे एक स्वनामधन्य सम्पादक का पत्र आया। उस पत्र में उनका मुझसे मिलने का आग्रह था। मैंने उसका आग्रह ठुकरा दिया। क्योंकि यह वही सम्पादक था, जिसने देवकांत की सभी रचनाएँ खेद सहित लौटा दी थीं। मैं आपसे यह नहीं पूछूँगा कि मैंने सही किया या गलत। मुझे जो करना चाहिए था मैंने किया।

बैसाखी का पर्व था। नया साल शुरू हो गया। पहाड़ों में नया साल इस पर्व से ही मानते हैं। गाँववाले सभी मंदिर के प्रांगण में इकट्ठे हो गए। रूपू फूलों का किल्टा लिए पहुँच गया—"इस बार बुराँस बहुत कम खिले हैं।" उसने किल्टा ज़मीन पर रखते हुए कहा।

"ठण्ड अधिक हो गई। अब तपिश बढ़ रही है। कुछ देरी से खिलेंगे।" पुजारी ने उत्तर दिया।

"थराच का पूरा जंगल छान मारा। तब कहीं जाकर आधा किल्टा फूल चुन पाया। आधा किल्टा पत्तियों से भर लिया। गाँव भर के लिए इतने फूल कहाँ पूरे पड़ते।"

"ठीक कहता है रूपू। एक फूल के साथ एक पत्ती सजानी पड़ेगी। फिर काफी है।

हर घर का गुज़ारा हो जाएगा।" पुजारी ने रूपू की बात पर मुहर लगा दी।

"एक रूप ही है जो हर बैसाखी पर फूल लाता है। नए नंद तो परम्परा भूलने लगे हैं। उन्हें देव-दोष का कोई भय नहीं। मंदिर के आधे काम छूटते जा रहे हैं। शाबाश रूपू।"

गाँव के कुछ लोग मुंजी घास के डोरे 'बाटने' में लगे थे। एक टब में मुंजी का गट्ठर पानी में डूबा था।

"मुंजी कौन लाया।" एक स्वर उठा।

"माठ्कू। वही चढ़ता है ढाँक पर। सीधे में तो ये घास उगती नहीं।" मैंने प्रत्युत्तर में कहा।

मुंजी के डोरे तैयार हो गए। एक फूल और पत्ती, एक फूल और गुंथते हुए 'स्तरेवड़ी' यानी फूलमाला तैयार। मंदिर के महराबों पर अर्द्धगोलाकार में इसे लटकाते गए। फिर एक-एक 'स्तरेवड़ी' लेकर सब अपने-अपने घर पर लटकाने लगे। यह फूल-पत्तियों की माला गाँव के हर घर पर सजने लगी।

"नए साल पर नया मेहमान आया है गाँव में।" शिबू ने आवाज़ दी।

सबका ध्यान उसकी आवाज़ पर केंद्रित हो गया।

"ऐनी का पता पूछता है। इस नाम की कौन लड़की है गाँव में? मैंने उससे कह दिया। यहाँ इस नाम की कोई लड़की नहीं रहती। वह मानने को तैयार ही नहीं।"

"तू बता देवकांत, कोई है ऐनी?"

"हाँ-हाँ क्यों नहीं। मैंने हँसते हुए कहा।"

"कौन भला?"

"मेरी बेटी का दूसरा नाम ऐनी है।" मैंने यूँ ही उन्हें फुसलाने के लिए कहा।

"मेरठ से आया है। बेचारे को पहाड़ पर चलना नहीं आता। ऐसे पाँव धरता है जैसे नदी में तैरने उतरा हो।"

मैं अपनी पोल नहीं खोलना चाहता था, इसलिए मैं उसे अपने घर ले आया। यहीं सब बातें होंगी। पत्नी ने गर्मागर्म चाय परोस दी। बात-चीत का सिलसिला आगे बढ़ा।

"श्रीमान् मेरा नाम राजेंद्र दत्त है। लोकमंच पत्रिका का सम्पादक हूँ। मैंने आपकी बेटी ऐनी की रचनाएँ प्रकाशित की हैं। बहुत अच्छा लिख रही है आपकी बेटी। शिमला आना हुआ, सोचा ऐनी से ज़रूर मिलना चाहिए। रास रिज़ोर्ट फागू में ठहरा हूँ। ऐनी कहाँ है?" मन में ख्याल आया कहूँ, "आपके सामने बैठी है। फिर सोचा पर्दा इतना जल्दी नहीं उठाना चाहिए। धैर्य को पकने दिया जाए।"

"आप खुशनसीब हैं श्रीमान्! आपके घर पर ऐनी ने जन्म लिया। एक महान् लेखिका हो गई है ऐनी। 20 वर्ष की उम्र में इतनी प्रसिद्धि? ऐसी ख्याति तो अरुंधति राय को भी नहीं मिली।"

"अच्छा! ऐसा क्या कर दिया उसने? मैंने जान-बूझ कर पूछा।"

"समय बताएगा जब वह ऊँचाइयाँ छूएगी। वैसे कर क्या रही है अभी?"

"आप अज़ीब आदमी हैं। एक तरफ कहते हो, बुलंदियाँ छू ली हैं, दूसरी ओर पूछते हो कर क्या रही है। ऊँचाइयाँ छूने का काम क्या कम है?"

"मेरा मतलब काम क्या कर रही है?"

"अच्छा-अच्छा! अभी पढ़ रही है। अपने मामा के साथ जयपुर चली गई है।"

सम्पादक महोदय का चेहरा सुनते ही लटक गया। पत्नी मुझे घूर रही थी। वह बीच में कभी नहीं बोलती। यह गुण किसी-किसी औरत में होता है। राजेंद्र दत्त के लौट जाने के बाद भले ही मेरी खाल उधेड़ दे।

कुछ खा-पीकर साँझ ढलते संपादक रास रिज़ोर्ट की ओर चल दिए। इस वचन के साथ कि वह ऐनी से ज़रूर मिलेंगे। वैसे पत्राचार होता रहता है। अपनी पत्रिका में सह सम्पादक के पद का प्रलोभन देकर उसने ऐनी के बाप को भी आकर्षित करना चाहा।

"ये ऐनी कौन है?" शयन कक्ष में जाते ही पत्नी ने प्रश्न किया।

"अरे वही है जो पिछले वर्ष हमारे घर पर रुकी थी। इज़रायली लड़की।"

"आपने कहा मामा के घर जयपुर चली गई। और ये मामा कौन है?"

"अरे! यह तो गप्पें थीं। सब झूठ है।"

"मैं सब जानती हूँ। तुम नौकरी-पेशा लोगों का क्या भरोसा। घरवाली और, बाहर वाली और।"

"बस कर मुझे सो लेने दे। तुम औरतों को वहम के सिवा कुछ नहीं सूझता।"

हम दोनों एक-दूसरे की ओर पीठ फेर कर सो गए। नींद किसी को नहीं आई। शायद वह सोच रही थी, हो न हो मेरी किसी प्रेमिका की बेटी ऐनी होगी। अब मुझे उसका विश्वास जीतने में कुछ समय लगेगा।

मेरी पत्नी को लगभग विश्वास हो गया था। सिलसिला यहीं नहीं रुका। एक रोज़ संपादक महोदय का फिर फोन आया। फोन पत्नी ने सुन लिया। महोदय ने पत्नी को ही ऐनी समझ लिया।

"कैसी हो ऐनी? तुम्हारी कहानी अगले अंक में दे रहा हूँ। कहानी अच्छी है। खूब लिखती रहो। हिमाचल आने का बहुत मन करता है। आकर ज़रूर मिलूँगा।"

"आप गलत जगह बात कर रहे हो।" कह कर पत्नी ने फोन काट दिया।

इससे पहले कि राई का पहाड़ बन जाए, मैंने पत्नी के समक्ष सत्य पर से पर्दा हटा दिया। घटना को सुनकर पत्नी हैरान हो गई। यदि इस समय रात न होती तो वह अभी संवाददाता के घर पहुँच जाती। इंतज़ार की घड़ियाँ लम्बी होती हैं। उसे रात छह महीने जैसी लगने लगी। आखिर सुबह हुई। वह मुकदमा दायर करने के लिए पुरानी अखबार ढूँढने लगी। अखबार रद्दी बनकर कहाँ पहुँच गया किसे पता? मुझे पता था वह मानने वाली नहीं। मुझसे अधिक उसे कौन जानता है? बाल हठ और स्त्री हठ, इसके आगे तो बड़े-बड़े ऋषि-मुनि अपने घुटने टेकते रहे हैं। इस कार्य में मुझे उसका सहयोग करना पड़ा। वैसे मैं भी चाहता था कि पोल खुल जानी चाहिए। झूठ का भार कब तक सिर पर उठाता रहूँगा। आखिर सत्य क्या है? अखबार ने इतना बड़ा सफेद झूठ कैसे छाप दिया। पुस्तकालय जाकर मैंने वर्षों पुराना अखबार ढूँढ निकाला। अख़बार के पन्ने लपेटकर हम दोनों दैनिक पत्र मोर्चा के कार्यालय पहुँच गए।

"यह खबर आपने कैसे छाप ली।" मैंने प्रभारी को पुरानी अखबार दिखाते हुए पूछा।

"जैसे सब खबरें छपती हैं।" उसने निस्संकोच उत्तर दिया।

"आपको मालूम है ये व्यक्ति कौन है? पत्नी ने बीच में कहा।"

"हाँ-हाँ, हमारे दैनिक पत्र के रिपोर्टर रह चुके हैं।"

"इनका नाम...?"

"देवकांत वर्मा। अच्छे लेखक थे। उन्होंने दैनिक पत्र के लिए दस वर्ष की सेवाएँ दीं। इतना तो हमारा फर्ज़ था कि उनके मरने की खबर मुख्य पन्ने पर छापें।"

"परन्तु 'पुराना घर' और 'बसंत' रचनाएँ तो मेरी हैं।"

"ये हम नहीं जानते। रचनाएँ देवकांत के नाम से प्रकाशित हुई थीं।"

"मेरा नाम भी देवकांत है श्रीमान्।"

"ग़लतफहमी आपको हुई है हमें नहीं। इसका मतलब आपका नाम कुछ और होना चाहिए था।" प्रभारी ने लापरवाही से कहा।

अब आगे का रास्ता साफ था। मरनेवाला देवकांत मैं नहीं कोई और था। रचनाएँ ज़रूर मेरी थीं। मैं अब दावा करूँ तो किस पर। रचनाओं का चोर तो भाग चुका था। मुझे आत्मगलानि हो रही थी कि मैं मरनेवाली खबर अपनी समझ बैठा था और साथ ही संतोष भी यदि ऐसा न घटता तो शायद मेरी रचनाएँ मेरी डायरी में ही अप्रकाशित छटपटाती रहतीं। खाक छानतीं। ऐनी का जन्म हुआ। रचनाएँ बाहर आईं। लगातार शान से छपती रही। आलोचना, समालोचना के धागे में पिरोई गई। रचनाएँ प्रकाशित होती रहीं। लोगों में ऐनी से मिलने की तड़प भी उतनी ही व्याप्त थी। समाचार पत्रों की सुर्खियों पर ऐनी की लेखनी का कमाल दिख रहा था। गोष्ठियों में उसकी रचनाओं की चर्चा होने लगी। साहित्यिक संसार में शृंगार का प्रसार रहता ही है। सौंदर्य के पुजारी मेरे गाँव बलन तक आने लगे थे। ऐनी से न मिल पाने के कारण बैरंग लौट रहे थे।

आप तो जानते ही हैं लेखक, लेखक का बैरी होता है। ऐनी का यश पचाना मेरी जमात वालों को कठिन हो गया था। ऐनी के नाम से कहानियाँ छप रही थीं इसलिए कहानीकारों पर सबसे ज़्यादा संकट आ गया था। उनमें भी सबसे चर्चित कहानीकार सबसे दुःखी हुए, क्योंकि उनकी निरंतर चर्चा में ऐनी की चर्चा की बड़ी बाधा पड़ रही थी। मेरे शहर के पड़ोसी लेखक भी ईर्ष्या में जल रहे थे। पड़ोसी का घड़ा फूट जाए दूसरा पड़ोसी लड्डू बाँटता है। कुछ विरोधी सक्रिय हो गए जो मीडिया में मुद्दा उछालने में माहिर थे। लेखिका को सामने लाने के फतवे जारी हुए। कुछ लोग शीर्ष आसन में उलटे लटके और कुछ को अपने चश्मों के शीशे बदलने पड़े। लेखक को नंगा करने के प्रयास में कुछ के अपने लंगोट तक उतर गए। मैंने ऐनी का भेद खुलने से बचा लिया। राज ज़मीन में गहरा दबा रहा।

एक नयी सुबह आई। समाचार पत्र में खबर छप गई। ऐनी का स्वास्थ्य बिगड़ गया। उसे स्वदेश लौटना पड़ा। ऐनी का पलायन हो चुका था। यह छाया लेखिका मेरे भीतर समा गई। बाहरी दुनिया में उसे ढूँढना अब नामुमकिन था। फिर भी कुछ लोग ढूँढते रहे। यानी असफल प्रयास करते रहे। मैं और मेरी पत्नी के सिवा ऐनी को कोई नहीं जान पाया।

मेरी पत्नी शयन कक्ष में जाते ही कभी-कभार लेखन पर चर्चा करने लगती। वह मेरे लिए धर्मसंकट का विषय नहीं, बल्कि कुछ मंथन का समय है। आज भी मेरी पत्नी ने प्रश्न

किया, "तुम लिखते क्यों हो? सारी उम्र लिखने में लगा दी। एक किताब तक नहीं आई। लेखकों को बड़े-बड़े पुरस्कार मिले। तुमने कौन-सा तीर मार लिया?"

"मैं समझता हूँ, इंग्लैंड के एक बड़े लेखक ग्रैहम स्विफ्ट ने कहा है—पुरस्कारों से लेखक नहीं बनते और न ही इन पुरस्कारों के लिए लेखक लिखता है।"

"फिर कागज़ खराब करने से क्या तात्पर्य। मालूम है, कागज़ बनाने के लिए कितने पेड़ कटते हैं!" पत्नी ने फिर कहा।

"तो क्या विचार को यूँ ही मृत होने दिया जाए?"

"अपने विचार को अपने मानस-पटल पर छापते रहो। समय भी बचेगा और...।"

"मैं कुछ कहूँ?"

"हाँ, कहिए।" पत्नी ने जिज्ञासा दिखाई।

"प्रिये, फूल क्यों खिलते हैं? यह ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर आज तक कोई नहीं खोज पाया। फूल फिर भी खिलते हैं, हर मौसम में खिलते हैं। वह अपने खिलने की कीमत नहीं माँगते। उन्हें खिलना अच्छा लगता है और खिलते हैं। वह मसले जाने पर भी सुगंध छोड़ते हैं। लिखना फूल का खिलना है।"

मैंने सोचा पत्नी को नींद आ गई होगी। बैड स्विच की ओर हाथ बढ़ाया। मगर उसने हाथ पकड़ लिया। रोशनी जलती रही। वह हथेली पर उंगली से लिखने लगी—"फूल क्यों खिलते हैं?" मेरे भीतर गुदगुदी होने लगी।

[गाँव बलन, डाकघर जैस, तह. ठियोग, जिला शिमला, हि.प्र.]

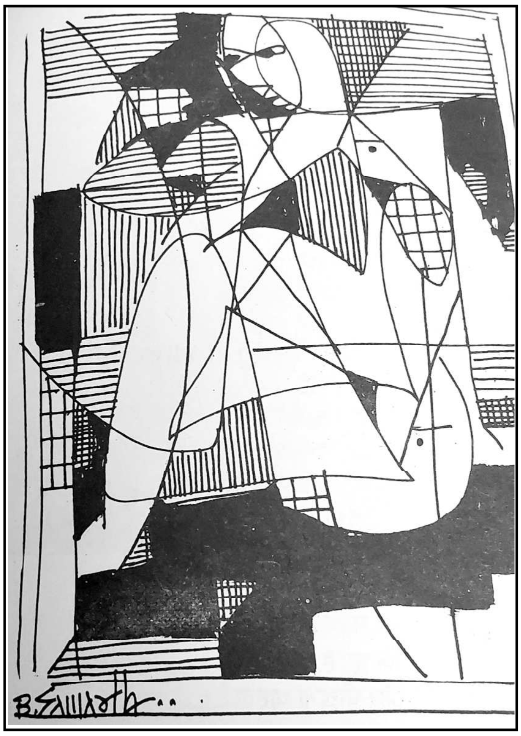

देह विहीन

❑ **अर्पणा धीमान**

एक झटके के साथ मैं किसी पंछी की तरह उड़कर घर के पास अखरोट के विशाल तरू पर आ बैठा हूँ। मेरी देह मुझसे पृथक् हो गई है। मैं बेबस तमाशा देख रहा हूँ। मेरे बेटों ने मेरा शरीर आँगन में लिपी-पुती ज़मीन पर रख दिया है। लोगों की भीड़ एकत्रित होने लगी है। मेरी बेटियाँ व बहिनें दहाड़ें मार-मार कर रो रही हैं। अपने बेगाने दौड़-दौड़ कर मेरे अंतिम संस्कार की तैयारी में लगे हैं। बाँस की सीढ़ी बनती देखकर मुझे घबराहट-सी हो रही है कि इस पर धर कर ये लोग मेरी देह को जलाने के लिए ले जाएँगे और मैं असहाय देखता रह जाऊँगा। पेड़ पर बैठा मैं उन्हें आवाज़ें लगा-लगाकर थक गया हूँ कि मैं यहाँ हूँ। पर कोई मेरी आवाज़ नहीं सुन रहा है। जैसे सब के सब बहरे हो गए हों। निरंतर प्रयासरत हूँ कि मैं जैसे उड़ कर इस पेड़ पर आ बैठा हूँ वैसे ही दुबारा अपने पिंजरे में लौट जाऊँगा। परन्तु मेरा प्रयास सफल नहीं हो रहा। ऐसा प्रतीत हो रहा है जैसे किसी ने मेरे पंख काट दिये हों।

मेरी पहली पत्नी मांचली मेरे शव के पास बैठी छाती पीट-पीट कर रो रही है। दूसरी महरू दरवाज़े की ओट में खड़ी सहमी-सी आँसू बहा रही है। शायद मेरी देह के करीब आने के लिए वह बड़ी की आज्ञा चाहती है। आज कई वर्षों के बाद दोनों आमने-सामने हैं। मैं हमेशा की तरह डर गया हूँ कि कहीं इस दुःखदायी बेला में दोनों में वाक्युद्ध शुरू न हो जाए। मगर यह क्या, मेरे देखते-देखते अविश्वसनीय घटना घट गई। उसे प्रत्यक्ष देखकर भी मुझे विश्वास नहीं हुआ। जब दोनों की नज़रें टकराईं तो मांचली ने अपनी बाँहें फैला दीं और दोनों एक-दूसरी से लिपट कर रो पड़ीं। दोनों का हृदय-विदारक विलाप सुन कर मेरा मन हुआ कि उन्हें ढाढस बंधाऊँ। उन्हें सहारा दूँ। उनके साथ रो दूँ। मगर मैं तो देहविहीन हूँ...सर्वथा असमर्थ हूँ और यथास्थान विस्मित होकर समूचा दृश्य निहार रहा हूँ।

पिछले पचपन वर्षों से दोनों बहिनों को एक-दूसरे की सूरत देखना भी स्वीकार न था। आज क्षण भर में दोनों के बीच का फासला मिट गया है। मेरी देह आत्मा से अलग होते ही दोनों के बीच एक मौन समझौता हो गया। दोनों के अलगाव का कारण भी मैं ही था और आज मिलन की वजह भी मैं ही बन गया। कल तक मेरे प्रणय का सुख इन्हें अलग-अलग किये हुए था और आज मेरी मृत्यु के साथ ही इनका दुःख-दर्द साँझा हो गया है। दोनों ने अपना सुहाग-शृंगार खोया है। इस समय दोनों के हृदय में पीड़ा का एक ही सागर हिलोरें ले रहा है।

आँगन में मेरी शवयात्रा की तैयारियाँ चल रही हैं और यहाँ बैठा-बैठा मैं अपने बीते जीवन के बारे में सोच रहा हूँ। अपने उस कुकर्म के बारे में जिस पर मैं जीवन-भर पर्दा डालने में समर्थ रहा। आज जब अपने कर्मों का फल भोगने का समय नज़दीक आया तो भोगा हुआ सच आईने की तरह मेरे समक्ष आ खड़ा है। समृद्ध और सशक्त जीवन जीने के बाद भी आज

मैं स्वयं को असहाय और निर्बल अनुभव कर रहा हूँ। अपनी गलती का पछतावा करने में भी अक्षम हूँ। कहते हैं पछतावा आत्मा को पवित्र कर देता है। जब इंसान अकेले बैठ कर पछतावे के आँसू बहाता है तब उसकी आँखों से पानी नहीं, गंगाजल बरसता है। पर मेरे पास तो आज आँसू बहाने के लिए आँखें भी नहीं हैं। देह में रहकर पछतावा करता तो शायद आज मेरी आत्मा यूँ न तड़पती।

मेरे पिता ठाकुर भानुप्रताप सिंह जागीरदार थे। रुआबदार व्यक्तित्व के स्वामी होने के कारण समाज में उनका अच्छा-खासा दबदबा था। सैकड़ों किसान ही नहीं, सरकारी नुमाइंदे भी उनके आगे झुकते थे और मैं, बृज भानु प्रताप सिंह उनकी इकलौती बिगड़ी संतान था। मेरे होते मेरी तीनों बहिनें किसी गिनती में नहीं थीं। सब मुझे इकलौता ही मानते थे। मैं जहाँ जी चाहे आता-जाता...दनदनाता फिरता। वह बेचारियाँ सिर पर ओढ़नी डाले चुपचाप घर के कोनों में दुबकी रहतीं। वह मेरी खुशहाली के लिए प्रार्थना करतीं और मैं उनसे झगड़ा। जैसे उन्होंने लड़की होकर पाप किया हो। मेरी माँ को तो मुझे कुछ कहने का अधिकार ही न था। सच कहूँ तो हमारे वंश में नारी का कोई महत्त्व ही नहीं था और वंश का यह गुण मुझे विरासत में मिला।

छोटी आयु में ही पिता जी ने मेरी शादी बराबरी के खानदान ठाकुर मेहर सिंह की बेटी से कर दी। मांचली तब मात्र पन्द्रह वर्ष की थी और मैं बीस का था। शादी के बाद जब मैंने पहली बार मांचली को देखा तो मंत्र-मुग्ध-सा देखता ही रह गया। किसी पहाड़ी झरने की मानिंद निर्मल, निश्छल व अनुपम सौंदर्य की प्रतिमा लगी मुझे। जीवन साथी के रूप में उसे पाकर मैं जैसे पगला-सा गया। घने काले केशों की घटाओं में महकते उसके गुलाबी कमल से चेहरे के मोहपाश से मैं ऐसे जुड़ गया जैसे कली की पंखुड़ियों में कैद भंवरा एकाकार हो जाता है। लेकिन यह भौंरा उसके रूपजाल में कैद होकर भी केवल उसी का होकर नहीं रह पाया था। क्योंकि जब मांचली से चार वर्ष उसकी छोटी बहन महरू का सौंदर्य निखरा तो मैं मांचली की पंखुड़ियों के बाहुपाश से निकलकर महरू की ओर दौड़ पड़ा।

मांचली और महरू, मेहर सिंह की दो ही बेटियाँ थीं। उनके घर न बेटा आया, न उन्होंने बेटे की प्रतीक्षा की। उनकी सुन्दर, सुशील बेटियाँ ही उनके लिये उनका सबकुछ थीं। मेरा विवाह हुआ तो महरू छोटी-सी थी। मैं जब भी ससुराल जाता तो वह लज्जाई-सी किवाड़ की ओट से छिप-छिप कर मुझे देखती। मैं जब भी उससे खुलकर बात करने का प्रयास करता तब ही वह झट से भाग कर घर के किसी कोने में दुबक जाती। मैं खिलखिला कर हँस पड़ता। इस आँखमिचौनी में कैसे वह जवान हुई और कब मुझ पापी भंवरे के मन को भा गई, अहसास ही न हुआ।

महरू के प्रति मेरे मन में जो वासनात्मक भाव उत्पन्न हुए मैंने उन्हें दबाने का प्रयास नहीं किया। मैं भी पुरुषों की उसी श्रेणी में खड़ा रहा, जिनकी नज़र में औरत केवल देह है। ऐसा फूल है जिस पर भंवरे का एकछत्र अधिकार है। इतना ही नहीं ठाकुर मेहर सिंह की ज़मीन-जायदाद का इकलौता वारिस बनने के लालच ने भी मेरी रातों की नींद छीन ली। मैं नहीं चाहता था कि महरू की कहीं और शादी हो और महरू के साथ-साथ आधी जायदाद भी खो दूँ। लोभ और काम ने मुझे नीचता के अंधे कुएँ में धकेल दिया। मैं जब भी ससुराल

जाता महरू के लिए अच्छे-अच्छे उपहार व उसकी पसंद की फल-मिठाई ले जाता। उसके लिए कोई भी रिश्ता आता तो मैं लड़के और खानदान में कोई न कोई अवगुण ढूँढ लेता। मैं महरू पर डोरे डालता रहा। मुझे तो बस उसे अपने वश में करने के लिये सही समय की प्रतीक्षा थी। वह भोली-भाली पहाड़ी बाला मेरी चतुराई और चालाकी को मेरा स्नेह समझती रही।

भाग्य शायद मेरे साथ था। तीर्थ से लौटते समय एक पहाड़ी चट्टान खिसकने के कारण मेरे सास-ससुर दोनों स्वर्ग सिधार गए। दुर्घटनाग्रस्त जीप और अपने माँ-बाबा की लाशों को देखकर महरू मुझसे लिपटकर खूब रोई थी। उसके रुदन-तड़प में जो पीड़ा थी, उसे समझने के बजाय मैं मन ही मन प्रसन्न था कि मेरी राह साफ हो गई। मांचली भी रो-धो कर फिर मेरी गृहस्थी में रम गई। दूसरी ओर मैं महरू के आँसू पोंछने के बहाने उसके और भी करीब आ गया। एक दिन भावनाओं के आवेश में कब महरू मेरी बाहों में समा गई, उसे शायद पता ही न चला। पर मैंने जो कुछ किया, सोच-समझ कर किया। जब मांचली को पता चला कि महरू मेरे बच्चे की माँ बननेवाली है, तब अपनी बहन को सौतन बनाने के अतिरिक्त उसके पास कोई राह नहीं थी। मुझे उन दोनों की भावनाओं से कोई सरोकार नहीं था। मैं तो अपनी मक्कारी पर खुश था। यही तो मैंने चाहा था कि महरू एक बार हम-बिस्तर हो जाए। औरत का क्या, जिसने एक बार छू लिया उसकी न हुई तो दुनिया उसे कभी मान नहीं देती। मर्द भले ही जहाँ इच्छा हो वहाँ मुँह मारता फिरे।

महरू नासमझ लेकिन संस्कारी थी। उसने सिर झुका कर मेरी सत्ता को स्वीकार लिया। मांचली ने तो हमेशा मेरा दिखावा और गुण देखे थे। मेरे अन्दर के शैतान को जानना उसके वश में न था। लेकिन मेरे इस दुष्कर्म के लिए महरू स्वयं को दोषी मानती रही कि उसने भावनाओं में बहकर अपनी बड़ी बहन के सुहाग पर डाका डाला है। उसके मन की व्यथा को मैंने कभी नहीं समझा। मैंने तो नारी मन की कोमल भावनाओं से छल किया था। उनका दोहन किया था। दूसरी ओर मांचली भी महरू को ही दोषी मानती थी। उसकी नज़र में तो मैं एक आदर्श पति ही बना रहा। मैंने महरू के साथ किए दुराचार को घड़ी-भर की भावनात्मक भूल कहकर मांचली से बार-बार माफी मांगी थी। कलेजे पर पत्थर रखकर पति को परमेश्वर माननेवाली एक औरत ने मुझे माफ कर दिया था।

पिछले पचपन वर्षों से मांचली ससुराल और महरू मायके में रह रही थी। दोनों इतनी दूर हो गई थीं कि एक-दूसरे की सूरत तक नहीं देखना चाहती थीं। दोनों के बीच एक गहरी खाई थी जिसे मैंने कभी भरने का प्रयास नहीं किया। मैंने न कभी दोनों बहनों का दर्द समझा न कभी उनकी पीड़ा बाँटी। मैं तो दोनों हाथों से लड्डू बटोरता रहा। एय्याशी और ऐशोआराम ही था मेरी ज़िन्दगी का मकसद।

"राम नाम सत है..., राम नाम...।" राम नाम की ये संगीतमय ध्वनि रुदन के बीच हवा में लहरा उठी। चारों भाइयों ने मिलकर मेरी अर्थी को कंधा दिया है। सौतेले और सगे का भेद मिट गया है। मांचली और महरू दोनों के बेटे मिलकर मेरे पार्थिव शरीर को अपने चौड़े कंधों पर उठा चुके हैं। रंगीन चादरों से ढका अपना शरीर मुझे दिखाई नहीं दे रहा है। मांचली और महरू दोनों मेरी अर्थी की ओर विलाप करती हुई दौड़ पड़ी हैं। गाँव की औरतें उन्हें बार-बार पकड़ रही हैं। लेकिन मेरी अर्थी उठानेवाले उनसे बेखबर से आगे और आगे

श्मशान की ओर चल दिए। अर्थी के ओझल होते ही वातावरण शांत हो गया है। औरतें नहाने-धोने लगी हैं। आँगन, घर सबकुछ धोकर साफ कर दिया गया है। वैसे ही जैसे वहाँ मेरा कुछ नहीं था। गाँव के लोग और रिश्तेदार भी अब लौटने लगे हैं। मेरे हवेलीनुमा घर से धुआँ उठने लगा और एकाएक सब खाना पकाने-खाने में मशगूल हो गए। धीरे-धीरे सब मुझे भूल जाएँगे।

मैं अखरोट के पेड़ पर प्रतीक्षारत हूँ कि कब मुझे कोई यहाँ से ले जाएगा और मेरे किए की सजा मुझे देगा। मैं जीया तो केवल अपने सुख के लिए। अपनी शर्तों पर, अपनी इच्छा से। पर आज जब मेरी देह मुझसे छूट गई है तो मैं सोच रहा हूँ कि मैंने यह सब क्यों किया? आखिर किसलिए किया? अगर मैं सुखी था तो आज वह सुखदानुभूति मेरे साथ क्यों नहीं है? क्यों लग रहा है कि मैं एक मुजरिम हूँ। एक लुटेरा हूँ। पर अब इन सब बातों का क्या सरोकार। अब तो समय मेरी मुट्‌ठी से फिसल चुका है। चाह रहा हूँ कि परमपिता को हाथ जोड़कर क्षमा याचना करूँ, पर मेरे पास हाथ नहीं हैं।

[गाँव व डाक बहना, बल्हघाटी, बरास्ता गागल, ज़िला मंडी, हि.प्र.-175006]

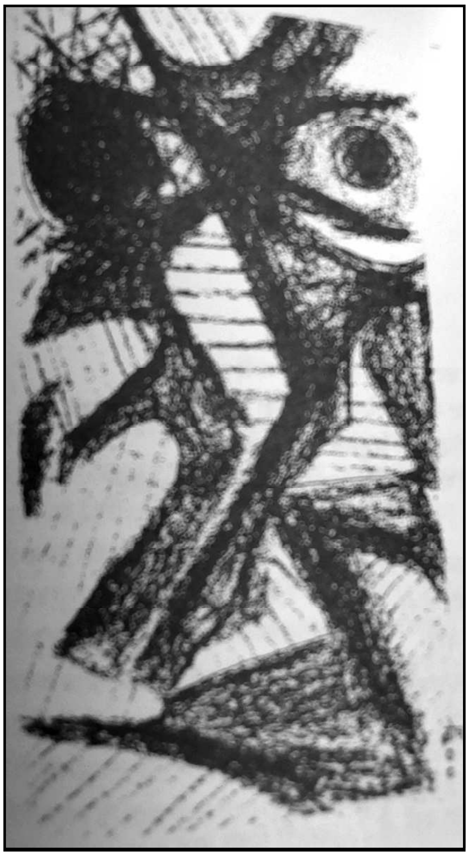

कविता खंड : पाँच

❑ **स्वप्निल श्रीवास्तव**

कविता को बचाये जाने की कवायद

शहर में चीज़ों को बचाए जाने के
अभियान चलाए जा रहे थे
चीज़ें बचती नहीं थीं थोड़े समय के लिए
मशहूर हो जाया करती थीं
लोगों को बातचीत का शगल
मिल जाता था
साहित्य जनों ने सोचा कविता लगातार
संकट में है उसे बचाया जाना चाहिए
जीवन में उसे दी जानी चाहिए
थोड़ी-सी जगह

दूर-दूर से बुलाए गए विद्वतजन कवि और लेखक
उनसे पूछा गया आखिर मीडिया और जीवन के
हाहाकार में कैसे बचेगी कविता?

एक वरिष्ठ कवि ने कहा—कविता के पहले
जीवन को बचाया जाना चाहिए
जीवन लगातार खतरे में है
हम हत्यारों के समाज में रहते हैं
यहाँ कविता के बारे में बात करना
खतरनाक है

एक लोक कवि ने बताया— लोग अपने कंठ
का इस्तेमाल नहीं कर रहे हैं
इसलिए कविता का पढ़ा और गाया जाना
मुश्किल हो गया है
आलोचक का कथन था—कविता को बचाये
जाने की ज़िम्मेदारी कवियों पर है
वे जनता के लिए कविताएँ नहीं लिखते
वे शहर में रहते हैं और शहर में जनता

नहीं रहती
कवियों ने प्रतिवाद किया—साँस्कृतिक परिदृश्य
बदल गया है कविता की जगह जीवन में
गैर-ज़रूरी चीज़ें काबिज़ हो रही हैं
इस अतिक्रमण को बचाया जाना चाहिए

संस्कृति कर्मियों ने निरन्तर बढ़ती हुई
संस्कृति विहीनता को मुख्य वजह बताते हुए कहा—
अपसंस्कृति ने कविता की आत्मा को
निगल लिया है
सबसे रोमांचक भाषण राजनेता ने दिया
उसने घोषणा की—जल्दी हम
कविता के बचाव के लिए कविता आयोग का
गठन करेंगे
उसके भाषण के बाद सभागार में
कविता के पक्ष और विपक्ष पर कोई
बहस नहीं हुई।

[510, अवधपुरी कॉलोनी, फैजाबाद, उ.प्र.-224001]

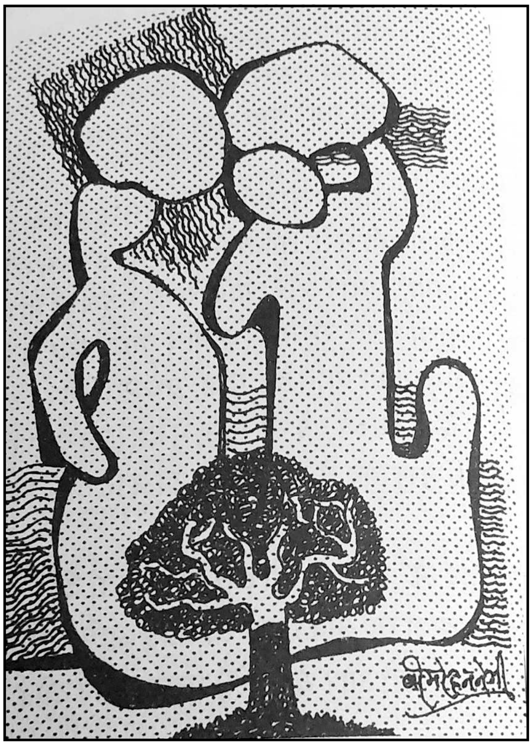

❑ विनोद दास

कौन किसकी तरफ है

इन दिनों/कौन किसकी तरफ है
पता नहीं चलता
जैसे आईपीएल मैचों में
पाकिस्तानी क्रिकेट खिलाड़ियों का पता नहीं चलता
कि वे किस तरफ हैं भारत या पाकिस्तान
विचारों की तमाम पत्तियाँ
बलशालियों के पक्ष में झुकी हुई हैं
राष्ट्रीयता छोटी हो गई है पेशेवरों से
जर्जर आशाओं की पोटली लेकर
डॉक्टर के पास आता है मरीज़
बिल की लम्बी आँत देती है गवाही
कि वह मरीज़ का नहीं नर्सिंग/होम का है
जीवन पानीपुरी की तरह चटपटा चाहिए
काम से लौटने के बाद
जब छोटे परदे पर कोई उत्तेजक हादसा नहीं दिखता
फीकी लगती है शाम
6 दिसम्बर या 26 नवम्बर जैसा कुछ न हो
तो उनकी भावविह्वल स्मृतियाँ ही सही
जलती हुई मोमबत्तियाँ चित्र बनाते हाथ
फिजूल दौड़ लगाते पाँव

आदमी जिस हृदय से होता है उदार
उसी से होता है क्रूर
मेरा अनुज मेरा सगा है या उस बिल्डर का दलाल
जिसका फ्लैट खरीदवाने के लिए
वह उसके लम्बे कसीदे काढ़ रहा है
चश्मा उतारकर केस में रख लीजिए
सिक्कों की चमक में
अब अपने रक्त का भी रंग पता नहीं चलता

[ए-II-32, नाबार्ड पार्क, एस.बी. रोड, शांताक्रूज (प.), मुम्बई-400054]

❑ अग्निशेखर

एक पाकिस्तानी दोस्त का आना

जीवन में एक बार
उसे जम्मू आकर तैरना है तवी में
यहाँ देश-बटवारे से पहले
तैरा करते थे उसके अब्बा
वह आ रहा है पाकिस्तान से यहाँ
तवी के घाट पर
जैसे शरणार्थी कैंप में मरे पिता की
अस्थियाँ लेकर गया था मैं कश्मीर
मन ही मन / जहाँ बहती है मेरे पुरखों की नदी
वह आ रहा है
अपने अब्बा की यादों के रास्ते
मल्का पुखराज के मर्म तक
जिसकी आवाज़ से होता था / तवी में कम्पन
झूम उठते उसके आशिक / होतीं चिमेगोइयाँ
लगते ठहाके तवी के घाट पर

मेरे दोस्त को उम्मीद है
उसे मिलेंगे तवी के पानी में / अब्बा के अक्स
जैसे मेरा बच्चा देखना चाहता है
कश्मीर जाकर / मेरे गाँव का स्कूल
जहाँ पढ़ता था मैं
और पेड़ों पेड़ों करता था उछलकूद
तोड़ता चोरी से / वर्जित फल
खुशकिस्मत हो मेरे दोस्त
तुम आ सकते हो पाकिस्तान से
तवी के पास
मैं नहीं लौट सकता कश्मीर
अपने ही देश में...
(अली अदालती के लिए)

[सुम्बल, बी-90/12, भवानीनगर, जम्मू-180007]

□ **दुर्गा प्रसाद गुप्त**

निदान तो जनता ही तलाशती है

बाज़ार चीज़ों से अधिक, चीज़ों से सम्बंधित खबरें बेचने लगा था
इस तरह हमारी तकलीफें कब खबर बनी हमें नहीं पता
पर हमारी तकलीफों से सम्बंधित वे खबरें
जिनका सम्बंध 'सेन्सेक्स' से था
बिकने लगी थीं / यद्यपि खबरें चौबीसों घंटे दिए जा रहे थे
फिर भी हमारी तकलीफें खबरों तक ही सीमित थीं
और वैसे भी तकलीफ न हो
तो भी खबर बनाने की तकनीक विकसित कर ली थी बाज़ार ने
इसलिए खबरों के न मिल पाने पर 'स्टिंग ऑपरेशन' करता था बाज़ार
यद्यपि उसकी अपनी कोई नैतिकता नहीं है
फिर भी सबसे अधिक नैतिकता की दुहाई वही देता है
वह मानता है कि सिर्फ खबरों को तलाशना और बेचना ही उसका काम है
तकलीफों का निदान देना नहीं।
पर वह नहीं जानता कि—
निदान तो खबरों के माध्यम से जनता ही तलाशती है।

देश जो कि बाज़ार है

बाज़ार चीज़ों को खरीदता और बेचता ही नहीं है
वह चीज़ों के साथ हमारे आत्मीय सम्बंधों को भी परिभाषित करने लगा है
वह चाहता है कि उसकी तिज़ारत में हमारे सुख-दुख भी शामिल हों
ताकि हमें भी लगे कि बाज़ार हमारे साथ और हमारे ही लिए हों
ताकि हमें भी लगे कि बाज़ार हमारे साथ और हमारे ही लिए है
बाज़ार ने हमें कुछ सिखाया हो या नहीं,
कम से कम चीज़ों का उपभोग करना तो सिखा ही दिया है
इसी तरह फिल्मों ने भी हमें कम-से-कम नाचना गाना तो सिखा ही दिया है
इसलिए बाज़ार के 'लाइवशों' में बदहाली और खुशहाली सब—
'रीमिक्स' हो नाचती हैं देश के लिए— देश जो कि अब बाज़ार है।

[डी-57, दूसरी मंज़िल, पर्यावरण कॉम्पलेक्स, इग्नू रोड, नई दिल्ली-110030]

❑ **हरीशचन्द्र पांडेय**

चिट्ठियाँ और बच्चे

इस इमारत की निचली मंज़िल पर
एक डाकघर है
ऊपरी मंज़िल पर– पाठशाला

चिट्ठियाँ
दिनभर आती-जाती रहती हैं
बच्चों की तरह

बच्चे भी / खुली चिट्ठियों से
कि बाँच ले कोई भी

हर मंज़िल
झाँक रही हैं कुपोषण की मारी आँखें
चश्मे के पीछे से

पहले मुर्गे बन रहे हैं बच्चे
आदमी बनने की प्रक्रिया में
और सही जगह पहुँचने के पहले
चिट्ठियों के बदन पर
अँधाधुँध ठप्पे पड़ रहे हैं

निचली मंज़िल से एक चिट्ठी
सीढ़ी चढ़कर आई है ऊपर एक बच्चे के पास
पहली बार गई कोई चिट्ठी–
सीधे बच्चे के हाथ में

बच्चे ने पहली बार खोली कोई चिट्ठी अपने नाम की
और बच्चा छात्रवृत्ति की तरह खिलखिला उठा...

[अ/114, गोविंदपुर कॉलोनी, इलाहाबाद]

❑ **महाराज कृष्ण संतोषी**

हम वे लोग हैं

हम वे लोग हैं
जिन पर नहीं रहा
अपने ही दरख़्तों का साया

हमने तापी
धूप के आदेशों पर
यहाँ-वहाँ
अपनी ही परछाइयाँ।

हम वे लोग हैं
जिन्हें रात
एक ऐसे ताबूत में सुला देती है
जहाँ हमारी सांसें
स्मृतियाँ
सपने
चुप्पी का फटा हुआ कफन
ओढ़ लेती हैं
और एक बेजान-सी तनहाई
रातभर हमसे लिपट जाती है
इस ताबूत में
हमारे लिए बस इतनी-सी है सांत्वना
कि हम करवट बदल सकते हैं
और सूँघ सकते हैं / उन फूलों को
जो हमारे आसपास महक रहे होते हैं।

स्वीकारोक्तियाँ

इन दिनों अक्सर
मैं प्रार्थना करना भूल जाता हूँ
पर अपनी इस भूल पर
मुझे कोई दुःख नहीं होता

कभी-कभी मुझे लगता है
प्रार्थना करने से अधिक सुखकर है
अपनी मनपसंद चाय पीना
और भूले हुए अपने प्रेम प्रसंगों को याद करना।

2.
मैं
दुःख में बेतहाशा
हँसने लगता हूँ
और सुख में हो जाता हूँ बहुत उदास
हे ईश्वर!
मेरा हँसना ही मेरी प्रार्थना है।

3.
मैं अपने सोचे हुए पापों के बीच
जी रहा हूँ
हे ईश्वर!
क्षमा करना मेरी कायरता
सचमुच
मैंने ये पाप किए होते
तो अब तक मुक्त भी हुआ होता।

4.
कुछ किताबें और औरतें
याद रहती हैं
जीवनभर
हे ईश्वर!
मुझे पढ़ने को मिलती रहें अच्छी किताबें
और मेरे आस-पास रहें ऐसी औरतें
जिन्हें चाहना प्रार्थना से कम नहीं।

[113-ए/4 आनंदनगर बौडी, तालाब तिल्लो, जम्मू तवी-180002]

❑ **मदन कश्यप**

किसी विस्थापन की तरह नहीं

हाँ हमें जाना होगा
उसे देखने के लिए मसूरी व नैनीताल
और उसे देखने के लिए
पुरी अथवा कन्याकुमारी
फिर भी मैं चाहता हूँ
कि हिमालय को हिमालय की जगह ही रहना चाहिए
और समन्दर को समन्दर की जगह
नदियों को इसी तरह बहकर आना चाहिए
हिमालय से समन्दर तक

वहाँ से निकलकर ठंडी हवाएँ बेशक आएँ हम तक
पर देवदार के जंगल को
देवदार के जंगल की जगह ही होना चाहिए
और घाटियों को घाटियों की जगह

पहाड़ ऐसा न करे
कि टूट कर घाटियों पर आ बरसे
अथवा नदियों के प्रवाह रोक ले

खेतों में फसलें ही उगें
कारखानों में बनें औज़ार

हर जगह मिले ज़रूरत की हर चीज़
इसके लिए ज़रूरी है
चीज़ें हों अपनी-अपनी जगह पर
और सुरक्षित रहे आदमी के लिए
आदमी की जगह
नींद में सिर्फ नींद होनी चाहिए
हाँ, कुछ सपने हो सकते हैं
पर नींद में यात्राएँ तो हरगिज़ न हों

केवल भूगोल-खगोल ही नहीं
कोई इतिहास को भी नहीं पार करे नींद में

पसीने से पसीना ही टपके खून नहीं
आदमी की हँसी आदमी की हँसी जैसी ही लगे
जैसे धरती पर रहे
वैसे ही आदमी के भीतर भी सुरक्षित रहे
आदमी के लिए जगह

फिर पीठ पर पीड़ाओं की पोटली उठाये
जब कहीं से चले कोई आदमी
तो किसी न किसी मोड़ पर उसे मिले
स्वागत में बाँहें फैलाये कोई दूसरा आदमी

कुछ ऐसे प्रतिस्थापित हो यह दुनिया
कि कहीं से कहीं भी जाना
किसी विस्थापन की तरह नहीं लगे!
(1998)

[एफ-3, सी-78, शालीमार गार्डन एक्सटेंशन-2, गाजियाबाद-201005]

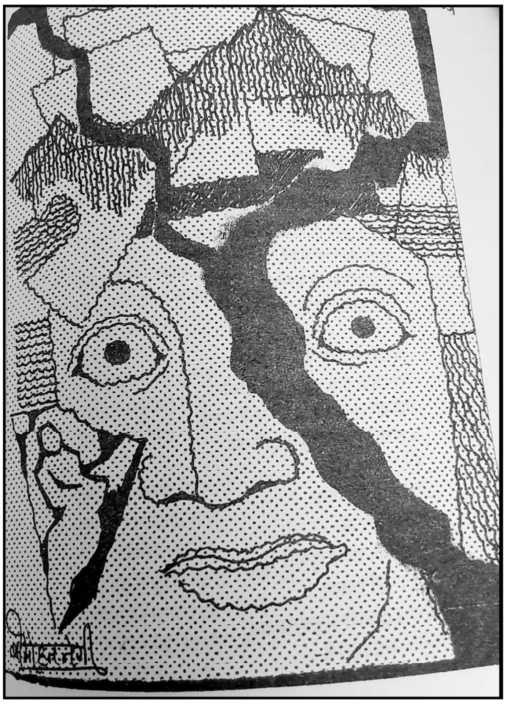

❑ **कात्यायनी**

सहना

रोज़ कहते हैं—
'अब और नहीं सहा जाता'
और सहते हैं।
जब सबकुछ
नहीं सहा जाएगा
तो कुछ नहीं कहेंगे।
जो ज़रूरी होगा, करेंगे।
सहने को तो
बहुत कुछ सहा जा सकता है।
ज़रूरत है कि
यह बताया जाए कि
मनुष्यता की रक्षा के लिए
कहना नहीं सहना तुरंत बंद कर देना होगा।

कहना

शांति से दिन बिताओ!
शांति से जाओ!
शांति से बात करो!
शांति से पढ़ो-लिखो!
कुछ बनने की कोशिश करो!
शांति से लड़ो!
शांति से भागो चुपचाप!
शांति से जियो!
शांति से मरो!
बाबा रे बाबा!
एक अशांत दुनिया में
एक अशांत आत्मा से
शांति की इतनी उम्मीदें?
शान्तम् पापम्! शान्तम् पापम्!

[3/274, विश्वास खंड, गोमती नगर, लखनऊ, उ.प्र.-226010]

❑ पंकज चतुर्वेदी

जाति के लिए

ईश्वर सिंह के उपन्यास पर
राजधानी में गोष्ठी हुई
कहते हैं कि बोलनेवालों में
उपन्यास के समर्थक सब सिंह थे
और विरोधी ब्राह्मण

सुबह उठा तो
अख़बार के मुखपृष्ठ पर
विज्ञापन था :
'अमर सिंह को बचायें'
और यह अपील करनेवाले
सांसद और विधायक क्षत्रिय थे
मैं समझ नहीं पाया
अमर सिंह एक मनुष्य हैं
तो उन्हें क्षत्रिय ही क्यों बचायेंगे?

दोपहर में
एक पत्रिका खरीद लाया
उसमें कायस्थ महासभा के
भव्य सम्मेलन की खबर थी
देश के विकास में
कायस्थों के योगदान का ब्योरा
और आरक्षण की माँग

मुझे लगा
योगदान करनेवालों की
जाति मालूम करो
और फिर लड़ो
उनके लिए नहीं
जाति के लिए

शाम को मैं मशहूर कथाकार
गिरिराज किशोर के घर गया
मैंने पूछा : देश का क्या होगा?
उन्होंने कहा : देश का अब
कुछ नहीं हो सकता

फिर वे बोले : अभी
वैश्य महासभा वाले आए थे
कह रहे थे—आप हमारे
सम्मेलन में चलिए।

[203, उत्सव अपार्टमेंट, 379, लखनपुर, कानपुर, उ.प्र.-208024]

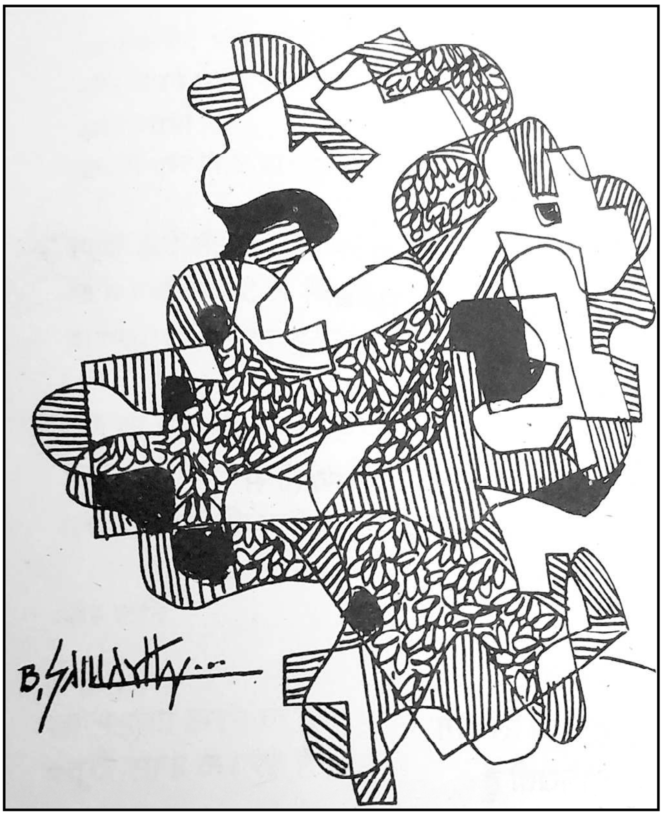

❑ **ओम प्रकाश वाल्मीकि**

उम्मीद

अँधेरे के उत्सव में
बाजीगर के जमूरे की तरह
उलटा लटका हूँ।

भीड़ में खड़े लोग
सिर के बल खड़े होकर
तालियाँ बजा रहे हैं!

मेरे चेहरे पर
रक्त उतर आया है
आँखों में
भर गया है
धूप का रंग!

माँ की सख्त हथेली पर
खिंची धुएँ की लकीर
मेरी चेतना को
पथरीली चट्टानों पर
पटक रही है।

मैं, न ज़मीन पर हूँ
न आकाश में।

कोई इसे गलत कहे
या सही
इस वक्त
जंगली घास की तरह है भीड़
जिसकी नियति है झुलसकर कट जाना।

कहीं कोई

अँधेरे की सत्ता के विरुद्ध नहीं है
अँधेरे की गोद में छिपकर
तो गए हैं रोशनी के सारे सपने।

सिमटकर छोटी हो गई हैं
देश की नदियाँ
चमचमाती सड़कों पर
रंग-बिरंगी बत्तियाँ
जल रही हैं
अँधेरे के अभिवादन में
उठ रहे हैं
साफ-सुथरे शिथिल हाथ।

शहर के बीचों-बीच
इस उम्मीद में खड़ा हूँ
कि भीड़ से कोई एक
बाहर आएगा
और सूर्य की आग से
जलाकर अपनी मशाल
कर देगा अँधेरे का पटाक्षेप।

[देहरादून, उत्तराखण्ड]

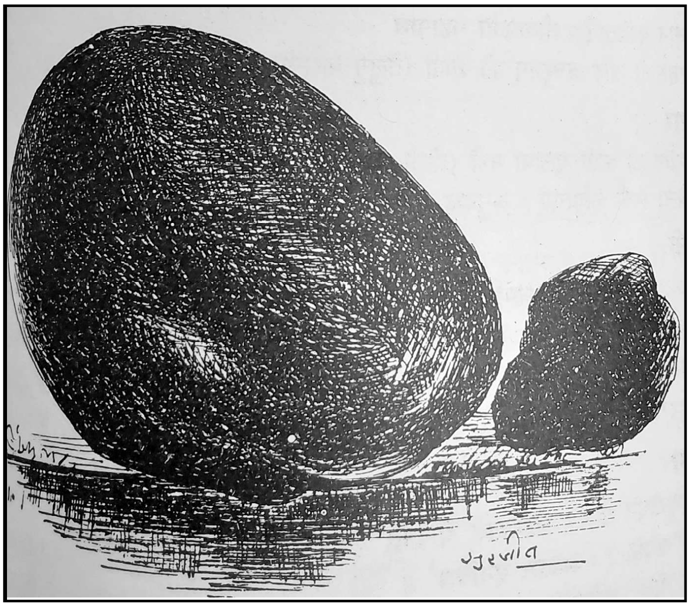

❑ निर्मला पुतुल

गुलदस्ते की जगह बेसलरी की बोतलें

यह कहते हुए शर्मिन्दा महसूस कर रही हूँ
कि बाज़ार में घूमते जब प्यास लगती है
पानी से ज़्यादा / पेप्सी और स्प्राइट की तलब होती है।
पता नहीं कब / हमारी प्यास में घुस गया यह सब।
सभा, सम्मेलनों में आते-जाते
कब बोतल बंद पानी ने / जगह बना ली हमारे भीतर
कि अब हम अपनी यात्रा में
बेसलरी की बोतल साथ रखते हैं।
वे सारे लोग / जो हममें देशज संस्कृति तलाशते हैं
झारखण्डी अस्मिता पर बोलवाते हैं
और जल जंगल ज़मीन के मुद्दे पर
हमारी राय चाहते हैं
वही लोग बेसलरी की बातलें बढ़ाते हैं
बोलते-बोलते जब प्यास लगती है सभा में
अब जबकि गुलदस्ते की जगह
सम्मेलनों में हमारे टेबलों पर
बेसलरी की बोतलें सजती हैं
न चाहते हुए भी पानी पी-पीकर बोलना पड़ता है
अपने इलाके के पानी के सूखे स्रोतों पर।
जब बाज़ार से गुज़रते
एक गिलास पानी मिलना कठिन हो गया है
और पेप्सी आसान
नहीं चाहकर भी हम / आसान रास्ते अपना लेते हैं दोस्त।
आखिर वे लोग जो हमारे भीतर
जल जंगल ज़मीन का जज़्बा देखते हैं
झारखण्डी अस्मिता और देशज संस्कृति तलाशते हैं
उन्हीं की संगति ने हमारी भाषा बिगाड़ दी
और प्यास बुझाने के लिए
पेप्सी और स्प्राइट का चस्का लगा दिया।

[दुधानी कुरूवा, दुमका, झारखण्ड-814102]

❑ **शिरीष कुमार मौर्य**

तसला

वह मुझे धरती की तरह लगता है
जिसे उठाए
इतने सधे कदमों से चढ़ती-चली जाती हैं
बाँस के टट्टरों पर
कुछ साँवली और उदास औरतें

उसमें क्या नहीं समा जाता
एक बार तो अपने दुधमुँहे बच्चे को ही उसमें लिटाए
चली जा रही थी एक औरत
तब वह उसके हृदय की तरह था

अच्छे से माँज धोकर आटा भी गूँधा जा सकता है
उसमें
उसी को उल्टा धर आग पर
सेंकी जा सकती हैं रोटियाँ
यह मैंने कल शाम देखा

उसमें औज़ारों की-सी चमक नहीं होती
कोई धार
कोई भारीपन नहीं

बहुत विनम्र होता है वह
औज़ारों में कभी गिना ही नहीं जाता
जबकि
उसी पर लदकर आती हैं इमारतें
जब वे खालिस ईंट-गारा होती हैं
उन्हें ढोने वाली औरतें उन्हें ढोती रहती हैं
अविराम

चढ़ती जाती हैं ईंट पर ईंट

गारा भर-भर के उन्हें जोड़ना जारी रहता है
तब तसला
तसला नहीं रहता
एक पक्षी में बदल जाता है
एक काले और भारी पक्षी में
जिसे हम सिरों के ऊपर उड़ता हुआ देखते हैं

कभी अपनी कोई अधूरी इच्छा
ऐसे ही किसी तसले में रखकर देखिए
जैसे वे औरतें रखती हैं अपना बच्चा
या जैसे गुँधा हुआ आटा रख दिया जाता है
या फिर सुलगा ली जाती है जाड़ों की रात में कोई आग
उसी में धरकर

वो बच्चा
एक दिन बड़ा हो जाएगा
मेहनतकश बनेगा
अपने माँ-बाप की तरह
उस आटे की भी रोटियाँ सिक जायेंगी
और उस बच्चे का पेट भरेंगी

और वह आग
वह तो तसले में ही नहीं
उस और उस जैसे कई बच्चों के
दिलों में जलेगी
जानना चाहते हैं
तो देखिए—
उस आग की रोशनी में देखिए
क्या आपकी इच्छाएँ भी
कभी फलेंगी?

[अल्का होटल से ऊपर, गांधी चौक, रानीखेत-263645]

❑ सुंदर चंद ठाकुर

शहर से दूर गाँव

शहर से दूर गया तो रात देखी
तारों से पटा आसमान
भय से गहरा अँधेरा
शहर में रोशनी ही रोशनी थी
लोग गाड़ियाँ और विज्ञापन ही विज्ञापन
और वह काट खाने वाला अकेलापन
जो इनके बीच बेखौफ घूमता था
बहुत दूर था मेरा गाँव
बहुत कम बचे थे लोग वहाँ
रिटायर हो चुके मरणासन्न फौजी
बूढ़ी औरतें बेरोज़गार युवक
और बहुत कम बच्चे

गाँव में बचे थे लोग
क्योंकि वहाँ पुरखों के खेत अब भी बचे थे
दिलों में दर्द
घरों में शेष थीं यादें
नदी में पानी
जंगल में लकड़ियाँ बची थीं
क्योंकि बेखौफ तो वहाँ आज भी नहीं घूमता
अकेलापन।

ऐसी दवा

जिसे खाकर सपने न आएँ
उम्मीदें टूट जाएँ
प्रेम में न पड़े आदमी
वह मृत्यु की इच्छा भी न करे
कोई ऐसी दवा बनाए।

[344, निर्माण अपार्टमेंट्स, मयूर विहार, फेज-I, दिल्ली-110091]

भाषांतर : कविता

हर प्रसाद दास की कविताएँ

❑ ओड़िया से अनुवाद : डॉ. राजेन्द्र प्रसाद मिश्र

[हर प्रसाद दास : जन्म 1945 ओड़िशा में। ओड़िया की नई कविता के मूर्धन्य हस्ताक्षर। 'अब तक' 'आलोकित बनवास' 'मंत्रमाठ', 'गर्भगृह', 'दूरत्वर भ्रम', 'अर्थ सहित शत्रुता' तथा 'खूनी अप्सरा' आदि काव्य-संग्रह तथा 'लुब्धकर तिनि प्रहर', कहानी संग्रह ओड़िया में प्रकाशित। ओड़िया में प्रकाशित 'देश' उनका नवीनतम काव्य-संग्रह है जो उत्तर आधुनिक काव्य संरचना की एक मानक सृजनात्मक कृति मानी जा रही है। कवि हर प्रसाद दास ने एक हज़ार साल के ओड़िया-काव्य में मौजूद आधुनिकता की परम्परा तथा विश्व साहित्य में 'आधुनिकता के समकाल' (बॉदलेअर से मार्क्वेस तक) का सृजनात्मक सर्वेक्षण किया है। नई कविता में क्लासिकी नवीनता के मुहावरों व शैली के प्रयोग के लिए भारतीय भाषा परिषद्, कलकत्ता, झंकार पुरस्कार, उड़ीसा साहित्य अकादमी पुरस्कार, उत्कल सम्मान तथा वर्ष 1999 में उनके उड़िया काव्य-संग्रह 'गर्भगृह' हेतु श्री दास को केन्द्रीय साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

केन्द्रीय राजस्व लेखा परीक्षा, नई दिल्ली के महानिदेशक रहे।]

अभिशाप

हमें लेकर लिखे जा रहे काव्य में
चल रहा है अभी हमारे पूर्व जन्म का प्रसंग
एक मामूली-सा गंधर्व हो नहीं जाना था
इंद्रसभा में मुझे कहता है कवि
किन्तु लाचार था मैं क्योंकि तुम
नाचते-नाचते थक चुकी थी तब तक
अंतराल से संयोगवश
बींधा भी जा चुका था पुष्पबाण।

हम प्रतीक्षा करेंगे नवानुराग कथन तक
उसके बाद निकल जाएँगे काव्य से
जहाँ झील किनारे छोड़ दिया था हमें भाग्य ने
वहीं नहाकर बदल लेंगे कपड़े
उसके बाद खिसक जाएँगे
धूल झोंककर कवि की आँखों में।

मिलन में पाया नहीं जिसे
खोया नहीं जिसे विरह में

कहाँ हैं शब्द कवि के पास कि
प्रेम कहकर पुकारे उसे...।

रूखी पर्वत पर काव्य पाठ

गुज़र गया एक अरसा
काटा जा चुका है बकरा रूखी में
भोज के लिए
पसार चुके हैं हाथ बच्चे
कविता के लिए
पर मुँह नहीं खुलता किसी का
न ही चलते हैं पैर किसी के।

बाँके की पान दुकान
क्या अब भी है खंड पाड़ा के चौराहे पर
साहस बटोर पूछता है एक बूढ़ा
लौटा है नयागढ़ जो अरसे बाद।

अगर हैं दो कबूतर
तो होंगे दो शब्द भी
कहता है कोई बात टालते हुए
दिख रहा है किसी को
रूखी पर्वत पर उतरने के बाद
वापस लौट रही है कविता
तकदीर से दूर पलायन के लिए
भाग रही है कविता
क्योंकि बन न सकी वह
माँस के साथ माँस
और आग के साथ आग।

सुख से रहे बाँके
कविता भले न पढ़ी जाए
बूढ़े को याद आते रहे पुराने दिन
कवि खुद ही से सवाल करता रहे
कबूतरों का जोड़ा उड़ जाए एक के बाद एक
न बँधकर किसी वाक्य से कभी।

फिर आएगा समय कविता का
फिर लिखी जाएगी कविता।

दुश्चिंता

ऐसा आकाश कभी नहीं देखा
ऐसा आकाश जो कि पुराणों में भी नहीं
यहाँ तक कि युग बदलते समय भी
इसकी नज़ीर नहीं पंचाग की भविष्यवाणियों में।

हर घर के किवाड़ खुले हैं
हर घर के सबसे भीतर की कोठरियों में
जल रहा है एक-एक दीया
सारे दीयों को एक साथ
फूँककर बुझाने के लिए
मौके की तलाश में हैं बादल
बादलों को एक-एक कर
किवाड़ के कोनों से खदेड़ने में जुटी है हवा
हवा को पकड़ने के लिए
हाथ पसारे खड़े हैं पेड़।

हर पेड़ की हर शाख पर
लिपटा है बिजली की चमक का साँप।

वहाँ दूर सच के पहाड़ पर
झूठी सुबह का भ्रम।

शायद कोई आएगा आज
साँकल खट-खटाकर पूछेगा

तुम हो
अच्छी तो हो पृथ्वी?

तेलुगु कवियों की कविताएँ

❑ तेलुगु से अनुवाद : विजय राघव रेड्डी

दृश्य

❑ सी. नारायण रेड्डी

आसमान की आँखों से देखो
घटाएँ, पूँछ के बल खड़ी शिफ़ाएँ लगती हैं
सिर नीचे किए
अधः अनातप तापसियाँ, या फिर
स्लो मोशन में तैर रहीं रास-क्रीड़ाएँ।

हवा के कदमों से देखो
दूरियाँ, रंगे हाथ पकड़ती गयी कसूरवार लगती हैं
दहलीज़ पर
कदमों पर आ गिरे छोर, या फिर
गंगा के ओठों पर खुले हरिद्वार।

धरा के जिगर से देखो
जड़ें , नमक की क्यारियों में खौल रहे आँसू लगती हैं
पेड़ की ठवन के वास्ते
बनी बेड़ियाँ, या फिर
आगामी इतिहास की सौरी की मुट्ठियाँ।

इन्सान की मौत

❑ वरवर राव

इन्सान की मौत मुझे बेचैन कर देती है
अमर हो जाएगा या अरुणतारा बन जाएगा
तुम कुछ भी कहो, लेकिन
इन्सान के मर जाने का मतलब
मानवता की साँस का रुक जाना है
किस गाँव का है? और किस नाम का है?

किसी को पता नहीं, लेकिन जानता है हत्यारा कि मरा है इन्सान
जंगल का वह पेड़ जानता है जिसने आँसू बहाये
वह हवा जानती है कि जिसने डाली है लाश पर मुट्ठी भर माटी
इन्सान का मतलब अकेला व्यक्ति नहीं होता
एक सामाजिक इकाई है
सूरज के ताप और सागर की आर्द्रता को
अपने में समाहित एक पृथ्वी-खंड है
इन्सान के साँस का दिया बुझ जाने से
अंधकारमय हो जाता है मन
उससे मेरा कोई परिचय भी न रहा हो
न सुना होगा उसका नाम तक मैंने
फोटो देखकर ही नहीं, साक्षात् देखने पर भी
नहीं पहचान पाऊँगा, लेकिन
जब मालूम पड़ा कि वह इन्सान है
कैसे कहा जाए कि वह अपना नहीं है!

काल का ज्ञान

❑ कंदुकूरि श्रीरामुलु

तुम यदि
एक सीढ़ी चढ़ गये
तो वह तुम्हारी बगल में से जाकर
दो सीढ़ियाँ चढ़ जाता है।

तुम यदि
ऐसे ही खड़े रह गये
तो वह आसमान पर धावा बोल लेता है
तुम जाओगे गर्त में।

कबूतर

❑ बोय जंगय्या

देखो न,
पुजारी ने मंदिर में जो घंटी बजायी
उसकी आवाज़ से मंदिर-गोपुर पर से
उड़कर चले गये कबूतर सारे
प्रभु की प्रार्थना के लिए

‘पास्टर’ के चर्च के किवाड़ खोलने से
उड़कर चले गये कबूतर सारे
‘अल्ला-हो-अकबर’ की ‘मुअज़्ज़िन’ की पुकार से
मसजिद की मीनारों से
उड़कर चले गये कबूतर सारे
सब मिल कर टहल रहे हैं
सब मिलकर दाने चुग रहे हैं
लेकिन –
पुजारी! पास्टर! मुअज़्ज़िन!

वक्र रेखाएँ

❑ मुकुंद रामाराव

मैं खुद की तस्वीर बना रहा हूँ
पुरखों की छायाएँ
सुख-दर्द व सोच-विचार
नाराज़गी व गरम मिज़ाजी
सपने भूले-बिसरे
सिलसिले अवहेलना के
पर्त-दर-पर्त न जाने कितनी बन रही रेखाएँ!
बन रहीं रंगीन रेखाओं में
जो चित्र उभरा मेरा
सो वह नहीं जिसे जानते हैं आप।

लहरों को फेंक
पाँव खींच रहे समुंदर को
कर वश में, सवार हो रहा हूँ उस पर।
पेड़ों से टकराकर / चीर गयी राह
फिर भी पहले से जान रहा हूँ
किस दिशा में जाना है मुझे।

कितना ही लगे सजीव चित्र
मुझे ये लग रहीं वक्र रेखाएँ
और मैं खुद विकृत आकार
भले ही लगे चित्र पूरा हुआ
फिर भी यह अपूर्ण।

सुरजीत पातर की कविताएँ

❑ पंजाबी से अनुवाद : चमन लाल

[पाश और पातर 1970 के बाद की पंजाबी कविता के दो प्रमुख हस्ताक्षर हैं। दोनों ही कवियों ने पंजाबी कविता में अपनी मौलिक व विशिष्ट पहचान बनाई व उनके बाद की पीढ़ी के कवियों पर इन दोनों कवियों की गहरी छाप पड़ी।

पातर के अब तक 'हवा में लिखे हरफे' (गज़ल संग्रह 1979), 'सूरज दे हमसफर' (1986), 'हनेरे विच सुलगदी वर्णमाला' (1992), व 'बिरख अर्ज करें' (1992) काव्य संकलन प्रकाशित हुए हैं। गहरी मानवीय संवेदना को सौंदर्यबोधात्मक काव्य रूप में ढालने में पातर को महत्त्वपूर्ण सफलता मिली है।]

एक अहसास

इधर डूबता सूरज है
उधर झड़ते पत्ते हैं
इधर विह्वल नदी है
उधर सूना पथ है
मेरे चारों ओर ये
दर्पण क्यों लटका दिए।

एक नदी

एक नदी आई
ऋषि के पास
दिशा मांगने
उस नदी को ऋषि की
प्यास ने पी लिया।

दर्पण की शिखर दोपहर में

एक बदसूरत लड़की
सुलग रही दर्पण की शिखर दोपहर में
व्यर्थ ही ढूँढ रही
दर्पण के मरुस्थलों से दिल का कमल।

झील में फेंकी

झील में फेंकी तो पल में डूब गई भारी किताब
उसमें दर्ज थे भवसागर तैरने के सब हिसाब
धुएँ बिना ही बेचमक हो गए उस शोहदी के केश
डाल पर मुर्झा गया है उसके हिस्से का गुलाब
रेत पर बाबर का था रूहों पे उसका राज था
वह जो अक्सर कहता था छेड़ मरदाने रबाब
वे जो लफ़्ज़ों की खेती ही सदा करते रहे
उनके लिए दो लफ़्ज़ ही थे क्या था बाबर क्या रबाब
इसका हर वर्क जैसे बारी में आसमान है
यह ज़रा देखना छपी है मेरी ग़ज़लों की किताब।

लगी तेरे कलेजे पे

लगी तेरे कलेजे पे अभी छुरी नहीं
यह मत समझ कि शहर की हालत बुरी नहीं
बजता राग बसंत है गर रेडियो से रोज़
मतलब न समझ कि हवा खिजां की चली नहीं
कुछ लोग समझते हैं बस इतना ही राग को
सोने की है गर बाँसुरी तो बेसुरी नहीं
हर वक्त घुलती लगती हैं चाहे फिर भी
पानी में टिकी चाँद की आज तक घुली नहीं।

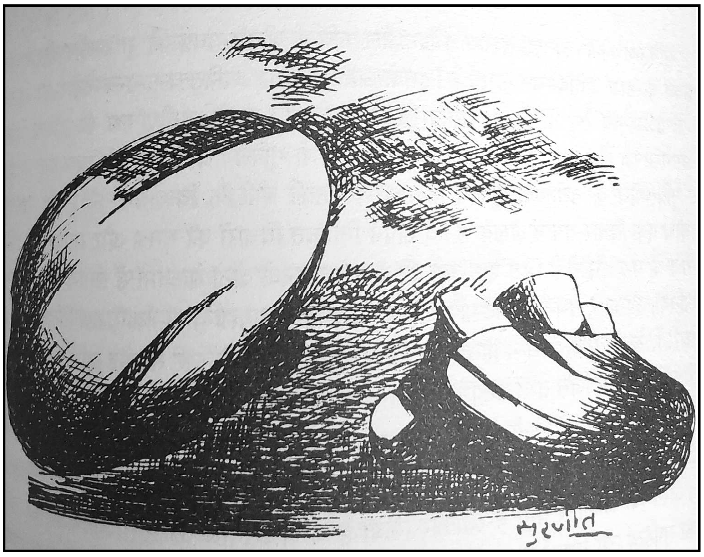

ना. मोगसाले की कविताएँ

❑ कन्नड़ से अनुवाद : डी.एन. श्रीनाथ

[ना. मोगसाले : कन्नड़ के प्रमुख कवि। सात कविता संग्रह, तेरह उपन्यास प्रकाशित। कर्नाटक साहित्य अकादमी पुरस्कार, बी.एच. श्रीधर पुरस्कार, कडनूगोडलू काव्य पुरस्कार आदि से सम्मानित।]

आँख

सारी दुनिया की विविधता को
अपने में प्रतिबिंबित करनेवाला सागर
है यह आँख!
पानी को पानी
फूल को फूल
आँख के सिवा और कहता है कौन?
इसलिए तो पानी है फूल है
खड़े हैं पहाड़
पैदा हुए हैं सागर
जिसे रखना है कहाँ कहाँ
रखकर वहाँ वहाँ
खुद जहाँ खड़ा होना है
वहाँ खड़े होकर

इस विश्व को
और कुछ माया से ढँकनेवाले
ढँकने के समान ही खोलनेवाले
प्रभु! तुम ही बने हो
खुद की आँख।

मैं करता हूँ प्यार

मैं करता हूँ प्यार आदमियों से
कि वे सिर्फ आदमी हैं
कभी कभी मुश्किल होता है
मुझे सभी को प्यार करना
कि आदमी आदमी नहीं हुए।

पालतू कुत्ते से भी प्यार है मेरा
न कि पूँछ झुका है
कि उसके नाक की नोक ठंडी है
गाय को भी पालता हूँ प्यार से
सिर्फ दूध के लिए नहीं
कि उसकी आँखों में मैं भरा हूँ।

बाघ से भी प्यार करना है मगर
कहाँ है घना जंगल?
जंगल से प्यार करनेवाले
बाघ की आँखों के लिए
यह धरती अब गंजी ही गंजी!

दीवार से प्यार करनेवाली
छिपकली को भी
मार डालने के इंतज़ार में है बिल्ली
कुएँ में जो पालतू मछती है
उसे ही डाल रहा है
नटखट बालक अंकडी!
मैं प्यार से संवारता हूँ
वाहनों को भी
कि क्यों आदमियों की तरह नहीं है।
गरमी में छाता, पाँवों में जूता
कितना प्यार करते हैं मुझे भी!

पृथ्वी से आसमान, आसमान से पक्षी
यक्ष यक्षणियों की भाँति प्यार करते हैं
मेघदूत का इंतज़ार करती गर्मी भी
अंधेरे के वक्त आँसू बहाती है।
दिन और रात प्रतीक्षा करते परस्पर
बिदा देते वक्त होते उदास
आप भी करते हैं प्यार आदमियों से
कि सच्चे दुखी हैं हम सदा!

वी. सी. कुलंदैस्वामी की कविताएँ

❑ तमिल से अनुवाद : श्रीवत्स और आशा कंवर

[डॉ. वी.सी. कुलंदैस्वामी (पेशे से इंजीनियर) तमिल में 'कोलोथुंगन' नाम से कविता-लेखन। 1988 में काव्य संग्रह 'वजुम वल्लुवम' पर तमिल साहित्य के लिए साहित्य अकादमी पुरस्कार। जलविज्ञान, जल इंजीनियरिंग के क्षेत्र में 'वर्षा-अपवाह' के इनके अध्ययनों को 'कुलंदैस्वामी मॉडल' के रूप में जाना जाता है।]

तूफान आए

तूफान आए और उड़ कर ले जाए
जड़ों से उखाड़ कर मृत पेड़ों को
बिजली गिरे और नंगा कर दे
विश्व पर शासन करते सारे पाखंड को
जागृति का सूरज निकलेगा
और फैलाएगा अपनी किरणें सब ओर
मानवता की सारी शक्ति फटे ज्वालामुखी की तरह
और हिंसा का नाश कर दे
सबकुछ पिघल जाए जिससे चिना जाए, गढ़ा जाए नया आधार
प्रासाद बने जो नया हो, विशाल हो, मजबूत और बड़ा हो।

बोझ न कम हो : कंधों में हो बल

वर दो मुझे बस एक
नतमस्तक हूँ प्रकृति माँ
न कोई संभ्रम, न कोई मेरे द्वंद्व है मन में
वर दो मुझे बस एक।
नहीं चाहता कम हो मेरे कंधों का यह बोझ
बल दो इतना बस हों कंधे मेरे और सबल
उठे हिमालय की चोटी चाहे जितनी ही ऊपर
बस पाँव में शक्ति इतनी मेरे भर दो तुम हे माँ
न थमे पर्वतारोहण पाँव रहें गति में निरंतर
वर दो मुझे बस एक।

नहीं चाहता मुक्त करो तुम मुझे दुखों से

नहीं माँगता दर्द रहित आए कोई आनंद
बस इतनी मुझ पर कृपा करो हे माँ
जब शांति लगे डराने मुझे सुलाने अपनेपन से
अमिट ज्वाला हो प्रज्ज्वलित प्रेरणा की मेरे मन में
वर दो मुझे बस एक।

कब तक! आखिर कब तक

कब तक इस धरती पर ये कष्ट रहेंगे!
कब तक हे भगवान! यह विश्व सहेगा!
थामे खाली पेट
भूख की पीड़ा से कराहते
धागे के बलों से मुड़ते
गिरते हैं, बेहोश होते
कब तक इस धरती पर ये कष्ट रहेंगे?
झुर्रियों की खाल से ढका हड्डियों का कंकाल
दो टांगें जैसे दो तिनके
जीवन जैसे तला जा रहा उबलते दर्द में ओ,
शरीर बस यातनाओं का बर्तन
कब तक हे भगवान! यह विश्व सहेगा?
मेरी आँखें जख्म बन जाती, जिनसे बहता है लहू देखकर
कमज़ोर, भूख की आग में बिलबिलाते बच्चों को
जो माँ के गर्भ से ही सीखकर आते हैं यातनाएँ सहना
न खाना मिलता है न परवरिश
कब तक इस धरती पर ये कष्ट रहेंगे?
अपार सम्पत्ति, तबाह करने के लिये भी बहुत
औ, प्रचंड गरीबी—सूख गये कटोरे
अनंत भीड़ खाली पेटों की
ओ, कुछ की हँसी, खिलखिलाहट
कब तक हे भगवान! यह विश्व सहेगा?
कुछ के प्रीतिभोज, कैसा घृणित नज़ारा
आँखें झुक जाती शर्म से
बीमारी, अभावों के शिकार होते शरीर
कुम्हलाते, नष्ट होते, सूखे पत्तों की तरह झरते
कब तक हे भगवान! यह विश्व सहेगा?

के. सच्चिदानंदन की मलयाली कविताएँ

❑ अनुवाद : गिरधर राठी तथा मंगलेश डबराल

माइकोव्स्की ने आत्महत्या कैसे की?

अंतिम पत्र में कवि ने
बहुत कम बताया है,
जो नहीं बताया वह उस से कहीं अधिक है :
क्रांति युवा थी।
एक दिन आए वे—
उसके अपने, बिल्कुल अपने ही साथी,
सर्द मौसमों में उसके
शब्द के और वोदका के साथी।

अब उसके ऊपर प्रकट होकर,
नौकरशाहों के प्रेम-प्रतिरोधी
इस्पाती कवच पहन,
उन्होंने उसे आदेश दिया :
'हमारे बाँधों के बारे में लिखो!'
उसने अपने बाँधों के बारे में लिखा
जनता के बाँधों के बारे में लिखा
उसने उन्हें एक स्तोत्र दिया
जिसमें उदारमना मानवीय श्रम की प्रशंसा थी।

उन्होंने उसे आदेश दिया :
'हमारे नेता के बारे में लिखो!'
उसने लेनिन के बारे में लिखा
जनता के लेनिन के बारे में लिखा
उसने उन्हें एक शोक-गीत दिया
जो उदात्त मानवीय प्रेम का गीत था
माँगें होती गई कठोरतर :
'हमारे ट्रैक्टरों के सौन्दर्य पर लिखो!
हमारे कंप्यूटरों की अतिमानवीय शक्ति पर लिखो!
घोड़ों के अहंकार और लिखो

हमारी पंचवर्षीय योजनाओं पर
पद्य में रिपोर्ताज!'

विनय और कविता को इस तरह
दंड दिया जाना ठीक नहीं होता।

उसने फेंक दिया अपना ड्रम
जो दूना नदी की लहरों में
गूँजते कॉकेशस पर्वत की तरह था।
उसने अपने पुराने तंबूरे की गर्द साफ की
जिसमें पुश्किन और येसेनिन की रक्ताक्त
उँगलियों की छाप थी।
फिर उसने उन्हें एक विलाप-गीत दिया
जो प्रेम के विगलन के बारे में था।
उसके बाद वह चुपचाप चलता हुआ
उस लेखन-कक्ष में आ गया, जहाँ
उसने चाय पी थी सूरज के साथ
और भरपूर आवाज़ में गीत गाया था।
फिर उसने अंधियाते मैदानों पर
खिड़की के पर्दे डाल दिए
और वह पिस्तौल तान दी अपनी कनपटी पर
जिसे उसने संजो कर रखा था अपने दुश्मन के लिए,
मानो वह खुद अब अपना ही शत्रु था।

फट पड़ा वह महत प्रेम
जिसने दी थी रूसी कविता को इस्पाती धमनियाँ,
रक्त में सन गया वह पार्टी-कार्ड
जो बाईस वर्षों से निष्ठा ढो हो रहा था,
खून से लथपथ हो गई कविता 'लेनिन',
वह निकला अधूरी पांडुलिपियों पर
कवि का अनभ्य रक्त।
यह एक चेतावनी थी उनको
जो साधन की क्रूरता में
भूल जाते हैं साध्य की करुणा।
यह एक अनामिका है जो लगातार
बढ़ते हुए अधिकार-प्रमाद के विरुद्ध
लम्बी होती चली जाती है...

एक अपशकुन उनके लिए, जो रखने जा रहे थे
साम्राज्यवाद में कदम... (1977)

मुझे मृतकों से बात करना आता है

मुझे मृतकों से / बात करना आता है
मरे हुए लोगों, वृक्षों, नदियों से।

कभी-कभी मैं अपने पूर्वजों से मिलता हूँ :
मेरी दादी उड़ती है कहावतों में,
मेरे दादा पार करते हैं पहेलियों के पुल,
कुछ झूला झूलते हैं श्लोकों में,
कुछ सवार रहते हैं शतरंज के मोहरों पर
कुछ रोपते हैं धान, गोल-गोल घेरों में खेलते,
कुछ तोड़ते हैं स्वर्ग के पान के पत्ते।
कभी कभी मैं अपने मित्रों से मिलता हूँ
कुछ भी नहीं बदला उन में,
सिवा इसके कि उनके शरीर काँच के हो गए हैं
और हम उनमें उनके हृदय देख सकते हैं,
हमारा यह सोचना गलत था
कि उनका धड़कना बंद हो चुका है—
वे धड़कते हैं हमारे दिलों से भी तेज़।
मृतक हमारी तरह नहीं रोते—
उनकी सिसकारियाँ रिमझिम-सी होती हैं,
ये हँसते हैं गिरते हुए पत्तों की तरह।
वे हम जीवितों से कुछ अलग नहीं हैं,
अलबत्ता कभी-कभी वे उड़ने लग जाते हैं।
हमारे जैसी ही हैं / उनकी लालसाएँ, निराशाएँ,
हमारे जैसी ही हैं आकांक्षा-उत्कंठाएँ
मृत्यु नहीं होती संशय का अवसान;
प्रश्नों के सामने वे भी हकलाते हैं।
खो चुके वे अपनी भाषा बहुत पहले।
उनका सूर्य पूर्व में उगता है / खोपड़ी जैसा,
जिस पर उगते हैं कुकुरमुत्ते।
जब मैं बैठा-बैठा खुद से बतियाता हूँ
तब दरअसल बातें करता हूँ मृतकों से,
तब भी, जब मैं तुम से बतियाता होता हूँ।
सूर्य अस्त हो चुका हमारी भाषा में। (1987)

भाषांतर : कहानी

रंगम पेटी

❑ जयंती पापाराव

तेलुगु से अनुवाद : सत्यनारायण राव

दादाजी का कर्मकांड समाप्त हुआ। कर्मकांड की समाप्ति के बाद रंगून की पेटी सबकी आँखों के सम्मुख चम-चम चमकती हुई, कलात्मक रूप से विराजमान थी। मन में अतीव उत्सुकता के बावजूद हर कोई उस पेटी के बारे में, मुँह खोलने से सकुचा रहा था। दादाजी के बारे में बातचीत करते हुए, सभी लोगों की दृष्टि बार-बार उस पेटी पर जा टिकती थी।

मेरे पिता सबके चेहरों का सूक्ष्मता से अध्ययन कर रहे थे। फिर कुछ देर निहार कर, अपने छोटे भाई की ओर उन्मुख हुए—"भाई! उस रंगम पेटी को खोलो।" उन्होंने चाबी का गुच्छा चाचाजी की ओर बढ़ा दिया। मेघों से आच्छादित आकाश में जिस तरह चन्द्रमा झाँक उठता है उसी तरह सबके चेहरे प्रसन्नता से दमक उठे थे।

दादाजी के एक मित्र "रंगून साहब" ने उस पेटी को हमें सौंपा था। वे हमारे ही गाँव के रहनेवाले थे। बर्मा में खूब पैसा मिलता है। यह कहकर उनके रिश्तेदार उसे अपने साथ रंगून ले गए थे। उनका शरीर बलिष्ठ था, अतः बड़े आराम से उन्हें आरा मशीन में काम मिल गया। चार वर्ष में वे गाँव एक बार अवश्य आते थे। खाकी निकर, लाल रंग की बनियान और रबर के जूते पहनकर बड़े ठाठ से घूमा करते। उनकी छोटी-सी दाढ़ी बड़ी मनमोहक थी। यदि कोई उनसे उनका नाम पूछता तो "रंगून साहब" कहकर ही अपना परिचय देते और जब काम का ज़िक्र करते तब वे अपने आपको आरा मशीन का मालिक बताते। गाँव के लोग यह जानकर उन्हें बड़ा आदर देते थे, क्योंकि वे अपनी मेहनत के बलबूते पर ही इतने बड़े आदमी बने थे।

जब भी वे गाँव आते तब दादाजी की छत्रछाया में ही रहते, क्योंकि दादाजी से उनकी बहुत पटती थी। ऐसे रंगून साहब ने जब सुना कि बर्मा में युद्ध छिड़ने वाला है तो घबराकर उस खूबसूरत पेटी के संग वह गाँव आ पहुँचे।

हमारे गाँव में उनकी तीन एकड़ भूमि थी, किंतु जब वे रंगून में थे तब आस-पड़ोस के ज़मीन मालिकों ने उनके खेत को कुतरते-कुतरते ढाई एकड़ में बदल दिया था। आरा मशीन लगाने के लिए रुपयों की आवश्यकता है कहकर, रंगून साहब ने अपनी ज़मीन बिना किसी दूसरे को बताये, अनेक लोगों के पास गिरवी रख दी। इस तरह उन्होंने दस वर्ष बिता दिए।

जब उनके पास फूटी कौड़ी भी न बची, तब से बड़ी मुश्किल में पड़ गए। एक-एक दिन बिताना मुश्किल हो रहा था। आरा मशीन लगानेवाला 'साहब' मज़दूरी तो नहीं कर सकता न? और तो और जो धोखाधड़ी की थी, उसके कारण भी उनकी जान सांसत में थी। उन्हें भय सताया करता था कि कहीं भी, कोई भी व्यक्ति, किसी भी क्षण उनको चाकू भोंक सकता है। इन्हीं मुश्किल भरे क्षणों में, एक दिन जब दादाजी गाँव से बाहर थे, तब उन्होंने

उस खूबसूरत रंगमपेटी को हमारे घर भिजवा दिया। गाँव के लोग कहते हैं कि उन्होंने दादाजी से इतना पैसा उधार लिया था जिसका कोई हिसाब नहीं था। अन्ततः उन्होंने आत्महत्या कर ली।

रंगम पेटी छह फुट लम्बी, तीन फुट चौड़ी और तीन फुट ऊँची थी। बाहर से वह एक ही पेटी दिखाई पड़ती थी, किंतु भीतर से दो पेटियाँ एक जोड़ी के रूप में स्थित थीं। पेटी के सामने उड़ते हुए पक्षी और आसमान जैसे वितान का कलात्मक अलंकरण था। भव्यता और सुंदरता में उसकी कोई मिसाल न थी। भीतर ही भीतर अनेक अलमारियों से युक्त यह कलाकृति सहसा मन को मोह लेती थी। "चोर अलमारी" इस तरह धंसी थी कि उसका पता केवल पेटी के मालिक को ही होता था। जिसमें आभूषण, रुपयों की गड्डियाँ और दस्तावेज आदि छिपाये जा सकते थे। उस पेटी का ढक्कन उठाने पर उसमें तीन आईने दिखाई पड़ते थे और उसकी बगल में पक्षियों के चित्र जो बर्मी शैली से नक्काशी किये गए थे, उफ... वह सचमुच अत्यंत सुंदर कलाकृति थी।

जब से पेटी हमारे घर आई, तब से हमारे घर की सुंदरता में चार चाँद लग गए थे और दूर-सुदूर गाँव के लोग उस पेटी के दर्शन करने आया करते थे। जिसने भी देखा, उसने उसकी भव्यता को सराहा और जिससे भी मिलता "रंगम पेटी" का बखान करता। उसकी विशालता, उसकी कलात्मकता की चर्चा लोग, मुक्त कंठ से किया करते थे। तब मेरा हृदय प्रफुल्लित हो उठता। इस प्रकार हमारा घर उस क्षेत्र में, लोगों के लिए प्रदर्शनशाला बना रहा।

काफी दिन बीत गए।

दादाजी के बारे में, गाँव के लोग बढ़-चढ़कर बातें किया करते थे, उनकी इज्ज़त किया करते थे। लोग कहा करते थे कि खेती-बाड़ी में उनका कोई जवाब नहीं, सोना पैदा होता है सोना। पशु सम्पदा तो गिनती नहीं बनती। सोना, चाँदी, नोटों की गड्डियाँ, सम्पत्ति के कागज़ातों को उस रंगम पेटी में रखकर, उस पर सोकर सर्पराज के मानिंद उसकी रक्षा किया करते। हज़ार लोगों की हज़ार बातें। रंगम पेटी अब स्वर्ण की पेटी बन चुकी थी। दादाजी हमेशा अपने में लीन रहते थे जिसके कारण, ये बातें उनके कानों तक नहीं पहुँचीं।

घर पर मेरे पिता की कोई खास भूमिका नहीं थी, क्योंकि सारा काम-काज, सारी खेती-बाड़ी दादाजी की देख-रेख में होती थी। पिता को इससे कुछ लेना-देना नहीं था। यहाँ तक कि दादाजी ने क्या कुछ जमा कर रखा है? क्या कुछ छिपा रखा है, उन्हें कुछ पता नहीं। पिताजी को शहर में अच्छी नौकरी मिली, किंतु दादाजी की इच्छा उन्हें भेजने की न थी। अतः वे रुक गए और गाँव में ही शिक्षक बनकर, गाँव के बच्चों को पढ़ाने लगे। वे बड़े आज्ञाकारी थे और दादाजी का बताया हुआ हर कार्य बड़ी लग्न से कर दिया करते। इस प्रकार बिना किसी चिंता के उनका जीवन अपनी गति से बीत रहा था।

मेरे चाचा अच्छी नौकरी पाकर शहर चल दिये थे तथा साल में एक-दो बार आते और मौज करते हुए, कुछ दिन बिताया करते थे।

रंगम पेटी के बारे में लोगों की धारणाओं को सुनकर अब वे अक्सर आने लगे थे। लेकिन रंगमपेटी में आखिर क्या कुछ संजोया गया है—यह पूछने की उनकी हिम्मत न थी।

चाचाजी ने चाबियों का गुच्छा हाथ में लेकर, दादाजी की आत्मा को मन ही मन प्रणाम किया। खुशी के मारे उनके हाथ काँप रहे थे। उन काँपते हाथों से उन्होंने रंगम पेटी

को खोला। पेटी में सामने की ओर लगे छोटे-छोटे आईनों मे मेरी चाचियाँ अपना-अपना मुँह देखकर ललक रही थीं और अपने चेहरे पर छाई आतुरता को दबाने का असफल प्रयत्न कर रही थीं।

उत्तरीय और धोतियों के ऊपर, दादाजी का पत्र जो कि हरडे की स्याही से लिखा था। उस पत्र को उठाकर चाचाजी ने पढ़ा—मेरी सुशील और सुगृहिणी बड़ी बहू को, तुम्हारी माँ द्वारा संभालकर रखी रेशम की साड़ी दे दी जाए। छोटी बहुओं को मेरा आशीर्वाद। यह सुनकर चाचियों का चेहरा उतर गया। उसके बाद दूसरा कागज मिला। जिसमें लिखा था—"वर्षा नहीं हो रही है। फसल नहीं पकी। इस बार तो लागत भी वसूल नहीं हुई। बड़ा बेकन्ना से तीन सौ रुपये उधार लिए थे, उन्हें चुका देना।"

उधार के अन्य कागज़ निकलेंगे यह सोचकर सब लोगों के दिल धड़क रहे थे। लेकिन रंगम पेटी की चोर अलमारी में सोने के आभूषण, माल-असबाब के कागज़ात अवश्य मिलेंगे। इस आशा के भाव, सबके मुख पर ऐसे चमक रहे थे, जैसे अँधेरी रात में नक्षत्र।

"चोर अलमारी" से छोटे से बंडल को निकाला गया। वे कागज़ बाँड पेपरों की भांति मोटे थे। चाचा ने उन कागज़ों को मन ही मन पढ़ा। यह देखकर सब लोग खुशी से चहकने लगे थे और उन कागज़ात को पढ़कर सुनाने की याचना करने लगे। चाचाजी सब लोगों की ओर देख-देखकर ऐसे उछल रहे थे जैसे उनके हाथ कुबेर का धन लग गया हो। उनकी इस हरकत को देखकर चाचियाँ आग बबूला हुई जा रही थीं। उन्होंने पढ़ना आरम्भ किया।

"बंधुओ। धन के मद से या जातिभेद के अहंकार से यदि तुम्हें कोई एक वचन से बुलाये तो, तुम भी उसे एक वचन में ही सम्बोधित करना। यदि शब्द के अंत में 'रे' का प्रयोग करे तो तुम भी वैसा ही करना। धन की शक्ति और उच्च कुल का अहंकार यदि तुम्हें छोटा बनाने का यत्न करे तब तुम यह अधिकार उन्हें कभी न देना। ऐसे वर्चस्व के लिए उसके उन्मूलन के लिए—मेहनत और संघर्ष के साथ प्रतिरोध के नये-नये तरीके ईजाद करना और उस चुनौती का सामना करना।

"अरे मित्र! सम्बोधित करने के लिए तू, तुम, आप जैसे अनेक शब्द प्रचलित हैं। इन शब्दों को भूलकर एक नये शब्द का आविष्कार करना जिसमें समानता और अपनत्व की भावना हो। सम्बोधित करने के लिए हमारे समाज में यदि धन-दौलत की 'बू' आती हो तो ऐसी भाषा को सुधारने के लिए जमकर संघर्ष करना।"

"बस-बस अब शांत हो जाओ।" हमारी चाचियों ने गगनभेदी निनाद किया। मेरी दृष्टि चारों ओर घूम रही थी। जिस चेहरे पर भी मेरी नज़र जाती, उस चेहरे का रंग उड़ा हुआ पाता।

सोने के आभूषण, रुपयों की गड्डियाँ, ज़मीन जायदाद जैसी भरी होंगी—ऐसे चेहरे जो कि आशा से भरे थे। वे अब कुम्हला गए थे।

जग-मग, चम-चम चमकती, कला और नक्काशी से विभूषित-कितने ही वर्षों से, कितनों को आकर्षित करती हुई रंगम पेटी अब शव पेटिका का रूप धारण कर चुकी थी।

आज भी दादाजी की रेखांकित वे पंक्तियाँ मेरे मन में हिलोरें लेती हैं।

कहानी किसान की

❑ उत्पलेन्दु चक्रवर्ती

बांग्ला से अनुवाद : नरेन

वह 1972 के नवम्बर के अंतिम दिन थे, अर्थात् अगहन के शुरुआत के दिन। मैं अपने मित्र से ज़िद करके ही सात दिनों के लिए गाँव गया। देवहार एवं संथाल परगना को दक्षिण दिशा में छोड़कर वीरभूम के सख़्त, रूखे, लाल माटी के रास्ते पर बढ़ता हुआ मैं ज़रा भीतरी गाँव की ओर ही चला गया था। टिका मैं अपने सहकर्मी शिक्षक भट्टाचार्य के द्वार पर। इस आदमी के साथ मेरी कोई खास अंतरंगता नहीं थी, लेकिन एक सहकर्मी होने के नाते वे हम जैसे शहरी बुद्धिजीवियों को प्रायः ही अपने गाँव जाने का आमंत्रण देते रहते थे। औपचारिक हँसी हँसते हुए इतने दिनों तक उनके प्रस्ताव पर कोई खास ध्यान मैंने नहीं दिया था, लेकिन अपने बचपन के साथी अपूर्व के साथ चुनौतीपूर्ण बातचीत हो जाने के कारण मुझे अंततः गिरते-पड़ते अधीर बाबू के गाँव के मकान में जाकर टिक ही जाना पड़ा। कई पीढ़ियों से वे उसी गाँव में रह रहे हैं। जो भी हो, मुझे देखकर अधीर बाबू आनन्द से हक्के-बक्के हो गए। घर के प्राणियों में कुल चार जीव—पिता, दादी, पत्नी एवं बिटिया ही थी, लेकिन मुझे देखते ही सबको अकारण ही चीख-पुकार करके जमा कर लिया। वृद्ध पिता जिस प्रकार अपना सिर कंपकंपाते हुए आकर सामने बैठे, उसे देखकर लगा, मानों अचानक वे शारीरिक रूप से अस्वस्थ हो जाएँ, तो उसके लिए मैं ही जिम्मेवार होऊँगा। फिर भी उन्होंने मुझे छोड़ा नहीं। मुझसे ढेरों किस्म के सवाल करते रहे, दंतहीन मसूड़ों का घर्षण करते हुए एवं जीभ से अपने तालू पर आघात करते हुए। एक विचित्र-सी हिसहिसाती हुई आवाज़ निकल रही थी उनकी। घर के भीतर से कोई लंबी घूंघट खींचे हुए ताक लगाकर निहार रही थी। आस-पास के घरों के लोग भी ताक-झाँक कर रहे थे। मैं क्या खाऊँगा; इस बात को लेकर भी अधीर बाबू खूब परेशान हो रहे थे। मैंने उनको रोकते हुए कहा था—"सुनिए भाई साहब! मैं यहाँ आमंत्रित होकर पूआ-पकवान खाने नहीं आया हूँ। मैं एक आदर्श के खातिर आया हूँ। सचमुच एक चुनौती के तहत आया हूँ।"

उन्होंने अपनी आँखें फैलाकर नासमझ की तरह मुझे देखते हुए सवाल किया—"मतलब? यह क्या भाई साहब! आप रहेंगे नहीं?"

"अरे हाँ! हाँ! रहूँगा क्यों नहीं। लेकिन गाँव के कुछ गरीब किसानों एवं रोज़ खेतों में मज़दूरी करने वाले कुछ लोगों से मेरी बातचीत करा दीजिएगा।"

"क्या बात है भाई साहब! कहीं नक्सल-वक्सल जैसा कुछ...।"

"अरे नहीं, नहीं भाई साहब...।"

मुँह की बात छीन कर ज़ोरों से हँसते हुए मैंने अधीर के संदिग्ध मन को ज़रा-सा हल्का करने के लिहाज़ से कहा, "उन लोगों को मैं अपनी कहानियाँ सुनाऊँगा।"

"ओ...हो!" इस बार वे मुझसे भी दुगने ज़ोर से हँस पड़े। इसकी ज़रूरत थी या नहीं, मुझे नहीं मालूम। उन्होंने मुझसे पूछा—"तो भाई साहब! ऐसी अनोखी इच्छा क्यों पैदा हुई?"

मैंने खुलकर उनके लक्ष्य को बताया—"मेरे बचपन के मित्र अपूर्व ने मुझे चुनौती दी है। उस दिन उसने मेरे घर आकर मेरे साथ खूब तर्क किया था। उसकी धारणा है कि मैंने किसानों एवं मज़दूरों को लेकर जो उपन्यास एवं कहानियाँ लिखकर सुख्याति प्राप्त की है, वे सारी शहरी बाबू लोगों को भले ही भाएँगी, उनके पास यह सब पढ़ने का समय भी होगा—लेकिन जिनके बारे में यह सब लिखा गया है, उनके पास यह सब पढ़ने का समय नहीं है। वे लोग इसको सुनेंगे भी नहीं। क्योंकि मेरी रचनाओं में उनकी भाषा नहीं है, उनका ज्ञान नहीं है। उनका खून-आँसू-सपना; कुछ भी नहीं है। लेकिन मैं भी अड़ा हुआ हूँ, क्योंकि सच्चाई की वजह से ही मैंने प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में एवं सरकारी दलाली के खाते में अपना नाम नहीं लिखाया है—इसीलिए आया हूँ—परीक्षा करने के लिए। कम-से-कम इस बात को प्रमाणित करना चाहता हूँ कि नामधारी प्रगतिशील न होने के बावजूद निम्नवर्गीय लोगों की भाषा को ज़ुबान दी जा सकती है—अगर अपनी कलम एवं आदर्शों के प्रति मन में गहरी निष्ठा हो। आपका क्या ख्याल है?"

"हाँ, हाँ, कोई असुविधा नहीं होगी। मेरे ही खेतों में काम करने वाले रोज़ाना कमाने-खाने वाले मज़दूर तो बीच-बीच में यहाँ आते रहते हैं। हो सकता है, कल-परसों ही आ जाएँ। एक बार यदि मैं उन्हें धमका दूँ तो उनके चौदह पुरखे भी आपकी कहानी को पढ़ने के लिए बाध्य हो जाएँगे। घबरा क्यों रहे हैं?"

यह बात सुनकर सचमुच मैं और भी अधिक घबरा गया। किसको मैंने क्या सुना दिया भला? यह तो साहित्य की सींग-पूँछ भी तनिक नहीं समझता है। स्कूल के बुनियादी भूगोल एवं बीज गणित की प्रश्नावलियों के संसार के सिवाय जो व्यक्ति कुछ जानने की चेष्टा न करे, उसके सामने इस प्रकार बकबका कर मैंने क्या ठीक किया है? फिर भी आसन्न विपत्ति से बचने के लिए झटपट मैंने उन्हें रोकते हुए कहा—"नहीं-नहीं भाई साहब! वैसा मत कीजिएगा आप! तब तो वे लोग मेरी कहानी के बारे में खुलकर अपनी राय दे पाने से हिचक जाएँगे। बल्कि 'बाबू' कह कर ऊपर ही ऊपर खुश करने के लिए झमेले से मुक्त होने की तरह कोई भी राय ज़ाहिर कर देंगे। इसलिए मैं खुद उन लोगों से बतिया लूँगा। दया करके आप उन लोगों पर कोई विशेष दबाव नहीं डालेंगे।"

"ठीक है, ठीक है। देख रहा हूँ कि खूब पगला गए हैं आप तो...," तनिक-सा हँसकर यह कहते हुए अधीर बाबू लालटेन लाने के लिए भीतर चले गए।

अब तक एकदम मौन धारण किए अधीर के वृद्ध पिता ने मुझसे सवाल किया—"अच्छा बेटा! लिखकर कितना कमा लेते हो भला तुम?"

मैं कोई जवाब न ढूँढ सका। अधीर बाबू लालटेन ले आये थे। वे हाथ-पाँव धोने के लिए घर के पिछवाड़े की ओर ले गए मुझे एवं बूढ़े से मेरा पीछा छुड़ा दिया अनायास ही।

इसके बाद सुबह हुई। अधीर बाबू ने धूप में लालमाटी की पगडंडियों पर चलने से मुझे बार-बार मना किया था। क्योंकि हज़ार हो, मैं शहर का शिक्षित व्यक्ति था। हो सकता है धूप का तेज़ न सह सकूँ एवं मुझे लू-वू लग जाए, शायद इसी बात की आशंका थी उन्हें। लेकिन मैं निकल पड़ा। किसी भी शहरी लेखक को गाँव का आकर्षण अपनी ओर तेज़ी से

खींचता है, क्योंकि गाँव का तो अर्थ ही हुआ उसके लिए—एक अनजाना, अनचिह्ना देश ...एक रहस्यमय परिवेश।

जिस अंचल की पगडंडी पर मैं बढ़ता चला जा रहा था, वह वीरभूम का दक्षिणी अंचल था। सीधे बढ़ते चले जाने से मयूराक्षी नदी मिल जाएगी। नवाबी ज़माने में सुना है कि यह सारा अंचल आबादीहीन जंगल था। अंग्रेज़ों की दीवानी पाने के बाद चिरस्थायी बन्दोबस्ती के समय से ही सुना है जंगलों को काटकर खेती लायक ज़मीन तैयार होती रही। बाद में, सुना है कि इस अंचल में भी संथाल विद्रोह के मांदल बज उठे थे। मोटामोटी इतना इतिहास मैंने इतिहास की पुस्तकों से पढ़ रखा था। जो भी हो, यहाँ के अधिकांश बाशिंदे संथाल किसान थे। इसका आभास 20 गज तक चलते ही मुझे हो गया था। बहुत दूर तक चलते रहने पर भी मुझे छोटे-छोटे खपरैलों के ही मकान दीखते रहे। छोटे-छोटे गाँव मानों तेज़ी-से पीछे छूटते चले गए दोनों ओर। दस-बीस गाँवों के हज़ार फूस-खपरैल के झोंपड़ों के बीच हठात् एकाध कोठा अपना सिर उठाए मिल जाता। उसमें रहनेवाले बाबू लोग प्रायः हिन्दू ही थे। उनकी संपति के जलवे से परिचित होना एक दिन में संभव न था। उनके पारंपरिक नवाबीपना से अच्छी तरह परिचित होने का मौका भी मुझे ठीक से नहीं मिला।

खेतों में आबनूसी रंगत वाले मज़दूर काम करते हुए दीख रहे थे कभी-कभी। लेकिन कुल मिलाकर खेतों के सीने बेहद निर्जन लग रहे थे। धान के पौधों के सिरों पर सोने की रंगत वाली बालियाँ झूम रही थीं। धूप में वे तपे हुए सोने की चमक छोड़ रहीं थी, जब हवा के झोंके से खेत में लहरों के सैलाब से उमड़-उमड़ रहे थे। किसान अधिकांशतः धान की जड़ों के पास से खर-पतवार निकाल रहे थे। झुके हुए वे लोग धान के पौधों के बीच इस प्रकार छुपे हुए रहते थे कि सहसा दिखाई ही नहीं पड़ते थे। लगभग तीन हाथ लम्बे धान के पौधों के बीच वे झुके हुए या उकड़ूँ बैठे टपाटप खर-पतवारों को उखाड़ते चले जा रहे थे। लम्बे सन्नाटे के बाद अचानक दो-एक बार बातें करने की आवाज़ सुनाई पड़ जाती, एवं उसी के साथ-साथ हिलते धान के पौधे नज़रों को आकर्षित कर लिया करते। और ठीक इन्हीं क्षणों में निगाहें पड़ती सख्त, चौड़े, भीगे काले तराशे हुए पत्थरों की तरह कई पीठों पर जो दो-एक कदम आगे बढ़ जाती।

बहुत दूर काम में व्यस्त किसानों का जमावड़ा दीख रहा था। वे क्या कर रहे थे यह इतनी दूर से समझ नहीं पा रहा था। मेरा उत्साह भी कमता चला जा रहा था। अधीर बाबू ने ठीक ही कहा था। लगभग एक मील तक लाल, रूखी मिट्टी की पगडंडी पर चिलचिलाती धूप में चलते रहने से मेरे सिर की शिराएँ टिप-टिप करने लगी थीं। आँख, मुँह जलने लगा था। जाड़े के इस धन-कटनी के समय भी मुझे लग रहा था मानो सूखे का ताप झेल रहा हूँ। कितने समय से प्यासा हूँ। मेरा पहना हुआ पंजाबी पायजामा लाल माटी के गर्दो-गुबार से लिथड़ कर शहरी जीवन को व्यंग्यपूर्ण कर दिया था। आसपास छोटी-मोटी दो-एक झाड़ियों के अलावा कोई छायादार पेड़ भी नहीं देख पा रहा था ताकि थोड़ी देर तक सुस्ता सकूँ। गिरता-पड़ता लौट पड़ा अधीर बाबू के घर की ओर। समस्त लम्बे रास्ते-भर मेरे थके मन में मात्र एक प्रश्न चुभता रहा—अपनी कहानियों को तो ले आया हूँ, लेकिन यहाँ के अधिकांश किसान ही तो संथाल आदिवासी हैं। मेरी बांग्ला कहानियों को समझ पाएँगे तो?

अधीर बाबू के घर में पाँव रखते ही वे हो-हल्ला मचाने लग गए—"अरे जनाब, हिरणों

की तरह कहाँ चौकड़ी भर रहे थे? यह देखिए! आपका एक पाठक आकर बैठा हुआ है।"

मैंने देखा, बरामदे की सबसे निचली सीढ़ी पर एक अधेड़ उम्र का मजूरा किस्म का आदमी बैठा हुआ है। वह अपने दोनों घुटनों पर अपने दोनों हाथ रखे चेचक के प्रकोप से ऊबड़-खाबड़ हो गए अपने चेहरे को उठाए मेरी ओर कौतूहल भरी निगाहों से देखता रहा। देह की रंगत आबनूसी लेकिन चमकदार आबनूसी। उसकी निगाहें गंभीर थीं...गंभीर आदमी दीख रहा था वह।

उसे देखकर मुझे लगा मानों सात राजाओं का खज़ाना मुझे मिल गया हो। आशा से मेरा सीना लबालब भर उठा। मैं उसके सामने आकर बैठा एवं ज़रा-सा हँसते हुए मैंने उससे पूछा—"क्या नाम है जी तुम्हारा?"

"चुनार लायक।" गंभीर आवाज़ गले की।

मैंने और अधिक प्रतीक्षा न करके झटपट अपने प्रस्ताव को उसके सामने रख डाला—"अच्छा, तो चुनार भाई! मेरी एक बात रखोगे?"

"घर छवाना है का?"

"नहीं भाई!"

"बजार जाए पड़ेगा न का?"

"नहीं भाई! वह सबकुछ भी नहीं करना पड़ेगा।"

"तब?" वह कौतूहल भरी निगाहों से एक बार अधीर बाबू को ताक कर मुझ पर अपनी निगाहें टिका दी।

"मैंने तुम लोग जैसे किसान भाइयों को लेकर एक कहानी लिखी है। सुनोगे?"

उसके चेहरे पर विस्मय छा गया। एक बार फिर अधीर बाबू को देखा, फिर मेरी ओर मुँह घुमाकर अपने गहरे काले, चेचक के दागों वाली बड़ी नाक के नीचे वाले अपने होठों को ज़रा-सा फैलाते हुए बेआवाज़ हँस पड़ा। उस हँसी का क्या अर्थ था, यह आज तक भी नहीं समझ पाया हूँ—उसमें दर्द था, या व्यंग्य, यह कहना मुश्किल है। जो भी हो, मैं उसकी हँसी देखकर आश्वस्त हुआ। उसने अपनी जांघ पर रेंगती एक काली चींटी को चुटकी से पकड़कर उसे मसलते हुए कहा—'बाबू! अभी तो हमको ढेर काम है। साँझ को हम आएँगे।"

"ठीक है, ठीक है; तुम्हारी जब इच्छा हो, आओ। ला सको, तो अपने दूसरे साथियों को भी साथ में ले आना।" मैं प्रबल उत्साह एवं आशा से भरकर उसको समझाता रहा—"देखो! तुम लोगों को लेकर कहानियाँ लिखी हैं। तुम लोगों को ही अगर वे सारी कहानियाँ न सुना सका तो दरकार क्या है ऐसी कहानियों की भला?"

"ई ठो तो ठीकई बात है...।" इसके बाद शाम का अंधेरा उतरा।

कहानी की पांडुलिपि को अधीरतापूर्वक अपने हाथों में थामे हुए लालटेन की रोशनी में चटाई पर बैठे-बैठे मैं मच्छरों को भगाता रहा। अधीर बाबू किसी कार्यवश कस्बे में गए हुए थे। आते-आते उनको रात हो जाएगी। घड़ी देखने से पता चलता है कि ऐसी कोई खास रात नहीं हुई है। लेकिन दिन-भर की हाड़-तोड़ मेहनत से उत्पन्न थकान, सियारों की हुआँ-हुआँ, गाँव के सिर पर तैरते धुआँसे से झूलती गाँववालों की टुकड़े-टुकड़े बातचीत ने कुल मिलाकर गाँव के सीने पर रात की निर्जनता को खींच लाया था। लेकिन मेरी कहानी का पाठक चुनार लायक नहीं आया। मुझे उसके लिए अधीरता से प्रतीक्षा करते हुए देखकर अधीर बाबू तनिक

नाराज़ होते हुए बोल पड़े—"ये लोग आएँगे शाम के समय कहानी सुनने? जाकर देखिए, दारू-वारू पीकर कहीं लुढ़का होगा।"

मैंने स्थिति को दूसरी ओर लुढ़कने नहीं दिया, उन्हें बीच में ही रोकते हुए बोल पड़ा—"अरे भाई! उससे क्या हुआ? हो सकता है किसी काम में फंस गया होगा। कल-परसों आएगा ही।"

दूसरे दिन वह फिर आया। मैंने मधुर ढंग से हँसते हुए उससे पूछा—"क्यों जी चुनार बाबू! कल आए नहीं?"

अपनी दो उंगलियों से सिर खुजलाते हुए भारी स्वर में उसने जवाब दिया—"तिरलोचन बाबू कौने दिन किसी को मोहलत देते हैं? भिनसारे से संझिया तक खाली काम-काम और काम। भोर में उनका गाय चराते हैं, खेत में से खर-पतवार चुनते हैं, कुंइयाँ में से पानी भरते हैं, हाट-बजार करते हैं, मछली का चोईयाँ छोड़ाते हैं, तीन कोस जाके गेहूँ पिसा लाते हैं, भट्ठी पर जाना पड़ता है, बाबू साहेब के खातिर दारू लाने के वास्ते। इसके बाद बाबू साहेब बाहर निकलते हैं, तो उनके माथे पर छाता ताने पीछे-पीछे चलना भी पड़ता है। पिटारी-पोटली भी ढोना पड़ता है। समय-समय पर उनको पंखा भी झलना पड़ता है हमको। उनका हाथ-गोड़ दबाना पड़ता है। ज़रा बताइए तो, हमको टेम कब मिलता है भला?"

उसके कामों की फेहरिस्त सुनकर सचमुच में अचकचा गया। मन ही मन सोचने लगा था—एक अकेले आदमी से क्या इतना काम कराया जाता है? यह संभव कैसे है? मेरी कहानी पढ़ाने का काम थोड़ी देर तक रुक गया। बहुत देर तक मैं उसके सामने कलवाले रखे प्रस्ताव को दुहरा न सका। एक अजीब-सी लाज लग रही थी। मैंने दूसरा प्रसंग छेड़ दिया—"तो यहाँ क्या आज कोई काम है?"

"बाबूजी के पास से पैसा पाते हैं। खेती-बारी के समय का पैसा अभियौ बाकिए है—समझे बाबूजी आदमी के तकदीर की बलिहारी...।"

मैं चुपचाप बैठा रहा। अधीर बाबू पर भयानक गुस्सा आया। वह भी थोड़ी देर तक बैठे रहने के बाद अचानक उठ खड़ा हुआ एवं मेरी ओर देखते हुए तनिक विनय भरी हँसी हँसते हुए अपने आप ही वादा किया—"कल संझौकी के बेरा आएँगे बाबुजी।"

इसके बाद कनकनाती ठंडक से काँपती कुहासों में लिपटी और एक शाम आई। लेकिन चुनार लायक नहीं आया। आया दूसरे दिन सुबह में। इस दौरान मेरा उत्साह काफी हद तक ठंडा पड़ गया था। फिर भी मैंने उससे हँसते हुए पूछा—"क्यों भाई! कल क्या हो गया था? आए नहीं तुम?"

"तकदीर में फुरसत नंय है, मेहरारू दस दुआरी पर गोहार लगा के भी काम नंय पा सकी थी, हमको भी नंय मिला था कुच्छो करने के खातिर। सतीश पंडीजी के घर गिए फिर। चार पाई (अनाज नापने का छोटा-सा धातुई पात्र) चावल मांगे, त उ बोले—"देंगे, लेकिन उधार नंय। पिछले दिन आंधी आने से गौशाला पर जो ढह गया है, उसकी मरम्मत कर दोगे तब! फुरसत नंय है बाबू। ऐही देखिए न, अधीर बाबू आजो पैसा नंय दिए—उधर तिरलोचन बाबू भी घर में नंय है बाबू। ऐही देखिए न अधीर बाबू आजो पैसा नंय दिए—उधर तिरलोचन बाबू भी घर में नंय हैं दू रोज से—उनकी घरवाली पइसा देवे नंय करेगी—जब तक मालिक नंय लौट आवें। इधर घर में एक्को दाना चावल नंय है। भुक्खल पेट दिन जाता है। कौन सुनता है ई सब कहानी?"

मैंने ज़रा-सा प्रतिवाद भरे लहजे में कहा—"पर चुनार भाई। तुम भी अपना मुँह सीकर मालिक की फरमाईश पर इस तरह क्यों खटते हो भला? कह नहीं सकते—मेरा जितना काम है, बस उतना ही करूँगा। उससे फालतू एकदम नहीं करूँगा कुछ भी...।"

"हिंए पर तो गंडोगोल है बाबूजी! हमारा बाप सब रस्ता बंद करके गिया है। उ समय में एक रुपईया उधार लेवे से एक आदमी जनम भर के लिए बिका जाता था। एक रुपिया का एक महीना का सूद रुपिया। सूखा से फसल मर जाए। बाकी बाढ़ में बह जाए। कुछ बीघा ज़मीन और घर-दुआर की रक्षा खातिर बाप लिहिस था तीस रुपिया कर्जा मतलब महीना गुज़रते ही तीस रुपिया का सूद तीस रुपिया। कुल मिला के केतना पैसा हुआ जी? पढ़ना-लिखना तो सीखे नंय है। बाप भी अनपढ़े था। हो गिया करजा के कारण बाबू साहेब का खरीदा गुलाम। सूद को चुकाने के खातिर आज भी हम लोगन खट-खट के मर रहे। कोई नगदा मजूरी नंय पेट भर मोटा-सोटा अनाज पर काम करे पड़ता। उ भी खाली हमको ही मिलता—बेटा मेहरारू बाद! बाप एक बार भागने की कोशिश किया था, इसके खातिर कचहरी से नोटिश ला के उसको पकड़ के जेहल में डाल दिया था। बाबू, हम लोगन का जिनगी...।"

मैं उसको ध्यानपूर्वक देख रहा था। अपनी बात बोलते-बोलते वह अचानक थम गया। उसने अपनी निगाहें सामने टिका दीं। अपनी देह से एक टुकड़ा कपड़ा चिपकाए वह बोलता जा रहा था। काफी ठंडी सुबह थी वह। जंगल के अँधेरे की तरह उसके चेहरे पर पूस का एक टुकड़ा धूप चिकचिका रहा था। उसकी बातें सुनकर मुझे लग रहा था—एक आदमी इतने आघात-प्रतिघात को सहकर भी इतने धीरज से स्थिरतापूर्वक अपनी बात कैसे कह पा सकता है? या कि मेरे सामने अधीर बाबू के घर के बरामदे में बैठकर उत्तेजित हो उठने से स्वयं को बचा रहा है वह? पल भर में ही वह उठकर बाहर चला गया। इसके बाद देखा; वह फिर लौटकर आ रहा है। उसके लौटने की भंगिमा देखकर लगा कि वह अधीर बाबू को घेरकर लिए आ रहा है। लगता है वह आज कोई फैसला करके ही रहेगा।

मैं कुछ देर तक स्तब्ध ही रहा। अपने घर से थोड़ी दूरी पर खड़े अधीर बाबू बीच-बीच में मेरी ओर देख लेते थे एवं उसे कुछ समझाने की कोशिश कर रहे थे। पीछे की तरफ बोरों धान की कटी हुई खूंटियाँ दाँत चियारे पड़ी थी खेतों में। अपने हाथ नचाते हुए मज़ेदार लहजे में चुनार लायक, अधीर बाबू को कुछ समझाने की चेष्टा कर रहा था। आवाज़ सुनाई दे रही थी, लेकिन कुछ समझ में नहीं आ रहा था। इसके बाद क्या हुआ, मुझे नहीं मालूम। सिर्फ यह जान सका कि वह दो रोज़ बाद आएगा।

हाँ, यथा रीति वह फिर आया, बरामदे की निचली सीढ़ी पर बैठा। अंततः उसको इस भंगिमा के साथ अपने सप्ताह-भर के अभियान में प्रायः कई दिन पाया। लेकिन आज धन-कटनी के लिए उसकी बुलाहट है, तो कल वह धन पीटने में व्यस्त है, उसके बाद वाले दिन दोनों पति-पत्नी बाबू साहब के घर एक संग धान कूटते रहे। काफी रात गए घर लौटे। उसके बाद वाले दिन फुटकर कर्जों के एवज़ में वह किसी के जानवरों को चराता रहा; ऐसे काम के पहाड़ तले दबा चुनार लायक किसी भी दिन मेरी कहानी सुनने की फुर्सत नहीं निकाल पाया। वह आना चाहकर भी न आ पाता। यही सब सोच-सोचकर मेरा मन हताश हो चला था। अचानक अंतिम रात को निर्जन गाँव के सीने पर मेरे मन में एक प्रश्न कौंध उठा—कुछ रोज़ आगे तक, शायद आज भी—दलों में छात्र लोग आ-आकर गाँव के सीने पर

चुनार लायकों के घरों में दिन गुज़ार गए हैं। आज भी कई लोग हैं इन लोगों के आस-पास, इनके घरों में, जिनको लेकर सरकार की दुश्चिंता की सीमा नहीं है। लेकिन इन लोगों से बातें करने का समय वे शहरी छात्र किस प्रकार पाएँ? याद आ रही थी अधीर बाबू की कुत्सित टिप्पणी एवं अवहेलित सांत्वना—"अरे भाई साहब! ये लोग उन सारी अच्छी चीज़ों की कदर नहीं जान सकेंगे। कहावत भी है न। किसान क्या जाने नफासत का हाल? जाईए—आप जाकर कहिए—नक्सल पंथी बनेंगे, ज़मींदारों के सिर काटेंगे, ज़मीन छीनेंगे, लूटपाट करेंगे—आप देखिएगा—आनन्द से वे लोग मोर की तरह पंख फैलाकर नाचने लगेंगे।"

मेरी निगाहों के सामने सारी स्थिति आइने की तरह साफ हो गई। मुझे काफी लाज लग रही थी। मेरा लज्जा-बोध मुझे आत्म-विश्लेषण के लिए उकसा रहा था।

अगले दिन अपने कंधे में थैला लटकाकर निकल पड़ा—स्टेशन की दिशा में सुबह ही सुबह। सुन रखा था पूरब की ओर ताल पोखरे के समीप ही चुनार लायक का घर है। मैं उसकी ओर ज़रा-सा मुड़ गया। मुझे फिर भी लाज लग रही थी। हो सकता है कि वह मुझे किसी विपत्ति के रूप में ग्रहण करे—दस-पाँच लोगों को कहे कि हम लोग तो बिन खाए मर रहे हैं, और तुमको अपनी कहानी सूझ रही है। ज़रा-सा संकोच कर रहा था। अचानक राह में इसी गाँव के एक किसान से मुलाकात होते ही उससे सवाल कर बैठा—"अच्छा चुनार लायक का घर कौन-सा है?"

"ई बायीं ओर तीन ठो घर छोड़कर...।"

"घर में है क्या?"

"नहीं, एकदम भोर में ही बहरा गया है। कस्बे से बाबू साहब को लाने गया है।"

मैं गाँव की पगडंडी को छोड़कर रिक्शा पर चढ़कर स्टेशन पहुँचा।

इसके बाद ट्रेन में सारी राह पिछले सात दिनों की घटनाएँ लगातार याद आती रहीं। बायीं ओर मेरा बैग पड़ा था। जिसके भीतर किसानों को लेकर लिखी गई कहानियों का मेरा संकलन था। मेरी यह सारी कहानियाँ काफी प्रशंसित एवं लोकप्रिय हुई हैं। लेकिन विचारक कौन है? किस अधिकार के तहत में इस जनप्रियता का अधिकारी हूँ? इन सारे सवालों के जवाब मैं खोज नहीं पा रहा था। बार-बार चुनार लायक की बातें याद आ रही थीं। याद आ रही थी अधीर बाबू की टिप्पणी भी। सारी राह पूरी गंभीरता से सारी चीज़ों का विश्लेषण करने का पर्याप्त समय मिला मुझे। इन सात दिनों में वीरभूम के एक मध्य वयस्क, जीवन से अनुभव प्राप्त चुनार लायक ने मुझे क्या सिखाया? फुर्सत नहीं है मेरे पास, उस ढंग से अधीर बाबू के घर जाकर कहानी सुनने की फुर्सत नहीं है मेरे पास! बल्कि इन कॉलेज के छोकरों की तरह हम लोगों के गाँवों-घरों में रह जाओ, तो बढ़िया हो। और भी बढ़िया हो यदि कलम के साथ-साथ हल की मूठ का संयोग घटित कर सको; तब तो निश्चित रूप से हम दोनों मिल-जुल कर किस्सा-कहानी कहने, सुनने का समय निकाल लेंगे। या खर-पतवार चुनते समय ही मौखिक सुन लेंगे कहानी। इसके बाद साँझ को—जिस रोज़ कम काम-धाम रहेगा, उस रोज़ दूसरे संगी-साथियों के बीच भी कहानी को पढ़ा जाएगा। जैसे चौपाल जमता है भाई! नहीं तो ऐसे तो समय ही नहीं मिलेगा किसी रोज़...।

इसलिए आज भी मेरी आँखों का तारा है चुनार लायक, जिसने मुझे आत्म-विश्लेषण करने के लिए जगा दिया। उचित ढंग से सोचना सिखाया।

देशांतर : कविता

अन्ना अख्मातोवा

❑ अनुवाद : एम. एस. पटैल

[अन्ना अख्मातोवा रूसी क्लासिक गरिमा के साथ साहित्य जगत में आती हैं। जन्म : 1889 में ओडेसा में और 1966 में मास्को के पास निधन हुआ। इनके समकालीन कवि ओसिप मांदेलस्ताम, बोरिस पॉस्तरनाक, मारिना त्स्वेतायेवा, ब्लादिमीर मायकोवस्की, आइजक बेबल आदि हैं। अन्ना अख्मातोवा, मांदेलस्ताम और पॉस्तरनाक में एक गहरी प्रगाढ़ता थी। ये तीनों आजीवन साथ रहे। वह सरकारी कोप की शिकार भी हुईं।

इनके काव्य में गहरी दार्शनिक और भावप्रवण परम्परा मिलेगी। ये मानव के आन्तरिक जगत के अधिक निकट हैं। इनका प्रथम काव्य संग्रह 'साँझ' 1921 में आया, तब वे केवल 23 वर्ष की थीं। उनका अंतिम संग्रह 'समय का रास्ता' 1965 में आया, तब वे 76 वर्ष की थीं। अन्ना अख्मातोवा के काव्य में इतिहास, देशभक्ति एवं मानवीय भावप्रवणता झलकती है। नारी की वेदना को वे अच्छी तरह समझती हैं। उन्होंने एक ऐसी विरासत दी जिसे विश्व ने स्वीकारा है।]

अलेक्सान्द्र ब्लोक के प्रति

आयी मिलने जब कवि से
थी दुपहरिया। दिन रविवार।
लम्बा-चौड़ा शान्त कमरा था;
सड़क में बिछा था पाला...

किरमची गेंद था सूरज।
नीचे उसके
बह रहा था धुआँ फ़ाखती रंग का रोमिल...
मेरा मेज़बान
खड़ा था खामोश सामने मेरे :
कितनी प्रशान्त कितनी पारदर्शक
निर्निमेष दृष्टि उसकी!

ऐसी उसकी आँखें जो देखता है उनको
भूल नहीं सकता है कभी
अपने बारे में तो रहूँगी निरापद
किंचित् नहीं मिलायी मैंने उनसे आँखें।

लेकिन याद रखूँगी हमेशा

समुद्र के पास मीनार की तरह
ऊँचे सुनसान मकान के प्रवेश द्वार के पास
हमने जो किया संवाद उस इतवार।

समुद्र के पास बगीचे में
कैसा घुप्प अँधेरा रास्ता है,
कितनी पीली और चमकीली चिरागें हैं।
निस्तब्ध हूँ। मुझसे मत करो चर्चा उसके नाम की,
मत बोलो उसके बारे में आज की रात।

मधुर हो, हम बनेंगे सहचर,
मैं और तुम करेंगे चहलकदमी,
चूमा लेंगे, होंगे एक साथ वृद्ध।
हिमलव जैसे भारहीन महीने
गुज़रते जायेंगे हम पे
अविलम्ब, निर्विघ्न।

आनंददायक लगता है यहाँ :
स्पन्दित पवन,
भुरभुरी बर्फ़,
हर दिन कोहराम मचानेवाला तुषार।

प्रदीप्त सफ़ेद झाड़ी पे
ठिठुरे गुलाब शालीनता से
हिलते डुलते हैं।

बर्फ़ का यह राजसी फैलाव
जहाँ से गुज़री हैं
फिसलती पटरियाँ
जन्म देती हैं एक जुड़वाँ रास्ते को,
युगों पूर्व का तकाजा
मैं और तुम
एक साथ गुजरे थे यहीं से।

कलादेवी

रात के वक्त

उसके आगमन की मैं करती हूँ प्रतीक्षा
लगता है मुझे
जीवन मेरा बन जाता है त्रिशंकु,
भरी जवानी, प्रतिष्ठा, स्वच्छन्दता
सिमट जाते हैं सब शून्य में
जब मेरी प्रिय आगन्तुक
मेरे बिछौने के पास
बजाती है बाँसुरी।

देखो, आती है वह यहाँ,
उठाती है वह घूँघट अपना,
घूमती हुई निहारती है मुझे
तेज पारखी नज़रों से
"करती हूँ याचना, क्या तुम्हीं ने
लिखवाया था दांते[1] को नरक?"
और देती है उत्तर : "वह मैं ही थी।"

1. दांते : दांते आलीगियेरी (1265-1321) महान इतावली कवि, 'डिवाइन कामेडी' के रचयिता

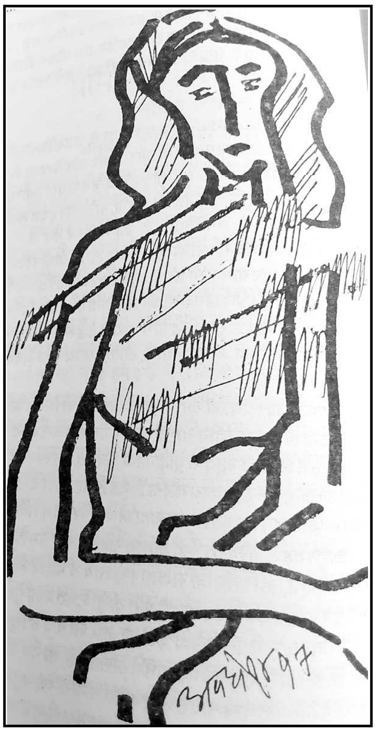

बेर्टोल्ट ब्रेष्ट

❑ मूल जर्मन से अनुवाद : रायनर लोत्स और गिरधर राठी

[बीसवीं सदी के प्रख्यात जर्मन कवि, नाटककार और रंग निर्देशक बेर्टोल्ट ब्रेष्ट का जन्म 10 फरवरी, 1898 को बावेरिया प्रांत के ऑग्सबर्ग कस्बे में हुआ था। उनकी रचनाओं का दुनिया-भर की भाषाओं में अनुवाद हुआ। 14 अगस्त, 1956 को ईस्ट बर्लिन में उनका निधन हुआ।]

आरामदेह कार में सफर

एक आरामदेह कार में सफर करते हुए
बरसाती देहाती पथ पर
हमने देखा एक फटेहाल आदमी रात के करीब
झुक-झुक कर हाथ हिलाता,
कि हम ले लें साथ उसे।
हमारे पास छत थी
और हमारे पास जगह थी
और हम आगे चले आये
और हमने सुना
मैंने कुढ़ते स्वर में कहा : नहीं
हम नहीं ले सकते हर किसी को अपने साथ।
हम काफी दूर चले आये थे,
शायद दिन भर का सफर
जब मैं अचानक चिहुंक उठा
इस अपने स्वर से
इस अपने बर्ताव से और इस
सारे संसार से।

जनरल, तुम्हारा टैंक जबर्दस्त वाहन है

वह तोड़ता है जंगल
और रौंदता है सौ-सौ मनुष्य।
लेकिन उसमें है एक कमी :
ज़रूरी है उसे एक ड्राइवर।

जनरल, तुम्हारा बमवर्षक ज़बर्दस्त है।

यह उड़ता है तूफ़ां से तेज़
और ढोता है हाथी से ज़्यादा।
लेकिन इसमें है एक कमी :
ज़रूरी है इसे एक मैकेनिक।

जनरल, मनुष्य है बहुत ही ज़रूरी।
वह उड़ सकता है और मार सकता है।
लेकिन उसमें है एक कमी :
वह कर सकता है सोच-विचार।

प्रेम करती स्त्री का गीत

जब तुम मुझे पुलकित कर देती हो
तब मैं सोचता हूँ कभी-कभी :
अभी मर जा सकता हूँ
तब मैं रहूँगा मुदित
मेरी समाप्ति तक।

जब तुम होगी बूढ़ी
और मुझे याद तुम करोगी
मैं हूँगा आज-सा
और तुम्हारा होगा एक प्रिय
अभी भी जवान।

2.
सात गुलाब रहे झाड़ी के
छह ले गया समीर
बचा एक फिर भी, मैं जिसको
लाऊँ खोज अधीर।

सात बार मैं तुझे पुकारूँ
दूर रहे छहों बेर
पर सातवीं दफा, कर वादा
आना एक ही टेर।

ओक्ताविओ पाज़

❑ अंग्रेज़ी से अनुवाद : अनूप सेठी

[ओक्ताविओ पाज़ का जन्म 31 मार्च, 1914 को मैक्सिको के शहर में हुआ था। उनके दादा जाने-माने पत्रकार और लेखक थे। वे फ्रांसीसियों के विरूद्ध लड़े। उनके पिता वकील थे। उन्होंने मैक्सिको की क्रांति में हिस्सा लिया। पाज़ ने 17 साल की उम्र में कविता लिखना शुरू किया। 1937 में वे फासीवाद विरोधी लेखकों के दूसरे अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में भाग लेने के लिए स्पेन गए। 1944 में वे एक फैलोशिप लेकर अमरीका गए। 1945 में पेरिस गए। उससे अगले वर्ष वे मैक्सिको की विदेश सेवा में शामिल हो गए। 1962 में वे मैक्सिको के राजदूत बनकर भारत आए। 1968 में उन्होंने यह पद त्याग दिया। उसके बाद कई विश्वविद्यालयों में अध्यापन किया। 1971 में मैक्सिको लौटकर मासिक पत्रिका 'प्लूरल' शुरू की। 1976 में सरकार ने इसे ले लिया। उन्होंने एक और पत्रिका 'वुएल्ता' (वापसी) शुरू की। इससे पहले वे कोई पाँच पत्रिकाएँ निकाल चुके थे।

भारत आकर उन्होंने भारतीय कला और दर्शन का गंभीर अध्ययन किया। ईस्ट स्लोप, टुवर्ड द बिगनिंग, ब्लांको और टु पोइम्स संग्रहों की कविताएँ इसी दौरान भारत, अफगानिस्तान और श्रीलंका में लिखी गईं। ओक्ताविओ पाज़ की 1957 से 1987 तक की सभी कविताओं का एक बड़ा संकलन प्रकाशित हुआ है। इस संग्रह में हिमाचल प्रदेश पर तीन कविताएँ हैं।

पश्चिम के अवरोध (3) : मैक्सिको ऑलम्पियाड की सांस्कृतिक समिति ने पाज़ को ऑलम्पिक की भावना पर कविता लिखने की पेशकश की। पाज़ ने मना कर दिया। अक्तूबर 1968 में ऑलम्पिक खेलों से थोड़ा पहले सरकार ने मैक्सिको शहर में संभवतः सैकड़ों की तादाद में प्रदर्शनकारी छात्रों का कत्लेआम कर दिया। पाज़ ने विरोध में भारत के राजदूत पद से त्यागपत्र दे दिया। हिमाचल प्रदेश (3) : मई 1968 में पेरिस में छात्र प्रदर्शनों के समय लिखी गई।]

हिमाचल प्रदेश (एक)

(जुआं लिस्कानो के लिए)
मैंने देखा
रिज के पैरों में
क्षितिज सिमटे हुए
(घोड़े की खोपड़ी में
मेहनती मधुमक्खियों का छत्ता)

मैंने देखा
पथराया वर्टिगो
फंसी साँस के झूलते बागीचे
(एक धारीदार तितली
खुशबू की नोक पर निश्चल)

मैंने देखा
मनीषियों के पर्वत
जहाँ हवा चीलों को क्षत-विक्षत करती है
(एक लड़की और बुढ़िया, चमड़ी और हड्डियाँ
ढोतीं इन शिखरों से ज़्यादा ऊँचे गट्ठड़)

हिमाचल प्रदेश (दो)

हमारी
          (सिर घुटा, लंबोदर और)
है प्राचीऽऽनतम
          (चिकनी)
सभ्यता
          (बकरियों के रास्ते पर
केसरी उसका चोगा था एक ज्वाला)
संसार में !
(गतिमान)
          यह धरती
(और चीड़ के चलारू पर
उसकी चप्पलों की चरमराहट)
पावन है :
धरती
          (जैसे वो चल रहा था) वेदों की।
(राख पर)
          मनुष्य ने
(अंगुली के इंगित से)
सोचना शुरू किया
पाँच हज़ार साल पहले
(पंडित ने दिखाया मुझे)
          यहाँ...
धरती पर तरुणतम पर्वत
(हिमालय)

पश्चिम के अवरोध (तीन)

(मैक्सिको शहर : 1968 औलम्पियाड)
डोरे और आदजा यंकर्स के लिए
सफाई

(शायद इस
पन्ने की पावनता के सामने
लिखा ही जाना चाहिए)
नहीं है पारदर्शी :
क्रोध है भयंकर
(स्पेनी भाषा में पित्त का लोथड़ा है
जर्द और स्याह)
कागज़ पर बिखर रहा
क्यों?
अपराध भावना क्रोध बनकर
हो गई अपने ही खिलाफ :
अगर
सारा देश शर्मसार है
तो एक शेर छलांग लगाने को
तत्पर है
(नगर पालिका के कर्मचारी
धोते हैं खून शहीदों के चौक से)
देखो अब
दागदार
किसी सही बात से पहले ही
कह दिया गया :
सफाई।

हिमाचल प्रदेश (तीन)

5 छोटी घिनौनी चीज़ें
देखीं, सुनीं, की गईं :
गिद्धों की दावत
उन्होंने ठूंस लिया है इतना कि उड़ नहीं सकते
पास ही एक चट्टान पर
एक लंगड़ी चील
मांस की अपनी खुरचन का इंतज़ार कर रही है

डाक-बंगले के बरामदे में
नागपुर का बैरिस्टर अजनबी को फांसता है
मीठी अंग्रेज़ी में एक जाम पेश करता है,
अपने बाग से आलू बुखारों की एक टोकरी, एक नक्शा

तरीदार खाना
विश्वसनीय राष्ट्रीय खबरें
अपने घर का छज्जा
खास नज़ारे के साथ...उसकी बीवी देखती है चोरी-चोरी
हिंदुस्तानी में बड़बड़ाती है कुबोल

अब हवाखोरी के लिए
युद्ध-विराम के उस क्षण को हैरत में डालने को
जब आधा चन्द्रमा पूरी तरह निस्तेज
और सूरज था अभी सूरज ही
वृद्ध दम्पति बाहर निकल आता है
वे उत्तेजित हो जाते हैं
कीड़ों के से उन्मत आवेग को उभाड़ते हुए
सूखे बीजों की खड़ खड़ :
एक दूसरे पर आरोप लगाने की घड़ी।
क्लब के आँगन में छह सफेदे के पेड़
आधी मिठास आधी रोशनी में डूबे
अंग्रेज़ों के ज़माने के तीन अंग्रेज़ एक सिक्ख से
सिडनी के क्रिकेट मैच के बारे में बतियाते हुए
कुछ भारतीय औरतें ब्रिज खेल रही हैं
एक चितकबरा कुत्ता उकड़ूँ बैठा
फर्श को पोंछता है और गायब हो जाता है
एक काला सितारा मेरे सिर में
गर्नेड की तरह फटता है

पूँजीवाद के मंदिर
पेरिस के सर्राफे को आग लगा दी गई
चीड़ पहाड़ियों को अंधियारा करते हैं
जली हुई दोपहर में
धूल और पंछियों की चीखें
मैं लिखता हूँ ये तिस्कार भरी पंक्तियाँ।

रसूल हमज़ातोव

❑ अंग्रेज़ी से अनुवाद : तुलसी रमण

[अवार भाषा के प्रख्यात दागिस्तानी कवि रसूल हमज़ातोव का जन्म सन् 1923 में काकेशिया पर्वतों की ऊँचाई पर, दूर-दराज़ के गाँव दसादा में हुआ। 3 नवम्बर, 2003 को मास्को में उनका देहांत हुआ। अपनी ज़मीन की समस्त सांस्कृतिक निधि को उन्होंने रचनाओं में समाहित किया है। 'मेरा दागिस्तान' उनकी विश्व प्रसिद्ध पुस्तक है।]

मेरे जाने का समय है

यह समय, मेरे जाने का सही समय है
मैं कुछ भी साथ नहीं ले जा रहा।
धीरे बहती बयार और मैना का आदि गीत
यहीं छोड़ रहा हूँ।

चाँदनी रातें, पेड़, घास के फूल
सुदूर सागर की गर्जना
झरनों की प्रबल ध्वनि
सब यहीं छोड़ रहा हूँ,
दर्रों की हवा और बारिश से उकेरे
पहाड़ के उबड़-खाबड़ शिखर भी
इतने प्यारे, जैसे मेरी माँ के
खरोंच भरे ऋतुहत कपोल।

मैं तुम्हारे पास छोड़ता हूँ
दरिया का तीव्र प्रवाह और
किरणों की हल्की लालिमा
जो ढलते सूरज के साथ
घेरे रहती है तुम्हारे कंधे।

जो कुछ जन्म से मेरा है
तुम्हारे पास छोड़ रहा हूँ
माँस और हड्डियाँ तक–
पगडंडियाँ, मिट्टी की गंध
और ताज़ा कटी घास की।

ठंडक देती बारिश, तपता सूरज
और सातवाँ आसमान...
मैं सब छोड़ रहा हूँ
जबकि सबसे बड़ा खज़ाना—
तुम्हारा प्यार
अपना संबल, साथ ले जा रहा हूँ।

मदिरा के प्यालों पर

यह मदिरा प्रेमियों के लिए है
जो इसे उड़ेलते और बेहद पसंद करते हैं
अंगूर-बेल की सारी जनश्रुतियाँ खोज निकालो
या खुशी से इसे छोड़ दो!

लोगों ने खूब पी और मर गए
फिर भी पीते...और मरते हैं।
पर क्या मृत्यु, न पीने वालों को यूँ ही छोड़ देगी?
महा आलसी, आओ और पीओ,
पीने का कोई बहाना, बाद में ढूँढ लेंगे!

अपने एकांत में पीने को तुम भले ही
दरवाज़ा बंद कर बोल्ट लगा देते हो
पर शाम होने तक गोपनीय सत्य का
पता चल ही जाता है हरेक को।

अच्छी शराब के दौर में सब जो कहा गया है
मदिरा का प्याला, ईश्वर से बढ़कर जानता है।

सुगंधित झाग पीकर, तृप्त हो जाओ
पर घर लौटने का रास्ता मत भूलो!

पीने पर प्रतिबंध, नहीं रोक सकता पीनेवाले को,
और न ही प्रतिबंध लगानेवालों को।
बारिश से फैलते-फूलते हैं पौधे
और शराब से हमारा वार्तालाप।

भले आदमी ने पी, वह मूर्ख बन गया,

इससे उलट भी अक्सर होता रहा है।
तुम शराब उड़ेल कर, एक बादशाह की तरह पीते हो
पर जल्द मालूम पड़ता है कि तुम इसके गुलाम हो!

घर द्वार पर

अजनबी दोस्त
आओ और ठहरो!
भले ही यह तुम्हारे
रास्ते से बाहर है।

पहाड़ी लोगों, आओ, दस्तक दो!
यहाँ विश्वास से विश्राम करो।
हम ठीक-ठीक हैं; न भी हों तो
आपका आना हमें स्वस्थ कर देगा।

तुम, जो रास्ते से गुज़र रहे हो।
दस्तक मत दो, परिवार को मत जगाओ
हमारे लिए शुभ लाए हो तो प्रवेश करो!
यदि अशुभ, तो चलते बनो!

यहाँ तुम्हें विश्राम की जगह मिलेगी,
तुम्हारी तकलीफें यहाँ दूर हो जाएँगी।
स्वागत योग्य अतिथि के रूप में प्रवेश करो
चिर मित्र बनकर विदा लो!

ध्यान रखना, अजनबी, मैं एक घुड़सवार हूँ
और यहाँ का एक नियम है—
अगर तुम यहाँ प्रवेश करो, याद रखना—
तुम्हें मेरे घोड़े की प्रशंसा करनी होगी।

विस्लावा शिम्बोर्स्का

❑ रूसी से अनुवाद : वरयाम सिंह

[विस्लावा शिम्बोर्स्का का जन्म 1923 में पोलैंड के कारकोन नगर में हुआ। साहित्य के लिए वर्ष 1996 का नोबेल पुरस्कार। कविताओं में गहरी राजनीतिक चेतना, सामाजिक विडंबना और विरोधाभास के स्वर। शैली में विलक्षण सादगी, गहराई और एक विशेष प्रकार की विनोदप्रियता।]

बालकेन्द्र के समीप एक भूखग्रस्त शिविर

लिखो, इस तरह लिखो
सादे से कागज़ पर सामान्य स्याही से :
कुछ नहीं दिया गया था खाने को
सब के सब भूख से मरे हैं।

कितने मरे?
देखो इस खेत को, हरेक के हिस्से कितनी
घास आ सकती है? लिखो : मुझे मालूम नहीं।

इतिहास अपनी गणना में मृत्यु को शून्यों के करीब
ला देता है, जैसे एक हज़ार एक
एक हज़ार ही होता है
जैसे वह एक रहा ही नहीं कभी इस पृथ्वी पर।

काल्पनिक लगते हैं कुछ दृश्य :
शिशु नहीं है पर पालना है,
खाली पड़ी है वर्णमाला की पुस्तक
पर पता नहीं किसके लिए,
चीखती, हंसती, प्रौढ़ होती हवा है,
बाड़ है—बगीचे में घुस आती रिक्तता के लिए
पंक्ति में वह जगह भी जिस पर बैठना नहीं है किसी को।

हम टहल रहे हैं खेत में
जहाँ सबकुछ जाग उठा है नींद से
बिके हुए गवाहों की तरह
चुप्पी साध ली है हर चीज़ ने।

धूप है, हरियाली है, रेत है,
खाने के लिए लकड़ी
और पीने के लिए छाल के भीतर की आर्द्रता।
इस दृश्य को तुम
दिन-रात देख सकते हो
देखते रह सकते हो अंधा हो जाने तक।

पेड़ की चोटी के ऊपर एक पक्षी
तृप्त परों की छाया गिर जाती है होंठों पर
धीरे-धीरे खुलते हैं जबड़े
टकरा जाते हैं दांत एक दूसरे के साथ
खामोश नींद में आई रोटी चबाते हुए।

स्याह पड़े देव चित्र के साथ प्रकट हुआ खाली प्याला लिए हाथ।
एक आदमी लटका पड़ा था कबाब की सींक पर।

मिट्टी लगी थी होंठों पर
जादुई-सा गीत गा रहे थे लोग
युद्ध की गोली अपने निशान-हृदय पर लगी थी।

लिखो, कैसी खामोशी है यहाँ।
लिखो।

एक गीत

यह रहा एक गीत
मारी गई औरत के बारे में
जो अचानक उठ खड़ी हुई अपनी कुर्सी से।
यह रहा एक गीत सच्चाई की खातिर जिसे
दर्ज कर दिया गया है कापी में।

उस खिड़की के सामने जिस पर पर्दे नहीं
एक अदद बत्ती की रोशनी के सामने
घटित हुआ यह सब कुछ
हर कोई देख सकता था जिसे।
जब धड़ाक से बंद हुए किवाड़
सीढ़ियों पर से भाग गया हत्यारा,

खामोशी में से जैसे जाग उठी
मरी हुई नहीं बल्कि जिंदा औरत।

उठी और हिलाया अपना सिर
आँखों से टटोला जैसे मुहारों के बीच से
एक-एक कोना कमरे का।
वह उड़कर कहीं नहीं गई हवा में,
धीरे-धीरे पाँव रखे उसने
फर्श के चरमराते तख्त पर।
फिर हत्या के सारे सबूत
अपने हाथों जला डाले अंगीठी में—

पुरानी तस्वीरों के सारे ढेर,
जूतों के तमाम तस्में।

मौत के बाद भी ज़िंदा रह गई वह
उसका न तो गला घोंटा गया था
न ही कहीं गोली लगी थी।

संभव है सामान्य जीवन पर
या किसी भी बेकार सी हरकत पर रोना आये
या चिल्लाने लग जायें
चूहे को भागते हुए देखकर। इस तरह की
होती रही हैं छोटी-छोटी मज़ेदार घटनाएँ,
वैसे कतई मुश्किल नहीं है गढ़ना कहानियाँ इस तरह की।
वह खड़ी हो जाती है, चलने लगती है
जिस तरह खड़े होते और चलने लगते हैं सब।

डेनिस ब्रूटस

❑ अंग्रेज़ी से अनुवाद : विनोद शर्मा

[डेनिस ब्रूटस : दक्षिण अफ्रीका के प्रख्यात कवि। जन्म : 1924, सेलिसबरी, रोडेशिया (जिम्बाब्वे) में। 18 महीनों के सपरिश्रम कारावास और साल की नज़रबंदी के बाद दक्षिण अफ्रीका छोड़कर लंदन में शरण ली। प्रथम काव्य संग्रह : 'सायरन, पोर और बूट' सन् 1964 में प्रकाशित हुआ। अन्य चर्चित काव्य संग्रह हैं—'मार्था के लिए पत्र' (1968), 'निष्कपट लालसा' (1973), 'हठी आश' (1978), इलिनॉयस, अमेरिका में, नार्थ वेस्टर्न विश्वविद्यालय में अंग्रेज़ी विभाग में प्रोफेसर रहे।]

मृत अफ्रीकी के लिए

हमारे यहाँ नहीं हुए नायक
और युद्ध
सिर्फ हुए शिकार
बीमार राज्य के
कोड़े बरसाती घृणा की बौछारों तले
हरे होनेवाले रंग-बिरंगे ज़ख्मों के कारण
दम तोड़ते हुए

हमारे यहाँ नहीं हुए युद्ध
नही हुई लड़ाईयाँ
घिसी-पिटी टिप्पणी में दर्ज होने के लिए
इतिहास के पन्नों पर

सिर्फ हुए बन्दी
अंधी रातों में मारे गए
और हुई दुर्घटनाओं में अंधकार में मौतें

फिर भी
जब कभी पुकारे जाते हैं नाम
उनके जो शहीद हुए देश को आज़ाद कराने की खातिर
दिखाई देते हैं ये अनाम निहत्थे उन योद्धाओं की बगल में खड़े
जिन्होंने सर्वोच्च पुरस्कार जीते।

सन् 1956 में पोर्ट एजिलाबेथ में गुड फ्राईडे के जलूस में शामिल जॉन नन्गोजा जेब पुलिस की गोली के शिकार हुए।

निर्वासित

मैं निर्वासित हूँ
आवारागर्द हूँ
चारण हूँ
(वे जो चाहें कहें)
में सौम्य हूँ और शांत हूँ
नपी-तुली है मेरी चाल
मैं तल्लीन हूँ तरकीब निकालने में
शिष्ट हूँ दासता के प्रति।
मगर विलाप से भरे हुए हैं
मेरे दिल के कक्ष
और अपने सिर में
अपनी आँखों के पीछे
मैं सुनता हूँ चीत्कार
और सायरन की आवाज़ें।

फिर वही आवाज़ें

आवाज़ें आनी फिर से शुरू हो गई हैं
रात में सायरन
दरवाज़े पर भड़भड़ाहट
दर्द से बिलबलाती नसों की चीख
और फिर दर्द से चिरे चेहरे के
मातमी स्वरों का आरोह
शब्दहीन अन्तहीन विलाप
जिन्हें जानते हैं सिर्फ बन्दी
बारिश की तरह हठी प्रेत
साँसों के साथ उड़ेल रहे हैं दुःख
सायरनों, पोरों और बूटों पर
फिर से शुरू हो गई हैं आनी मेरी आवाज़ें।

जेब्न्यू हर्बर्त

❑ अंग्रेज़ी से अनुवाद : गगन गिल

[जेब्न्यू हर्बर्त : पोलैंड के संभवतः सबसे महत्त्वपूर्ण कवि हैं। जन्म : 1924, कृतियाँ : द कार्ड ऑफ लाइट, हरमिस डॉग एण्ड स्टार, स्टडी ऑफ द ऑबजेक्ट, सेलेक्टेड पोयम्स, द केव ऑफ फिलॉसफर्स, द अदर रूम, रिकन्सट्रक्शन ऑफ द पोयट और फ्रांस, इटली, ग्रीस के यात्रा संस्मरण-दबारबेरियन इन द गार्डन प्रकाशित। कई महत्त्वपूर्ण पुरस्कारों से सम्मानित।

यहाँ अनूदित जेब्न्यू हर्बर्त की पोलिश कविताएँ चीज़ें, वर्णन : एक प्रयास, लायब्रेरी में एक घटना, हाथी, कविता का अनुवाद, घोंघा (अंग्रेज़ी अनुवाद : जॉन व बोगदाना कारपेंटर) पर आधारित हैं।]

लायब्रेरी में एक घटना

एक गोरी लड़की एक कविता पर झुकी है। नश्तर की तरह नुकीली एक पेंसिल से वह शब्दों को एक खाली कागज़ पर उतारती है और उन्हें मात्राओं, ध्वनियों व विरामों में बदल देती है। एक बीत गए कवि का शोक अब ऐसा दिखाई पड़ता है जैसे चींटियों का खाया सैलामैंडर हो।

जब हम उसे मशीन-गन की बौछार में से निकाल कर ले गए थे, मुझे यकीन था उसकी गर्म देह अपने शब्दों में से अभी दोबारा जीवित उठेगी। लेकिन अब जब मैं शब्दों की मृत्यु देखता हूँ, मैं जानता हूँ, खत्म होते जाने का कोई अंत नहीं। हमारे बाद इस काली धरती पर यदि बचेंगे तो कुछ बिखरे हुए अक्षर। शून्यता और धूल की कुछ ध्वनियाँ।

हाथी

हाथियों के बारे में एक व्यावहारिक तथ्य यह है कि वे बहुत संवेदनशील व जल्द उत्तेजित होनेवाले होते हैं। उनकी कल्पनाशीलता बहुत उपजाऊ होती है, जिसके कारण वह जब-तब अपनी शक्ल को भूलते रहते हैं। जब वे पानी में आते हैं तो अपनी आँखें बंद कर लेते हैं। अपनी टाँगों को देखकर वे अवसाद से भर जाते हैं और रोने लगते हैं।

मैं स्वयं एक ऐसे हाथी को जानता हूँ जो एक बुलबुल के प्रेम में पड़ गया। उसका वज़न कम हो गया, वह सो नहीं पाता था, और आखिरकार वह दिल के दौरे से मर गया। जो लोग हाथियों की प्रकृति के बारे में कुछ भी नहीं जानते, कहते हैं, वह लिजलिजा था।

चीज़ें

बेजान चीज़ें हमेशा सही होती हैं, और दुर्भाग्य से इसलिए उन्हें कभी किसी बात की शिकायत नहीं की जा सकती। मैंने भी कभी एक कुर्सी को एक पाँव से दूसरे पाँव के

बल होते नहीं देखा, या एक पलंग के सिरहाने को अपने पायताने पर खड़े होते। और मेज़— जब वे बहुत थके होते हैं तब भी कभी हिम्मत नहीं करते कि अपने घुटने मोड़ लें। मुझे लगता है, चीज़ें ऐसा हमें सबक सिखाने के लिए करती हैं, ताकि हमें हमारी निरंतर अस्थिरता के लिए धिक्कार सकें।

वर्णन : एक प्रयास

सबसे पहले मैं अपना वर्णन करूँगा
अपने सिर से शुरू करके
या शायद अपने पाँव से
या शायद हाथ की सबसे
अपने हाथ की सबसे छोटी उँगली से

मेरी छोटी उँगली
गर्म है
थोड़ी-सी भीतर को मुड़ी हुई
इसके सिरे पर एक नाखून है
इसमें तीन पोटे हैं
यह सीधी मेरी हथेली में से निकली है
अगर यह अपने हाल पर होती
तो शायद एक अच्छा खासा कीड़ा होती

यह एक विचित्र उँगली है
बाएँ हाथ की छोटी उँगली सारी दुनिया में अनूठी
मुझे सहज मिल गई।

बाएँ हाथ की शेष छोटी उंगलियाँ
मेरी उँगली के सामने
एक ठंडा अमूर्तीकरण हैं
हमारा एक ही जन्म दिवस है
एक ही मृत्यु-दिवस
और एक ही अकेलापन
सिर्फ लहू
जो अँधेरे दोहरावों की बारीक जाँच में व्यस्त
बाँधता है हमारे दूरस्थ सिरे
आपसी समझौते के एक तार से।

कविता का अनुवाद

एक अटपटे भंवरे की तरह
वह पुष्प पर बैठता है
जब तक कि उसकी नाज़ुक टहनी झुक न जाए
पंखुड़ियों की कतारों में से वह बमुश्किल अपना रास्ता बनाता है
शब्दकोश के पृष्ठों की तरह
वह केन्द्र तक पहुँचने की कोशिश करता है
जहाँ गंध और रस है
हालाँकि उसे जुकाम है
और उसका ज़ायका खराब है
वह डटा रहता है
जब तक कि अपना सिर
पीले गर्भ-केसर से टकरा न ले

इसके बाद अंत है
पुष्प-कटोरे के रास्ते
जड़ों को भेदना मुश्किल है
सो भंवरा बाहर आता है
गर्व से
ऊँची आवाज़ में गुँजन करता हुआ :
मैं भीतर हो आया
और जो उसकी बात पर यकीन नहीं करते
उन्हें
वह दिखाता है अपनी नाक
केसर से पीली हुई।

घोंघा

मेरे माता-पिता के कमरे में आईने के आगे एक गुलाबी घोंघा पड़ा रहता था। मैं दबे पाँव उस तक जाता था और उसे अचानक अपने कानों से लगा लेता था। मैं उसे एक दिन आश्चर्य में डाल देना चाहता था, जब वह अपनी एकरस घूँ-घूँ से समुद्र को याद न कर रहा हो। हालाँकि मैं छोटा था, मैं जानता था कि चाहे हम किसी को कितना भी क्यों न चाहते हों, ऐसे क्षण आते हैं जब हम उन्हें भूल जाते हैं।

येव्गेनी येव्तुशेंको

❑ मूल रूसी से अनुवाद : अनिल जनविजय

[विश्वविख्यात रूसी कवि येव्गेनी येव्तुशेंको का जन्म : 18 जुलाई, 1933 को साइबेरिया के एक नगर में हुआ था और देहांत 1 अप्रैल, 2017 को अमेरीका के एक स्वास्थ्य केन्द्र में हुआ। 1968 में सोवियत सेनाओं द्वारा प्राग पर हमले का उन्होंने विरोध किया था। वह उपन्यासकार, निबंध लेखक, नाटककार, प्रकाशक, संपादक, प्रोफेसर और अभिनेता व फिल्म निर्देशक भी थे।]

थोड़ा-सा

थोड़ा-सा मेरा नसीब
थोड़ा-सा मेरा सलीब
लटका थोड़ा-सा गले में
थोड़ा-सा मन के करीब
थोड़ा-सा मर जा तू
थोड़ा-सा फिर जीवित हो
फिर थोड़ा-सा मर जा तू
जैसे सलीब पर कीलित हो
थोड़ा-सा तू प्यार करे
थोड़ा-सा दुलार करे
थोड़ा-सा तू भूल जा उसको
फिर थोड़ा-सा लाड़ करे
थोड़ा-सा नाराज़ हो पहले
फिर थोड़ी-सी गलती मान
पहले थोड़ा दूर हो उससे
फिर थोड़ी-सी कर पहचान
थोड़ा-सा तू रो कर देख
दूर नहीं फिर प्रेम का सेंक
छिलके-सा उतरेगा फिर
तेरे होंठों से संलेप
थोड़ा-सा अनुरागी हो तू
थोड़ा-सा विरागी हो तू
इस राग-विराग के संग ही
जीवन का सहभागी हो तू

जैसे-जैसे?

जैसे-जैसे दिन बीतेंगे, सम्भव है
मैं अकेला होता जाऊँगा

जैसे-जैसे वर्ष गुज़रेंगे, सम्भव है
मैं शेष नहीं हूँ, समझ जाऊँगा

जैसे-जैसे बदलेंगी शताब्दियाँ, सम्भव है
मैं लोगों की स्मृति से गुम हो जाऊँगा

पर हो न ऐसा कि दिन बीतें जैसे-जैसे
मेरे जीवन में शर्म बढ़े वैसे-वैसे

पर हो न ऐसा कि वर्ष गुज़रें जैसे-जैसे
ताश का गुलाम बन जाएँ हम वैसे-वैसे
पर हो न ऐसा कि शताब्दियाँ बदलें जैसे-जैसे
हमारी कब्रों पर थूकें लोग वैसे-वैसे।

दो कविताएँ

एक
ओस की बूँद है
व्यक्ति
और जनता बायकाल झील
मुझे तोड़ मत देना,
ऐ रूस!
अपनी साइबेरियाई चट्टानों पर
तुमसे यही अपील।

दो
गिरते हैं
कंधों पर
पतझड़ के पत्ते
झड़ती हुई सच्चाइयों के साथ
और शायद कभी
उड़ जाऊँ मैं भी
थमा हाथों में इनके, अपना हाथ।

योसिफ ब्रोदस्की

❑ अंग्रेज़ी से अनुवाद : नंदकिशोर आचार्य

[योसिफ ब्रोदस्की का जन्म : वर्ष 1940 में सोवियत रूस। संयुक्त राज्य अमेरिका के लिए निर्वासित। कविता के लिए 1987 का नोबेल पुरस्कार।]

भविष्यवाणी

हम जाएँगे और साथ-साथ रहेंगे किनारे पर
विशाल बाँध काट देंगे हमें महाद्वीप से।
हमारे गोल कमरे के घेरे में बिखेरेगी
ऊष्म आलोक एक घरेलू लालटेन।

ताश के पत्तों में युद्ध करेंगे हम और दाग
लगा लेंगे पागल लहरों के गर्जन के लिए।
खांसेंगे धीमे-से, या शब्द चुप आह
जब भी अधिक कर्कश हो जाएगी हवा।

मैं वृद्ध हूँगा और तुम युवा
पर, जैसा कि नवयुवा कहते हैं, हम गिनेंगे समय को
जो हमें छोड़ चुका है—जब तक नया युग नहीं आता—
दिनों में, सालों में नहीं।
अपने छोटे से द्वीप में
हम एक घरेलू बगीचा लगाएँगे—तुम और मैं।
दरवाज़े पर सीपियाँ कड़कड़ाएँगी
और हम पियेंगे अष्टपद सूरज की किरणें।

झपटने दो ग्रीष्म की बरसात को हमारी ककड़ियों पर
एस्किमों की तरह धूप से जलकर ताम्बई हो जाएँगे हम
तुम हौले से फिराओगी अपनी अँगुलियाँ
मेरे गले की कुंआरी 'बी' पर
जहाँ धूप जला नहीं सकी होगी मुझे।
मैं अपनी हँसुली देखूँगा आइने में
और एक लहर प्रतिबिम्बित मेरी पीठ पर।

सर्दियाँ आएँगी, निर्भय
और हमारे छप्पर को मरोड़ कर तोड़ देंगी।
आन्द्रेई रखेंगे हम अपने बच्चे का नाम
या अन्ना, यदि बच्ची हुई तो
कि हमारी रूसी ज़ुबान, छोटे झुर्रीदार चेहरे पर छपी
भुलाई न जा सके कभी
हमारी वर्णमाला का पहला स्वर
एक माह का विस्तार है
और वह सुरक्षित रहेगी भविष्य के लिए

हम खेलेंगे ताश का युद्ध
जब तक ज्वार की लौटती कुटिलताएँ
खींच नहीं ले जाती हमें
—हमारे सारे पुरुषों के साथ
नीचे और दूर।
हमारा बच्चा ताकेगा चुपचाप एक पतंगे को
बेखबर कि कभी वह भिड़ेगा हमारी लालटेन से
लेकिन वक्त आएगा
जब हमारे बच्चे को बताना होगा रास्ता अपना
उसी बाँध में से गुज़र कर
जो महाद्वीप से काटे हुए हैं हम।

क्रिसमस

समझदार लोग भुला देंगे, तुम्हारा नाम
कोई सितारा नहीं चमकेगा तुम्हारे सिर के ऊपर
होगी केवल वही क्लान्त ध्वनि—
गरजती झंझा का भग्न होता स्वर।
परछाइयाँ उतरेंगी तुम्हारी थकी आँखों से
सिरहाने की मोमबत्ती गलने के साथ-साथ
मोमबत्तियों के चुक जाने तक
रातों को पालता है कैलेंडर।
क्यों है यह उदास स्वर?
एक जाना-पहचाना लम्बा गीत।

फिर बजता है वह।
बजने दो।

बजने दो उसे इस रात
—मेरी मृत्यु की घड़ी में—
आँखों और होठों की कृतज्ञता की तरह
उसके लिए
जो कभी सुदूर आकाश तक
उठा देता है हमारी निगाह।

चुपचाप तुम ताकते हो दीवाल
तुम्हारे मोजे फट गए हैं : कोई उपहार नहीं।
साफ है कि अब तुम बहुत बूढ़े हो
अच्छे संत मिथ में विश्वास के लिए
बहुत देर हो चुकी है चमत्कारों के लिए
पर अचानक, अपनी आँखों को उठाते हुए
ऊपर स्वर्गिक आलोक की ओर,
तुम महसूस करते हो :
एक उपहार है तुम्हारी ज़िन्दगी।

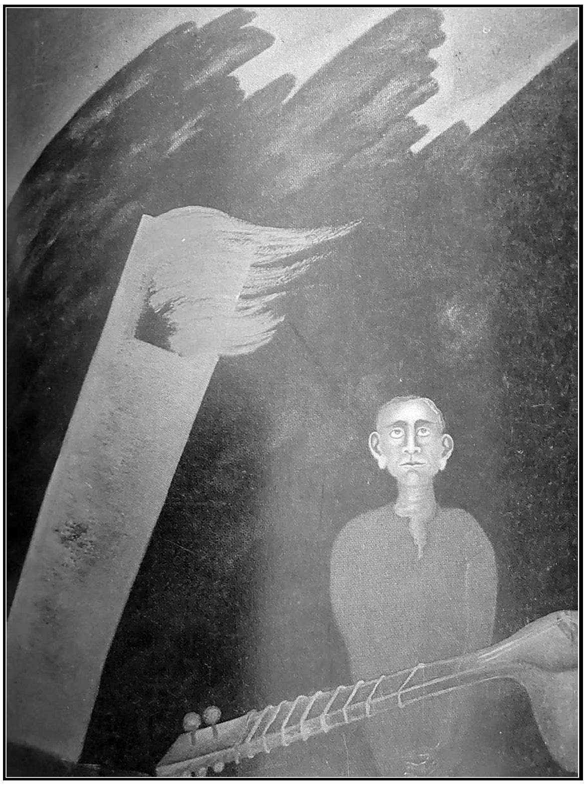

गब्रिएला मिस्त्राल

❑ अंग्रेज़ी से अनुवाद : विनोद शर्मा

[गब्रिएला मिस्त्राल ने सन् 1945 में पहली बार चिली और लातिनी अमरीका के लिए नोबेल पुरस्कार जीता। कविता के लिए स्वीडिश अकादेमी द्वारा पुरस्कृत की जाने वाली वे प्रथम महिला थीं। उत्तरी चिली में स्थित एलकी घाटी में बसे एक छोटे से गाँव विकूना में 7 अप्रैल, 1889 को गब्रिएला मिस्त्राल का जन्म हुआ था और 1957 में 11 जनवरी को न्यूयार्क में कैंसर से उनका देहान्त हुआ। उनका बचपन का नाम था लुसीला गोदोइ अल्कायागा। किन्तु बड़ी होकर, प्रख्यात इतालवी कवि गब्रिएले 'द' अन्नुन्जियो तथा 1904 के संयुक्त नोबेल पुरस्कार विजेता फ्रांस के प्रोवोन्सलभाषी कवि फ्रेडरिक मिस्त्राल से प्रभावित होकर उन्होंने अपना उपनाम रखा–गब्रिएला मिस्त्राल।

उनकी कविता के प्रेरणास्रोत एलकी वादी, वहाँ के किसानों की ज़िन्दगी, प्रेम और मातृत्व में ढूँढे जा सकते हैं। 1922 में न्यूयार्क से प्रकाशित उनके प्रथम कविता संग्रह : 'हताशा' की पंद्रहवी कविता में उस आँसू की आर्द्रता महसूस की जा सकती है जो मृत पिता के अजन्मे पुत्र के लिए उनकी आँख से ढुलका था। 'हताशा' की कविताएँ, प्रणय, मृत्यु, शाश्वतता, ईश्वर, प्रकृति और कृषि जीवन की परिक्रमा करती हैं। खंड शीर्षक : 'दोलौर' (अर्थात् दुःख) के अन्तर्गत संकलित भावप्रवण कविताएँ उनके प्रथम और असफल प्रेम के इर्द-गिर्द बुनी हुई हैं, जिन्हें स्पेनी साहित्य में विशिष्ट दर्जा मिल चुका है। चिली में इस महान कवि ने आधुनिकतावाद की नींव रखी। कई आलोचक उनकी गणना, कृत्रिमता, जटिलता और बौद्धिकता से आक्रान्त बीसवीं शताब्दी में अतिविशिष्ट 'नेव' कविता रचनेवाले सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कवियों में करते हैं।]

धीमी बारिश

यह पानी उदास और डरावना
उस बच्चे की तरह लुप्त हो जाता है
जो धरती को छूने से पहले
झेलता है दुःख

खामोश है हवा
पेड़ चुप हैं–
मगर इस भयावह सन्नाटे में
झर रहा है
यह अधूरा दुःखद गीत
दिल की तरह है आसमान असीम
खुद को खोलता हुआ और तिक्त
यह बारिश नहीं है : रक्तस्राव है
धीमा और अनन्त।

मकानों में महसूस नहीं कर पाते आदमी
इस कड़वाहट को
आसमान से गिरते इस पानी को
धरती की ओर
पराजित जल का यह अवतरण
अनन्त और उबाऊ
निष्क्रिय और गतिहीन
बारिश हो रही है...
और दुष्ट लोमड़ी-सी दौड़ाती है निगाह
ज़मीन पर रात
क्या फूटने वाला है छाया में
धरती माँ की कोख से?
क्या तू सोएगा नहीं
यों बाहर झर रहा है दर्द
यह धीमा पानी
यह जानलेवा पानी
मौत का सहोदर।

खोज

मैं देहात गई
तो मुझे मिला यह बच्चा
सोया हुआ था
जब मुझे मिला
अनाज के स्रोतों में...
या शायद इसे मैंने पाया था
पार करते हुए अंगूर के बाग
लताओं में खोजते हुए
मुझे दिखाई दिए इसके कपोल
इसीलिए मैं डरती हूँ
कि मैं रहूँ डूबी/ कहीं नींद में
और पाले की तरह पिघल जाए
यह अंगूर की बेलों पर।

मेरे समीप सो

अपनी कोख में रखा
मैंने अपने जिस्म का अंश

सो, मेरे समीप सो
धड़कते हुए नन्हे शरीर!
गेहूँ की बालियों में सोता है
तीतर–
सुनता हुआ धड़कनें
उनके दिलों की
परेशान न हो मेरी साँसों से
सो, मेरे समीप सो

गंवा चुकी हूँ मैं सर्वस्व / और काँपती रहती हूँ
नींद आने तक दूर न जा मेरे आँचल से

सो, मेरे समीप सो।

गोल है हर वस्तु

गोल दायरों में घूमते बच्चे हैं सितारे
दौड़ाते हैं दृष्टि धरती पर खेलते हुए
गेहूँ की बालियाँ हैं बच्चों की कायाएँ
डोलती हुई
खेल के दौरान
गोल दायरों में घूमती बालाएँ हैं नदियाँ
खेलती हुईं / दौड़ती हुईं
समुद्र की ओर
गोल दायरों में उछलती
नन्हीं बालाएँ हैं लहरें
भरती हैं खेलते वक्त
बाहों में इस दुनिया को।

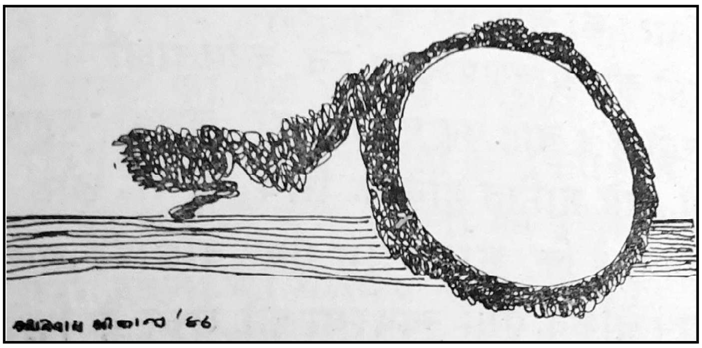

देशांतर : कहानी

मोची का शैतान

❑ अन्तोन चेखव

मूल रूसी से अनुवाद : योगेश भटनागर

[प्रख्यात रूसी कथाकार-नाटककार अन्तोन पाव्लविच चेखव का जन्म 29 जनवरी, 1860 को रूस में हुआ और देहांत 15 जुलाई, 1904 को जर्मनी में। अपने छोटे जीवन में चेखव ने चार कालजयी नाटक लिखे और उनकी कहानियाँ विश्व के साहित्य आलोचकों व पाठकों ने सराही हैं।]

बड़े दिन (क्रिसमस) की शाम थी। मारिया भट्टीका बहुत देर से खुर्राटे भर रही थी। लैम्प का सारा केरोसिन जल चुका था, पर फ्योदर नीलोव अभी तक बैठा काम कर रहा था। उसका बहुत मन कर रहा था कि काम बंद कर दे और बाहर जाए, पर दो हफ्ते पहले कलाकोलनी नुक्कड़ वाले ग्राहक ने जूतों का आर्डर दिया था। वह कल ही आकर उसे बुरा-भला कह गया था और साथ में हुक्म दिया था कि किसी भी हालत में उसके जूते सुबह तक तैयार हो जाने चाहिए।

"कैदियों की सी ज़िन्दगी है।" फ्योदर काम करते हुए बड़बड़ायी, "कुछ होते हैं जो देर तक सोते हैं, कुछ देर तक मस्ती करते हैं और तू है हत्य की तरह बैठा है और सिलाई कर रहा है।"

कहीं अनजाने में उसे नींद न आ जाए इसलिए वह थोड़ी-थोड़ी देर में मेज़ के नीचे रखी बोतल निकालता और एक घूँट पीता और हर घूँट के बाद अपना सिर हिलाता और ज़ोर से कहता, "ज़रा कोई बताए ये ग्राहक क्यों मस्ती में घूमते रहें और मैं यहाँ बैठा उनके जूते बनाता रहूँ? सिर्फ इसलिए कि उनके पास पैसा है और मैं गरीब हूँ?"

वह बस ग्राहकों से नफरत करता था, खासकर उससे जो कलाकोलनी नुक्कड़ पर रहता था। इन महाशय का चेहरा हमेशा ज़र्द और उदास रहता था। नाक लम्बी थी। वह बड़ा नीला चश्मा लगाया करता था और आवाज़ उसकी भारी थी। उसका कुलनाम जर्मन था वह भी ऐसा कि उससे बोला ही नहीं जा सकता था। वह क्या करता था और उसका क्या ओहदा था कोई नहीं जानता था। जब दो हफ्ते पहले फ्योदर उसके यहाँ माप लेने गया तो वह ज़मीन पर बैठा तंदूर में हवा भर रहा था। अभी फ्योदर नमस्कार भी नहीं कह पाया था कि तंदूर की मश्क अचानक फूल गयी और सुर्ख लपटों में आग जल उठी, ताज़े मुर्गे के परों की भुनने की बू फैल गयी और कमरा घने लाल रंग के धुएँ से भर गया और इसलिए फ्योदर को छींक आ गयी, घर वापिस लौटते हुए वो सोच रहा था, "जो खुदा से डरता है वो ऐसे काम नहीं करेगा।"

जब बोतल पूरी खत्म हो गयी फ्योदर ने जूते मेज़ पर रखे और सोचने लगा। उसने अपने भारी सिर को मुट्ठी से ऊपर उठाया और अपनी गुरबत और अपनी उदास और आशाविहीन ज़िन्दगी के बारे में सोचने लगा, फिर धनवानों, उनके बड़े-बड़े मकानों, उनकी

घोड़ागाड़ियों और हज़ारों नोटों के बारे में सोचने लगा...। कितना अच्छा होता अगर इन धनवानों के घरों में दरारें पड़ जातीं, घोड़े घुटकर मर जाते, उनके फरकोट बदरंग हो जाते, और हैट सूख जाते। कितना अच्छा होता अगर धनवान धीरे-धीरे भूखे और गरीबों में तबदील हो जाते, वह खुद एक गरीब मोची एक धनवान में तबदील हो जाता और तब वह भी बड़े दिन की शाम पर गरीब मोची को बुरा-भला कहता, उसे डाँटता-फटकारता। इस तरह का सपना देखते हुए फ्योदर को अचानक अपना काम याद आ गया और उसने अपनी आँखें खोलीं।

"क्या कहानी है!" जूतों को देखते हुए वह सोच रहा था। जूतों के ऊपर का चमड़ा तो कब का तैयार हो गया और मैं हूँ कि सिये जा रहा हूँ। इनको अब ग्राहक के पास ले जाना चाहिए।

उसने जूतों को लाल रूमाल में लपेटा, कपड़े पहने और बाहर चला गया। सूइयों की तरह तेज़ चुभती हुई बर्फ़ पड़ रही थी। बहुत ठंड थी, अँधेरा था, कैरोसिन लैम्प बहुत उदास रोशनी फेंक रहे थे जाने क्यों सड़क पर कैरोसिन की इतनी तीखी बदबू आयी कि फ्योदर खाँसने लगा और खाँसते-खाँसते हाँप गया। पुल की तरफ जाने वाली सड़क पर धनवान जा रहे थे। हर किसी के हाथ में बहुत-सा खाने का सामान और ढाई सौ ग्राम वोदका थी। घोड़ा गाड़ियों की खिड़कियों में से और स्लेज पर से धनवानों की पत्नियाँ उसे देख रही थीं। उसे चिढ़ा रही थीं और हँसते-हँसते कह रही थीं– "भिखारी! भिखारी !"

छात्र, अफसर, महाजन और जनरल, फ्योदर के पीछे आ रहे थे और उसे चिढ़ा रहे थे– "शराबी, शराबी, मोची! जूते की नोक! भिखारी!"

ये सब उसे ज़लील करने की बात थी पर फ्योदर चुप रहा और गुस्से में सिर्फ थूकता रहा। और अब उसे वारसा का दूसरा मोची कुज्मा लेबेदनीकी मिला और उसने बताया, "मैंने एक धनवान महिला से शादी कर ली, अब मेरे नीचे मोची काम करते हैं और तू वैसा ही भुक्कड़ और गरीब रह गया।" तो फ्योदर अपने को काबू में न रख सका। वह उसे मारने के लिये दौड़ा और तब तक भागता रहा, जब तक वह कलाकोलनी नुक्कड़ तक नहीं पहुँच गया। उसका ग्राहक कोने से चौथे ब्लाक में सबसे ऊपर की मंज़िल के फ्लैट में रहता था। उसके फ्लैट तक पहुँचने के लिए एक लम्बा और अँधेरा आँगन पार करना पड़ता था और उसके बाद फिसलन भरी हिलती कमज़ोर सीढ़ियाँ चढ़नी पड़ती थीं। जब फ्योदर घर के अन्दर पहुँचा तो वह पहले की तरह, यानी दो हफ्ते पहले की तरह, वैसे ही फर्श पर बैठा था और तन्दूर में कुछ भून रहा था।

"हुज़ूरे अनवर, आपके जूते लाया हूँ।" फ्योदर ने बड़ी ही उदासी में कहा।

ग्राहक उठा और चुपचाप जूते पहनने लगा। फ्योदर उसे पहनने में मदद करने के लिए एक घुटने पर झुका और उसका पुराना जूता उतार दिया, पर तभी वह उछला और डर के मारे बाहर दरवाज़े की तरफ भागा। ग्राहक के इन्सानों के पैर नहीं थे, वो तो घोड़े के खुर थे।

"ओफ!" फ्योदर ने सोचा। "यह बात है।" ऐसे में उसे सबसे पहले छाती पर क्रॉस बनाना चाहिए था, फिर सबकुछ वहीं छोड़ कर नीचे भागना चाहिए था। पर तभी उसने सोचा कि शायद शैतान उसे पहली और आखिरी बार मिल रहा था और उसकी सेवाओं का लाभ न उठाना बेवकूफी होगा। उसने अपने आपको सम्भाला और किस्मत आज़माने का तय किया। अपने हाथों को कमर के पीछे बाँधा, जिससे वो क्रॉस न बना पाये। वह बड़े अदब

से खाँसा और उसने कहा—"कहते हैं शैतान से ज़्यादा बुरी ताकत तो कोई नहीं होती, पर हुज़ूरे अनवर, मैं समझता हूँ कि शैतान सबसे ज़्यादा पढ़ा-लिखा होता है। माफ कीजिये, शैतान के खुर और दुम होते हैं, पर दिमाग किसी भी छात्र से कहीं ज़्यादा होता है।

"इस तारीफ का शुक्रिया।" तारीफ किए गए ग्राहक ने कहा। "शुक्रिया, मोची! तेरी क्या इच्छा है?"

बिना वक्त गंवाए मोची ने अपनी किस्मत को कोसना शुरू कर दिया। उसने कहा कि वह बचपन से धनवानों से जलता था। उसे यह देखकर हमेशा शर्म आती थी कि सभी आदमी एक-सी ज़िन्दगी नहीं जी रहे हैं। सभी बड़े मकानों में नहीं रह रहे हैं और न ही सभी खूबसूरत घोड़ों पर सवारी कर रहे हैं। एक सवाल पूछा जा सकता है—वह गरीब क्यों हैं? वह किस तरह वारसा के कुज़्मा लिबेदनीकी से कम है। उसके पास अपना घर है और उसकी बीवी हैट पहनकर घूमती है। उसकी नाक, हाथ, पैर, सिर, कमर सभी तो धनवानों का-सा है तो क्यों वह मेहनत करने के लिए शापित है, जबकि और दूसरे मस्ती करते हैं? मारिया क्यों उसकी पत्नी है? वह औरत जिसमें से इतर की खुशबू आती है, क्यों उसकी पत्नी नहीं है? रईस ग्राहकों के घरों में अक्सर खूबसूरत राजकुमारियाँ देखने में आती हैं पर वे कभी उसकी तरफ कोई ध्यान नहीं देतीं। वह सिर्फ कभी हँसा करती हैं और एक-दूसरे के कानों में फुसफुसाया करती हैं, "इस मोची की नाक कितनी सुर्ख है। यह सच है कि मारिया अच्छी, नेकदिल और कमेरी है, पर वो अनपढ़ है, उसका हाथ सूजा हुआ है और बहुत दर्द करता है। अगर कभी उसके सामने राजनीति या किसी ऐसी ही बुद्धिमानी की बात करनी शुरू कर दी जाए तो वो एक हंगामा खड़ा कर देती है।"

"तू क्या चाहता है?" बीच में रोकते हुए ग्राहक ने पूछा।

"हुज़ूरे अनवर, शैतान इवानिच, आपका रुतबा बुलंद रहे, मुझे रईस आदमी बना दो!"

"ठीक है। इसके लिए तुझे अपनी आत्मा मुझे देनी होगी। अभी परिंदों ने चहचहाना शुरू नहीं किया है जा और कागज़ पर लिख दे कि तूने अपनी आत्मा मुझे दी और अपने दस्तखत कर दे।"

"हुज़ूरे अनवर!" फ्योदर ने बड़े अदब से कहा। 'जब आपने मुझे जूते बनाने को कहा था तो मैंने आपसे कोई एडवांस नहीं लिया था। पहले काम पूरा होना चाहिए तभी पैसे की माँग करनी चाहिए।"

"चलो ठीक है!" ग्राहक मान गया। अचानक तंदूर में एक सुर्ख लपट उठी, घना गुलाबी धुआँ फैल गया और ताज़े मुर्गे के परों के जलने की बदबू कमरे में भर गयी। धुआँ छंट जाने के बाद फ्योदर ने अपनी आँखें मलीं और देखा कि वह न तो अब फ्योदर है और न ही मोची। पर कोई दूसरा ही आदमी है जिसके गले में माला है, जिसने गोटे की वास्कट और नयी पतलून पहनी हुई है और वह एक बड़ी मेज़ के सामने आराम कुर्सी में बैठा झूल रहा है। दो नौकर उसे खाना खिला रहे थे, अदब से नीचे सिर झुकाये हुए कह रहे थे— "हुज़ूरे अनवर! थोड़ा और खाइए! पेट भर खाइए!"

क्या रईसी है! नौकरों ने भैंसे के गोश्त का एक बड़ा टुकड़ा और खीरे से भरी सूप की प्लेट आगे की, इसके बाद कड़ाही में भुनी हुई बत्तख लाए, थोड़ी देर के बाद—सूअर का जैम। यह सब कितना रोचक और अच्छा है। फ्योदर खाता रहा और हर चीज़ खाने से पहले

सबसे अच्छी वोदका पीता रहा। मानों कोई जनरल हो या राजकुमार। सलामी के बाद उसे चर्बी भरा सूप पिलाया गया। फिर सूअर की चर्बी में बनाया गया आमलेट और भुना हुआ लिवर खिलाया गया। उसने सब मज़े ले लेकर खाया। और कुछ? उसे फिर खिलाया गया प्याज़ का केक, पिलाया गया क्वास के साथ भाप में बनाया गया शलजम। उसने सोचा, "कैसे ऐसा खाना खाने के बाद भी धनवान आदमी मोटे नहीं होते?" खाना हो जाने के बाद शैतान नीला चश्मा पहने हुए प्रगट हुआ, अदब से झुका– "फ्योदर पेंतलोविच, आप खाने से संतुष्ट हैं?"

पर फ्योदर का पेट इतना अफर गया था कि वह एक शब्द नहीं बोल पाया। यह तृप्ति बड़ी ही भारी और दुखदायक थी। अपने आपको थोड़ा आराम देने के लिए उसने अपने बायें पैर के जूते का मुआयना शुरू किया।

"ऐसे जूतों के लिए मैं कम से कम साढ़े सात रूबल लेता। यह किस मोची ने बनाए हैं?" उसने पूछा।

"कुज़्मा लिबेदकीन।" कोचवान ने जवाब दिया।

"उस बेवकूफ को फौरन तलब किया जाए!"

फौरन वारसा के कुज़्मा लिबेदकीन को हाज़िर किया गया। वह बड़े ही अदब से दरवाज़े पर झुका खड़ा रहा और वहीं से पूछा–"क्या हुकुम है, हुज़ूरे अनवर?"

"खामोश!" फ्योदर चिल्लाया और अपने पैर पटके, "बहस करने की ज़रूरत नहीं है और याद रख कि तू सिर्फ एक मोची है। बेवकूफ! तुझे तो जूते सीने भी नहीं आते। मैं तेरी पिटाई कर दूँगा। तू क्यों आया है?"

"पैसों के लिए, हुज़ूर!"

"कौन से पैसे? कैसे पैसे? दफा हो जा! शनिवार को आना। ऐ इंसान, इसकी गुद्दी पर एक घूंसा मार!"

तभी उसे याद आया कैसे ग्राहक उससे बदतमीज़ी से बात किया करते थे और तब उसका मन भारी हो जाया करता था। तब उसने अपना मन दूसरा करने के लिए जेब में से नोटों का बंडल निकाला और उन्हें गिना। नोट बहुत थे पर वह और ज़्यादा चाहता था। नीला चश्मा पहने शैतान एक और पहले से मोटा बंडल ले आया पर उसे बड़े बंडल की चाह होने लगी। जितनी ज़्यादा देर तक वह नोट गिनता, उतना ही और ज़्यादा असन्तुष्ट हो जाता।

शाम को शैतान लाल कपड़ों में एक लम्बी और गदरायी औरत ले आया और कहा ये उसकी नयी पत्नी है। रात तक वह उसे चूमता रहा और केक खाता रहा। रात में वह गुदगुदे और नर्म बिस्तर पर लेट गया और रात भर करवटें बदलता रहा पर किसी भी तरह सो नहीं पाया। वह बहुत बेचैन था।

"बहुत पैसा है", उसने अपनी पत्नी से कहा, "ध्यान रख, चोर चुरा ले जाएँगे। तू मोमबत्ती लेकर जा और सारा घर देख आ।"

सारी रात वह नहीं सोया और बीच-बीच में उठकर देखता रहा सन्दूक ठीक है या नहीं। पौ फटते ही सुबह की प्रार्थना के लिये गिरजाघर जाना था। गिरजाघर में तो गरीब-अमीर सभी का बराबर का दर्जा होता है। जब फ्योदर गरीब था तो ये प्रार्थना किया करता था–"हे ईश्वर, मुझ पापी को माफ कर!" अब अमीर होने के बाद भी वही प्रार्थना कर रहा था। आखिर फर्क क्या है? मरने के बाद अमीर फ्योदर को सोने और हीरों में तो नहीं दफन करेंगे। करेंगे

तो इसी काली मिट्टी में जिसमें गरीब को दफ़न करते हैं। फ्योदर भी उसी आग में जलेगा जिसमें और दूसरे मोची। फ्योदर को बहुत शर्म आयी और तभी उसका सारा बदन अकड़ गया और प्रार्थना की बजाय उसके मन में नोटों से भरे सन्दूक, चोरों और अपनी बिकी और मरी हुई आत्मा के बारे में ख्याल आया।

गिरजाघर से वह गुस्से से भरा निकला। इन बुरे ख्यालों को मन से निकालने के लिए उसने हमेशा की तरह ज़ोर से गाना शुरू कर दिया। उसने गाना शुरू ही किया था कि तभी पोलिसमैन भागता हुआ उसके पास आया और झुक कर अभिवादन करके कहा—"ऐ बैरन, कुलीनों को सड़क पर गाना मना है। आखिर आप कोई मोची नहीं है।"

फ्योदर ने अपनी कमर बाड़ से सटायी और सोचने लगा—"किस तरह से इन ख्यालों से छुटकारा पाऊँ?"

"ऐ बैरन!" दरबान ज़ोर से चिल्लाया, "बाड़ से ज़्यादा न सटें, फरकोट गंदा हो जायेगा।"

फ्योदर फिर पास की दुकान में गया और अपने लिए सबसे अच्छा हारमोनियम खरीद लिया, फिर वह सड़क पर चलने लगा और बजाने लगा। सब आते-जाते उसकी तरफ उंगलियाँ उठाते और हँसने लगते।

"यह भी कुलीन है।" कोचवान उसका मज़ाक उड़ा रहे थे, कोई मोची लगता है...।

"कुलीन को बदतमीज़ी नहीं करनी चाहिए।" पोलिसमैन ने उसे कहा, 'इससे अच्छा तो आप किसी पब में चले जाएँ!"

"हुज़ूर ईसामसीह के नाम पर भीख दे दीजिए।" भिखारियों ने उसे चारों तरफ से घेरते हुए कहा, 'कुछ भीख दे दीजिए।"

पहले जब वो मोची हुआ करता था तो भिखारी उसकी तरफ देखते तक नहीं थे और अब उसे रास्ता नहीं दे रहे हैं।

घर पर हरा ब्लाऊज़ और लाल स्कर्ट पहने उसकी नयी पत्नी ने उसका स्वागत किया। वह उसे प्यार करना चाहता था पर तभी उसकी कमर पर एक घूंसा मारने के लिए उसने उसे घुमा दिया और पत्नी ने बड़े ही गुस्से में कहा—"मज़दूर! बदतमीज़! बात करने की भी तमीज़ नहीं है। अगर प्यार करते हो तो हाथ चूमो। धक्का-मुक्की करना मना है।"

"ओफ! ज़िन्दगी अजीब हो गयी है।" फ्योदर सोच रहा था, "इंसान जीते हैं। पर तू गाना नहीं गा सकता, हारमोनियम नहीं बजा सकता, औरतों के साथ मज़ाक नहीं कर सकता।"

अभी वह पत्नी के साथ चाय पीने बैठा ही था कि नीले चश्मे में शैतान आ गया और कहने लगा—"सो. फ्योदर पन्तेलिच, मैंने अपना वादा पूरा किया। अब आप इस कागज़ पर दस्तखत कर दीजिए और अपनी आत्मा मुझे दे दीजिए। अब आप समझ गए हैं कि अमीर होने का क्या मतलब होता है।"

और शैतान उसे नर्क में ले गया, सीधे भट्टी में और उसके चारों तरफ भूत इकट्ठे हो गए और चिललाने लगे—"बेवकूफ! बदतमीज़! गधा!"

नर्क में कैरोसीन की बदबू उसका दम घोंट रही थी।

और तभी अचानक सबकुछ गायब हो गया। फ्योदर ने आँखें खोलीं और देखा वही अपनी मेज़, और देखे वही जूते और टीन का लैम्प। लैम्प का शीशा काला हो गया था और हल्की लौ में से बदबूदार धुआँ आ रहा था। वैसे ही जैसे भट्ठी के पाइप में से आता है। साथ

ही नीला चश्मा पहने एक ग्राहक खड़ा गुस्से में चिल्ला रहा था—"बेवकूफ! बदतमीज़! गधा! मैं अभी तुझे बताता हूँ, बेवकूफ!" "दो हफ्ते पहले आर्डर दिया था और जूते अभी तक तैयार नहीं हैं। तू समझता है मेरे पास तेरे चक्कर लगाने के लिए वक्त ही वक्त है? बदमाश धोखेबाज़!"

फ्योदर ने सिर हिलाया और जूते सीने लगा। ग्राहक देर तक उसे धमकाता रहा और गालियाँ देता रहा। आखिर जब उसका गुस्सा ठंडा हुआ तो फ्योदर ने बड़े अदब से पूछा—"हुज़ूर आप क्या करते हैं?"

"मैं आतिशबाज़ी बनाता हूँ। मैं आतिशबाज़ हूँ।"

सुबह की प्रार्थना का घंटा बज उठा। फ्योदर ने उसके जूते दिए, पैसे लिए और गिरजाघर की तरफ चल दिया।

सड़क पर आगे और पीछे रीछ की खाल से ढकी स्लेज खड़ी थी। पटरी पर गरीब आदमी, व्यापारी, अफसर और कुलीन साथ-साथ चल रहे थे...। पर फ्योदर अब अपनी किस्मत पर न तो रो रहा था और न ही अफसोस कर रहा था। उसे लगा कि गरीब और अमीर एक से ही बेवकूफ हैं। एक स्लेज में बैठकर आते हैं और दूसरे—ज़ोर से गा सकते हैं, हारमोनियम बजा सकते हैं और देखा जाए तो दोनों का अन्त एक ही है—एक कब्र और जीवन में ऐसा कुछ भी नहीं है जिसके लिए शैतान को अपनी आत्मा का एक छोटा-सा हिस्सा भी बेचा जा सके।

मूर्खों का स्वर्ग

❑ इसाक वेशेविस सिंगर

अंगेज़ी से अनुवाद : स्वयं प्रकाश

[पोलैंड में 21 नवम्बर, 1902 को जन्मे प्रख्यात अमेरिकी यहूदी लेखक इसाक वेशेविस सिंगर यहूदी साहित्य आंदोलन के अग्रणी रचनाकार हुए हैं। उन्होंने पहले यिद्दिश में लिखा और प्रकाशित किया, बाद में संपादकों के सहयोग से स्वयं अंग्रेज़ी में अनुवाद किया। सिंगर को 1978 में साहित्य का नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ। 14 जुलाई, 1991 को फ्लोरीडा, अमेरिका में उनका देहांत हुआ। —सं.]

किसी समय किसी देश में काडिश नाम का एक रईस आदमी रहता था। उसका एक ही बेटा था जिसका नाम था अत्ज़ेल। काडिश के घर अक्साह नाम की एक अनाथ लड़की भी रहती थी, जो उनके दूर के रिश्ते में कोई थी। अत्ज़ेल का कद लम्बा, आँखें काली और बाल भी काले थे। अक्साह की आँखें नीली और बाल सुनहरे थे। दोनों लगभग एक ही उम्र के थे। दोनों साथ खाते, साथ खेलते और साथ पढ़ते थे और यह मानकर चला जा रहा था कि बड़े होने पर इन दोनों की आपस में शादी कर दी जाएगी।

लेकिन अभी वे छोटे ही थे कि अत्ज़ेल अचानक बीमार पड़ गया। उसे एक ऐसी बीमारी हो गयी जिसके बारे में आज तक किसी ने न देखा था, न सुना था। उसे वहम हो गया कि वह मर गया है। उसने मान लिया कि वह सचमुच मर गया है।

ऐसी वाहियात बात हुई कैसे? बात यह थी कि अत्ज़ेल की एक बूढ़ी दाई थी, जो उसे तरह-तरह की कहानियाँ सुनाया करती थी। उसने नन्हें अत्ज़ेल के मन में बिठा दिया था कि स्वर्ग में न किसी को काम करना पड़ता है न पढ़ाई। वहाँ रोज़ जंगली बैल के गोश्त और व्हेल मछली के शोरबे जैसी लज़ीज़ चीज़ें खाने को मिलती हैं, भगवान द्वारा विशेष लोगों के लिए सुरक्षित मदिरा पीने को मिलती है और सुबह जल्दी भी नहीं उठना पड़ता।

अत्ज़ेल आलसी स्वभाव का था। उसे सुबह जल्दी उठने और पढ़ाई करने से नफरत थी। उसे मालूम था कि उसे एक न एक दिन बाप का धंधा सम्भालना पड़ेगा, और इसकी उसे ज़रा भी इच्छा नहीं थी।

लेकिन स्वर्ग जाने के लिए मरना ज़रूरी था, इसलिए उसने ठीक यही करने की ठानी जितनी जल्दी हो सके। उसने मरने के बारे में इतना सोचा कि उसे वहम हो गया कि वह मर ही गया है।

अत्ज़ेल के माँ-बाप उसकी यह हालत देखकर चिन्ता में पड़ गये। अक्साह अकेले में रोती। परिवार ने अत्ज़ेल को समझाने की हरचन्द कोशिश की कि वह मरा नहीं, ज़िन्दा है, लेकिन अत्ज़ेल न माना। वह यही कहता—आप लोग मुझे दफना क्यों नहीं देते? देखते नहीं मैं मर गया हूँ। आप लोगों की वजह से मैं स्वर्ग में नहीं जा पा रहा हूँ।

अत्ज़ेल के इलाज के लिए अनेक हकीमों को बुलवाया गया। सबने उसे समझाने की कोशिश की—"देखो! तुम बोल रहे हो! खा रहे हो? मुरदे कहीं खाते-बोलते हैं?"

अत्ज़ेल ने बोलना छोड़ दिया और खाना-पीना भी एकदम कम कर दिया। वह धीरे-धीरे पीला पड़ने लगा। घरवालों को डर लगा कि कहीं वह सचमुच ही न मर जाये। मजबूर होकर काडिश एक मशहूर और आलिम विशेषज्ञ की शरण में गया। विशेषज्ञ का नाम डॉक्टर योएत्ज़ था। उन्होंने काडिश की बात ध्यान से सुनी और कुछ देर सोचने के बाद कहा—"मैं आठ रोज़ में तुम्हारे बेटे को चंगा कर दूँगा। लेकिन मेरी एक शर्त है। तुम्हें वही करना पड़ेगा जो मैं कहूँगा, मेरी बात तुम्हें कितनी ही अटपटी या अजीब क्यों न लगे!"

काडिश राज़ी हो गया। मरता क्या न करता। डॉ. योएत्ज़ ने अगले दिन काडिश के घर आने का वादा कर लिया। काडिश ने घर आकर अपनी पत्नी को, अक्साह को और नौकर-चाकरों को बुलाया और हिदायत की कि सब लोग ठीक वैसा ही करें जैसा डॉ. योएत्ज़ उनसे करने के लिए कहें। क्या, क्यों कुछ न पूछें।

डॉ. योएत्ज़ के घर आने पर उन्हें अत्ज़ेल के कमरे में ले जाया गया। अत्ज़ेल अपने पलंग पर निश्चल लेटा हुआ था। खाना-पीना छोड़ देने से उसका चेहरा पीला पड़ गया था।

डॉ. योएत्ज़ ने अत्ज़ेल को एक नज़र देखा और डांटकर कहा—"तुम लोग इस लाश को घर में क्यों रखे हुए हो? इसे दफनाते क्यों नहीं?"

डॉ. योएत्ज़ की यह बात सुनकर अत्ज़ेल के माँ-बाप तो बुरी तरह डर गये। लेकिन अत्ज़ेल का चेहरा खिल गया। वह मुस्कराकर बोला—"मैं कहता था न?"

काडिश और उसकी पत्नी डॉक्टर की हर बात मानने की शर्त मान चुके थे, इसलिए चुपचाप जनाज़े की तैयारियों में लग गये।

डॉक्टर के अनुरोध पर घर के एक कमरे को स्वर्ग की तरह सजा दिया गया। कमरे की दीवारों पर सफेद साटन के भारी परदे टाँग दिये गये। खिड़की-दरवाज़े बन्द कर दिये गये और बाहर की रोशनी भीतर न आ सके इसके लिए उन पर बाहर से काले कागज़ चिपका दिये गये। दिन-रात मोमबत्तियाँ जलाने का इन्तज़ाम किया गया और नौकरों को सफेद पोशाकें पहनाकर और पंख बाँधकर फरिश्तों की भूमिका निभाने के लिए तैयार कर लिया गया।

अत्ज़ेल को एक खुले ताबूत में लेटा दिया गया और जनाज़े की तमाम रस्में अदा की गयीं। अत्ज़ेल खुशी के मारे इस कदर निढाल था कि उसे उसी वक्त नींद आ गयी। जब उसकी आँख खुली तो उसने अपने आपको एक अनजान कमरे में पाया।

"मैं कहाँ हूँ?" उसने पूछा।

"आप स्वर्ग में हैं मेरे आका।" एक पंखवाले नौकर ने जवाब दिया।

"मुझे बड़े ज़ोर की भूख लगी है।" अत्ज़ेल ने कहा। फिर बोला—"मेरे लिए थोड़ा व्हेल मछली का गोश्त और पवित्र मदिरा लाओ।"

नौकर ने ताली बजायी और कमरे में सफेद पोशाकों और पंखोंवाले अनेक नौकर-नौकरानी सोने की तश्तरियों में व्हेल मछली का शोरबा और गोश्त, अनानास, आड़ू, अनार वगैरह लेकर नमूदार हो गये। सफेद दाढ़ीवाला एक लम्बा नौकर हाथ में एक मदिरा का पात्र ले आया।

अत्ज़ेल ने छककर खाना खाया। भोजन के बाद उसने सोने की ख्वाहिश ज़ाहिर की।

नौकरों ने उसके कपड़े बदले, उसे गुसल करवाया और उसे रेशम की चादरों में लेटाकर मखमल की रज़ाई ओढ़ा दी। अत्ज़ेल लेटते ही गहरी सुखद नींद में डूब गया।

जब अत्ज़ेल सोकर उठा, सुबह हो चुकी थी। लेकिन उस कमरे में सुबह क्या और शाम क्या परदे गिरे हुए थे और मोमबत्तियाँ जल चुकी थीं। जैसे ही नौकरों ने देखा कि अत्ज़ेल सोकर उठ गया है, वे उसके लिए ठीक वैसा ही भोजन ले आये जैसा उसने कल खाया था।

अत्ज़ेल ने पूछा—"यहाँ दूध, कॉफी, ताज़ा रोल और मक्खन नहीं मिल सकता?"

"नहीं मेरे आका स्वर्ग में सब लोग हमेशा एक ही खाना खाते हैं।"

"दिन हो गया? या अभी रात ही है? अत्ज़ेल ने फिर पूछा।

"स्वर्ग में न दिन होता है न रात।"

अत्ज़ेल ने फिर वही खाना खाया। खाना उम्दा था, लेकिन अत्ज़ेल की भूख कल की तरह तेज़ नहीं थी। खाने के बाद उसने पूछा—"समय क्या हो गया होगा?"

"स्वर्ग में समय की कोई सत्ता नहीं है मेरे आका।" नौकर ने जवाब दिया।

"अब मैं क्या करूँ?" अत्ज़ेल ने पूछा।

"स्वर्ग में मेरे आका, कोई कुछ नहीं करता।" जवाब मिला।

"दूसरे संत लोग कहाँ हैं?" अत्ज़ेल ने पूछा।

"स्वर्ग में हर परिवार के रहने के लिए अलग-अलग गृह होते हैं।"

"क्या हम एक-दूसरे से मिल नहीं सकते।"

"स्वर्ग में गृह एक-दूसरे से इतनी दूर होते हैं कि एक गृह से दूसरे गृह तक जाने में हजारों साल लग जायें।"

"मेरा परिवार कब आएगा?"

"आपके पिता के जीवन के अभी बीस साल बाकी हैं और माँ के तीस। जब तक वे जीवित हैं यहाँ नहीं आ सकते।"

"और अक्साह?"

"उसे अभी पचास साल और जीना है।"

"इतने दिन मुझे अकेले रहना होगा?"

"हाँ मेरे आका।"

कुछ देर अत्ज़ेल गर्दन लटकाये सोच में पड़ा रहा और फिर उसने पूछा—"और अक्साह क्या कर रही होगी?"

"इस समय तो वह आपका सोग मना रही है, लेकिन देर-सबेर वह आपको भूल जाएगी, किसी और नौजवान से उसकी मुलाकात होगी और वह उससे शादी कर लेगी। जीवन में ऐसा ही होता है।"

अत्ज़ेल बिस्तर से उठ खड़ा हुआ और कमरे में इधर-उधर बेचैनी से चक्कर काटने लगा। जीवन में पहली बार उसे कुछ काम करने की इच्छा हो रही थी, लेकिन उसके स्वर्ग में करने को कोई काम नहीं था। उसे अपने पिता की याद आयी, माँ की कमी अखरी और प्यारी अक्साह की जुदाई खलने लगी। उसने सोचा काश! कुछ पढ़ने को ही होता। उसने कल्पना की कि वह किसी यात्रा पर निकल पड़ा है। वह अपने घोड़े पर सवारी करने और दोस्तों से गपशप करने को तड़पने लगा।

शीघ्र उसके लिए अपनी उदासी को छिपाये रखना नामुमकिन हो गया। उसने नौकर से कहा—“अब मुझे लग रहा है कि ज़िन्दगी इतनी बुरी नहीं है जितनी मैं सोचता था।”

“ज़िन्दगी सरल नहीं है मेरे आका।” नौकर बोला।... वहाँ पढ़ना-सीखना पड़ता है, खटना, काम करना पड़ता है, काम-धंधा करना पड़ता है। यहाँ सब चीज़ें बगैर हाथ-पैर हिलाए मिल जाती हैं।”

“यहाँ पड़े रहने की बजाय तो मैं लकड़ी चीरना या पत्थर ढोना ज़्यादा पसन्द करूँगा। पता नहीं कब तक ऐसे ही पड़े रहना पड़ेगा।” अत्ज़ेल बुदबुदाया।

“अनन्त काल तक।” नौकर बोला।

“अनन्त काल तक वहाँ?” अत्ज़ेल अपने बाल नोचने लगा। ...“इससे तो अच्छा है कि में आत्महत्या कर लूँ। खुद को खत्म कर डालूँ। मर जाऊँ।”

“मरा हुआ आदमी दोबारा नहीं मर सकता मेरे आका।” नौकर बोला।

आठवें दिन जब अत्ज़ेल हताशा की चरम स्थिति में था, पहले से सिखाया-पढ़ाया एक नौकर आया और अत्ज़ेल से बोला—“मेरे आका! एक भारी भूल हो गयी है। आप मरे नहीं हैं। आपको स्वर्ग छोड़ना पड़ेगा।”

“मैं जिन्दा हूँ!!”

“हाँ, आप ज़िन्दा हैं। और मैं आपको धरती पर छोड़ आऊँगा।”

अत्ज़ेल की खुशी का पार नहीं रहा। नौकर ने अत्ज़ेल की आँखों पर पट्टी बाँधी और घर के गलियारों में काफी देर इधर-उधर घुमाने के बाद उस कमरे में ले आया जिसमें अत्ज़ेल का परिवार उसकी प्रतीक्षा कर रहा था, और उसकी आँख की पट्टी खोल दी।

यह एक सुहाना दिन था। कमरे की खुली खिड़कियों से बाहर बगीचे में फैली सुनहरी धूप दिखाई दे रही थी। पंछी चहचहा रहे थे और मधुमक्खियाँ गुनगुन कर रही थीं। उल्लसित होकर अत्ज़ेल अपने माँ-बाप और अक्साह से लिपट गया और उन्हें चूमने लगा।

पढ़ाई पूरी करने के बाद अत्ज़ेल ने पिता का कारोबार सम्हाल लिया। कुछ रोज़ बाद अक्साह के साथ उसकी शादी हो गई।

शादी में दूर-दूर से मेहमान आये। डॉ. योएत्ज़ को मुख्य अतिथि के रूप में बुलाया गया। साज़िन्दों ने अपने वाद्यों पर मीठी-मीठी धुनें बजायीं। मेहमान नवविवाहित दम्पति के लिए खूब सारे उपहार लाये। शादी का जश्न सात दिन तक चला।

शादी के बाद ही अत्ज़ेल को पता चल सका कि किस तरह डॉ. योएत्ज़ ने उसका इलाज किया था। और कि वह आठ दिन “मूर्खों के स्वर्ग” में रहा था। बाद के सालों में अक्साह और अत्ज़ेल ने इस चमत्कारी इलाज़ की कहानी अपने बेटों-पोतों को सुनाई और हर बार कहानी के अन्त में यह ज़रूर कहा—“लेकिन वास्तव में स्वर्ग कैसा होता है, यह कोई नहीं जानता।”

अलविदा कोरडेरा

❑ लियोपोल्डो अलास

अंग्रेज़ी से अनुवाद : प्रमीला गुप्ता

[लियोपोल्डो अलास : (1851-1901) जन्म जमोरा (स्पेन) में हुआ। कानून की पढ़ाई के लिए मैड्रीड गए, वहाँ पत्रकार व साहित्य समीक्षक के रूप में भी काम किया। कुछ वर्ष राजनीतिक अर्थव्यवस्था तथा विधि विभाग में अध्यापन भी किया, मगर लेखक के रूप में प्रख्यात हुए। उनके कालजयी उपन्यास और कहानियाँ स्पहानी साहित्य की अमूल्य धरोहर है।]

वे तीन थे—रोज़ा, पिनिन और कोरडेरा। तीनों हमेशा एक साथ रहते थे। एक पहाड़ी के नीचे कालीन की तरह बिछी हुई मखमली घास का तिकोना टुकड़ा था—"सोमोन्टे चरागाह"। इसका एक कोना ओवेडो से गीज़ोन तक जानेवाली रेल की पटरी तक जाता था। चरागाह के एक कोने में ध्वजस्तम्भ की तरह खड़ा बिजली का खम्भा रोज़ा और पिनिन के लिए अजीब, रहस्यमय था। वह डरावना था और उसको न देखना ही अच्छा था।

हर रोज़ उस शान्त, निश्चल खम्भे को देखते रहने तथा गम्भीरता से विचार करने के बाद पिनिन इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि वह एक सूखे पेड़ के सिवाय और कुछ नहीं था। उस पर लटके काँच के कप अजीब फल की तरह दिखाई देते थे। उसने हिम्मत जुटाकर ऊपर तारों तक पहुँचने की कोशिश की। वह उन कपों तक कभी नहीं गया, क्योंकि उन्हें देखने पर उसे चर्च में रखे पवित्र बर्तनों की याद आ जाती थी। दोबारा नीचे हरी घास में पाँव रखने के बाद ही उसका डर दूर होता था।

रोज़ा कम साहसी थी, परन्तु वह भी अनजान वस्तु के प्रति अत्यधिक आसक्त थी। वह घंटों उस बिजली के खम्भे के नीचे बैठी रहती। देवदार वृक्षों के बीच से होती, हवा में गूँजती धातु की तारों से निकलने वाली जादुई संगीत की ध्वनि को सुनती रहती।

कई बार ये तरंगें संगीत की तरह सुनाई देतीं तो कई बार तारों के बीच से खुसर-पुसर की आवाज़ आती। यह जानने में कोई दिलचस्पी नहीं थी कि दूसरी तरफ रहनेवाले लोग एक-दूसरे से क्या बात करते थे। उसके लिए इस बात का कोई अर्थ नहीं था। वह तो केवल संगीत में छिपे रहस्य और मधुर ध्वनि को सुनने में मग्न रहती थी।

अधिक उम्र हो जाने पर भी 'कोरडेरा' उनके लिए दोस्त से बढ़ कर थी। वह दुनिया से बेखबर टेलीग्राफ खम्भे को दूर से केवल एक निर्जीव वस्तु की तरह देखती रहती। उससे वह अपने शरीर को रगड़ सकती थी।

'कोरडेरा' एक गाय थी। उसने जीवन के अनेक रंग देखे थे। वह चरागाह में घास चरने की अपेक्षा अपना अधिक समय चिन्तन में व्यतीत करती थी। स्वच्छ, निर्मल आकाश, शान्तिपूर्ण पृथ्वी को देखकर तथा शान्त जीवन से खुश रहती थी। चिन्तन द्वारा अपने मस्तिष्क

को उत्कृष्ट बनाने का प्रयास करती।

जिन बच्चों की रखवाली करना उसका काम था, वह उनके खेलों में शामिल होती। यह सोचकर कि उसकी रखवाली करने, चरागाह से बाहर न जाने तथा रेल की पटरी से दूर रखने का काम (मानों वह उधर जाने के लिए बेताब हो) रोज़ा और पिनिन को सौंपा गया था, कोरडेरा मन ही मन मुस्कुराती। भला उसे रेल की पटरी पर जाने की ज़रूरत ही क्या थी।

इधर-उधर देखे बिना, सिर झुकाए वह खुश होकर चुपचाप बढ़िया घास खाती। पेट भर जाने पर विचारमग्न हो जाती। केवल कष्टों के बारे में न सोचकर खुशियों का भी रसास्वादन करती। उसके लिए केवल जीवन ही अर्थपूर्ण था, बाकी सब निरर्थक। रेल के आगमन ने उसके मन की शान्ति भंग कर दी थी। जब पहली बार उसने पटरी पर ट्रेन को गुज़रते देखा तो वह डर से काँपने लगी थी। वह पत्थर की दीवार फांद कर पड़ोस के खेत में दूसरे पशुओं के झुंड में छिप गई थी। बहुत दिनों तक वह डरी रही। सुरंग से बाहर रेल के इंजिन के आने की आवाज़ सुनकर वह हिंसक हो उठती। धीरे-धीरे उसको विश्वास होने लगा कि रेल नुकसानदेह नहीं थी। वह बेकार में चिन्तित थी। मुसीबत जैसी कोई बात नहीं थी। फिर उसने डरना बन्द कर दिया। सिर नीचा कर वह अपनी सुरक्षा का ध्यान रखती। बाद में तो वह लेटे-लेटे रेल को ताकती रहती। मन से अविश्वास व घृणा की भावना समाप्त हो जाने पर उसने उस ओर देखना भी बन्द कर दिया था।

नयी रेल ने रोज़ा और पिनिन के मन पर अच्छा प्रभाव छोड़ा था। शुरू-शुरू में डरावने अन्धविश्वासों के साथ-साथ उनमें बहुत ज़्यादा जोश था। दोनों बच्चे खुशी से नाचते और ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाते थे। धीरे-धीरे रेल में एक अनोखा परिवर्तन दिखाई दिया। अब रेल दिन में कई बार उधर से गुज़रती। साँप की तरह तेज़ी से बलखाती रेल के डिब्बों में बहुत से अजनबी लोग बैठे रहते थे।

रेल और टेलीग्राफ का आकर्षण थोड़े ही दिन रहा। जल्दी ही वह सोमोन्टे चरागाह के शान्त वातावरण में विलीन हो गया। अब न तो अजनबी लोग दिखाई देते और न ही बाहरी दुनिया की आवाज़ सुनाई देती थी।

हर रोज़ सुबह सूरज की तपिश तथा मच्छरों की मिनमिनाहट के बीच दोनों बच्चे गाय के साथ चरागाह से घर लौटने के लिए दोपहर का इन्तज़ार करते। लम्बी, उदास दोपहर के बाद रात की प्रतीक्षा करते।

परछाइयाँ लम्बी होती जातीं, पक्षियों की चहचहाहट भी बन्द हो जाती, गहरे काले आकाश में इक्का-दुक्का तारा दिखाई देता। रोज़ा और पिनिन दोनों निश्छल, गम्भीर व शान्त स्वभाव के थे। वे कोरडेरा के पास चुपचाप बैठे अपने सपनों की दुनिया में खोए रहते थे। बीच-बीच में गाय के गले में बंधी घंटी की मधुर आवाज़ इस चुप्पी को तोड़ देती थी।

बच्चे एक हरे फल के दो अलग न होनेवाले टुकड़ों की तरह थे। इस बात से अनजान कि उन दोनों में क्या भिन्नता थी, वे दो क्यों थे, दोनों में अटूट प्रेम बन्धन था। उनका यह प्रेम माँ स्वरूप गाय कोरडेरा तक सीमित था। गाय कोरडेरा भी चुपचाप सामर्थ्यानुसार अपने रक्षक बच्चों को प्यार लौटाने का प्रयास करती। उनके मनगढ़ंत खेलों में शामिल होकर वह असाधारण धैर्य और सहनशक्ति का परिचय देती। कई बार अच्छा व्यवहार न होने पर भी वह अपना संयम न खोकर शान्त रहती थी।

रोज़ा व पिनिन के पिता एन्टन-द-चिन्टास ने थोड़े दिन पहले ही "सोमोन्टे चरागाह" खरीदी थी। कोरडेरा को इस हरी-भरी चरागाह में घूमते हुए बहुत आनन्द आता था। इससे पहले उसको आम सड़कों के किनारे उगी घास-पत्तियों को इधर-उधर घूम-घूम कर चरते हुए पेट भरना पड़ता था।

गरीबी के उन दिनों से भी रोज़ा और पिनिन उसके लिए सबसे बढ़िया जगह ढूँढते। सार्वजनिक स्थानों पर घास चरनेवाले पशुओं के साथ लोगों के दुर्व्यवहार से वे सदैव उसकी रक्षा करते थे। गोसारा में घास, शाक-सब्ज़ी, चारे की कमी होने पर बच्चे भूखी और कमज़ोर गाय की छोटी-छोटी ज़रूरतों को पूरा करते। इससे कोरडेरा के लिए ज़िन्दगी आसान हो जाती थी। बछड़ों को जन्म देने तथा बाद में उनका दूध छुड़ाने जैसे साहसपूर्ण कार्य में, जब यह निश्चित करना अनिवार्य हो जाता था कि कितना दूध चिन्टास को मिलना चाहिए और कितना बछड़े को, तब भी रोज़ा और पिनिन हमेशा कोरडेरा का साथ देते थे। वे चुपके से नन्हें बछड़े की रस्सी खोल आते थे। बछड़ा खुशी से पागल हो, कूदता-फाँदता, माँ के बड़े से शरीर की छाया तले दूध पीने के लिए भाग जाता था। उस समय कोरडेरा अपना सिर उठा कर दोनों बच्चों को प्यार व कृतज्ञता भरी नज़रों से देखती।

ऐसे बन्धन न तो कभी टूटते हैं, न ही ऐसी यादें कभी मिटती हैं।

एन्टन-द-चिन्टास को यह विश्वास हो गया था कि उसका जन्म किसी अशुभ नक्षत्र में हुआ था। गोसारा में पशुओं की संख्या बढ़ाने का उसका सुनहरा सपना कभी पूरा नहीं होने वाला था। हर तरह से बचत करने तथा तंगी में दिन गुज़ारने के बाद उसने यह गाय खरीदी थी। दूसरी गाय खरीदने की बात तो दूर, वह मकान का किराया भी नहीं दे पा रहा था। सम्पत्ति के नाम पर उसके पास केवल 'कोरडेरा' ही बची थी। वह उसके परिवार का एक हिस्सा थी। उसकी पत्नी ने मरते समय कहा था कि वे गाय को हमेशा अपने साथ रखेंगे। इस पर भी वह महसूस करने लगा था कि 'कोरडेरा' को बेचना ज़रूरी होता जा रहा था।

गोसारा के साथ मकई के सरकंडों की दीवार से सटे कमरे में मृत्युशैया पर पड़ी पिनिन व रोज़ा की माँ ने अपनी थकी-थकी नज़रें 'कोरडेरा' की तरफ घुमाई थीं। मानों वह मौन स्वर में बच्चों की माँ की ज़िम्मेदारी उसको सौंप रही हो, उनको यह प्यार देने के लिए कह रही हो, जो पिता नहीं दे पाते।

एन्टन-द-चिन्टास इसके लिए उसका अतीव आभारी था। यही कारण था कि उसने बच्चों को गाय बेचने की ज़रूरत के बारे में कुछ नहीं बताया था।

एक शनिवार को सूरज निकलने से पहले पिनिन और रोज़ा को सोता छोड़कर वह भारी मन से कोरडेरा को साथ लेकर गिज़ोन की तरफ चल पड़ा।

जागने पर बच्चों ने पिता और कोरडेरा को नहीं देखा। पिता के अचानक कोरडेरा को साथ ले जाने की बात बच्चों की समझ में नहीं आई। उन्हें इस बात का विश्वास था कि गाय को वे जबर्दस्ती अपने साथ ले गए होंगे। शाम को जब पिता थके-हारे, धूल-मिट्टी से सने गाय के साथ वापिस लौटे और बच्चों को अपने जाने का कारण नहीं बता पाए, तब बच्चों को भारी खतरे का आभास हो गया था।

उस दिन गाय का सौदा नहीं हो पाया था। प्यार और मोह के भ्रम में उसने गाय का इतना ज़्यादा मूल्य मांग लिया था, जिसे देने के लिए कोई भी तैयार नहीं था। यदि कोई

खरीदार उसके मांगे गए मूल्य पर मोल-तोल करने की कोशिश करता तो वह गुस्से में भड़क उठता था। उसने अपने मन को इस तर्क से समझाने की कोशिश की कि वह तो गाय को बेचने के लिए तैयार था, परन्तु वे लोग कोरडेरा का उचित मूल्य देने के लिए तैयार नहीं थे। पशुओं के साथ वापिस लौट रहे दूसरे किसानों, जो मनुष्य और पशुओं के संवदेनशील मूल सम्बन्धों के बारे में जानते थे, के साथ वह भी अपने घर की तरफ लौट चला।

भावी खतरे की आशंका से पिनिन और रोज़ा का मन बेचैन रहने लगा था। जल्दी ही उनकी आशंका सच में बदल गई। मकान मालिक घर खाली करने की धमकी दे गया था। कोरडेरा को बेचना ज़रूरी हो गया था, भले ही वह मिट्टी के मोल क्यों न बिके!

अगले शनिवार पिनिन अपने पिता के साथ कोरडेरा को लेकर पास के शहर की मार्केट में गया। वहाँ हथियारों से लैस कसाइयों को देखकर वह डर गया। उन्हीं में से एक को गाय बेच दी गई। उसने गाय पर मोहर लगाकर वापिस भेज दिया। पूरे रास्ते गाय के गले में बंधी घंटी की उदास आवाज़ आती रही।

एन्टन खामोश था। पिनिन की आँखें लाल सुर्ख और सूजी हुई थीं। गाय के बिक जाने की बात सुनकर रोज़ा, कोरडेरा के गले में बाहें डालकर सुबकने लगी।

आनेवाले कुछ दिन "सोमोन्टे चरागाह" में बहुत उदास थे। अपने भाग्य से बेखबर 'कोरडेरा' गर्दन पर फरसे के घातक वार होने तक शान्त, गम्भीर रहनेवाली थी। पिनिन और रोज़ा उसके भविष्य के बारे में सोचकर बहुत व्याकुल थे। दोनों चुपचाप घास पर लेटे रहते थे।

वे अब टेलीग्राफ की तारों और पटरी पर चलनेवाली रेलगाड़ियों को घृणा से देखने लगे थे। उनके विचार में इन्हीं के कारण दुनिया दूर-दूर तक आपस में जुड़ गई थी। उस बड़ी दुनिया ने ही उनसे उनकी एकमात्र दोस्त और साथी को छीन लिया था।

जुदाई का वक्त आ पहुँचा। कसाई आया। वह अपने साथ गाय की तय की गई रकम भी लाया था। एन्टन ने उससे थोड़ी वाइन पीने का आग्रह किया। वाइन पीते-पीते वह गाय के गुणों का बखान करने लगा। उसके विचार में कोरडेरा ऐसे मालिक के पास जा रही थी, जो उसके साथ अच्छा व्यवहार करेगा और वह खुश रहेगी। वाइन तथा ज़ेब में रखे पैसों के नशे में उत्तेजित होकर वह गाय के घरेलू गुणों, दूध उत्पादन की क्षमता, शान्त पालतू पशु की तरह रहने की आदत की प्रशंसा करता जा रहा था। सामने बैठा आदमी मुस्कुरा रहा था। वह जानता था कि गाय के भाग्य में क्या लिखा था।

पिनिन और रोज़ा ने एक-दूसरे के हाथ कस कर पकड़ रखे थे। वे कोरडेरा को कसाई के साथ जाते हुए देख रहे थे। कोरडेरा के साथ बिताए समय को याद करके वे दुःखी हो रहे थे। जाने से पहले दोनों उसकी गर्दन से लिपट गए और चुम्बनों की बौछार कर दी। तंग सड़क पर अजनबी के साथ जाती असहाय गाय के साथ बच्चे थोड़ी दूर तक उदास चलते रहे। सीमा पर लगी बाड़ की ओट में गाय के ओझल होने पर वे रुक गए।

उनको पालनेवाली माँ उनसे हमेशा के लिए बिछुड़ गई थी।

"अलविदा कोरडेरा!" ज़ोर-ज़ोर से रोते हुए रोज़ा चिल्लाई, "अलविदा कोरडेरा, अलविदा माँ!"

पिनिन ने भी रुँधी आवाज़ में दोहराया, "अलविदा कोरडेरा!"

गाय के गले में बंधी घंटी ने भी आखिरी बार दुःखी स्वर में जवाब दिया, "अलविदा!"

उसका पवित्र रुदन अँधेरों में गूँजती ध्वनियों में गुम हो गया।

अगले दिन सूरज निकलने से पहले ही पिनिन और रोज़ा "सोमोन्टे चरागाह" पर पहुँच गए। वहाँ पर डरावना सन्नाटा छाया हुआ था। इससे पहले वह चरागाह कभी बेकार मरुस्थल नहीं दिखाई दी थी।

सुरंग से धुआँ उगलती रेल अचानक बाहर आई। एक बड़े से बन्द डिब्बे की छोटी-छोटी खिड़कियों से ठूंस-ठूंस कर भरे हुए पशु दिखाई दे रहे थे।

अब बच्चों को दुनिया में लालच की बढ़ती भूख पर विश्वास हो गया। दोनों गुस्से से रेल की तरफ मुक्के मार रहे थे।

"वे उसको बूचड़खाने ले जा रहे हैं।"

"अलविदा कोरडेरा।"

"अलविदा कोरडेरा!"

पिनिन और रोज़ा ने टेलीग्राफ की तारों और रेल की पटरी को घृणा से देखा। ये उस निर्दयी दुनिया के प्रतीक थे, जो अपने लालच की भूख को मिटाने के लिए उनकी वर्षों पुरानी साथी को उनसे दूर ले जा रही थी।

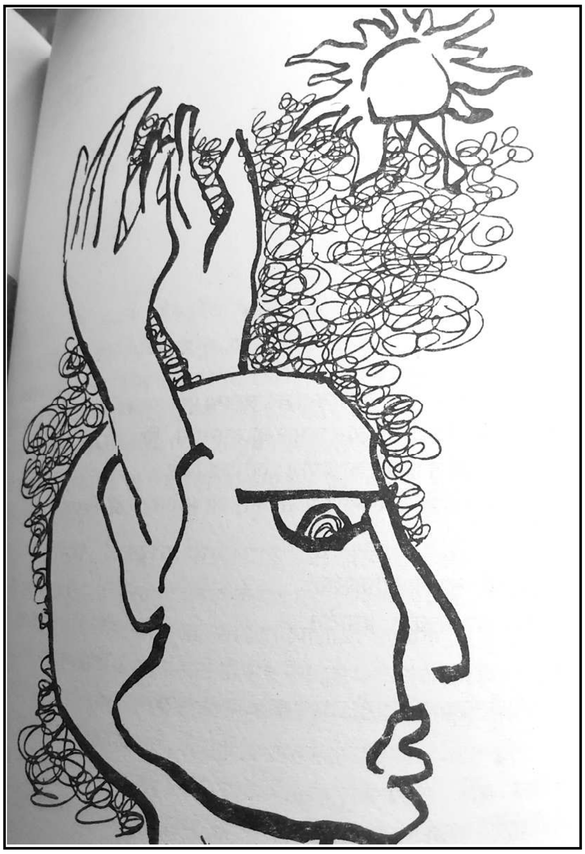

अनन्तिम

विपाशा : संपादकीय अनुभव और संस्मरण

❑ तुलसी रमण

इस विशेषांक के साथ विपाशा के 38 वर्ष पूरे हो रहे हैं। इससे पूर्व पत्रिका के दस साल होने पर 'दशक अंक' और कुल सौ अंक हो जाने पर 'शतक अंक' विशेष आयोजन के रूप में प्रकाशित किए गए थे। अब यह विशेषांक स्वतंत्रता के 'अमृत महोत्सव' और 'हिमाचल प्रदेश के पूर्ण राज्यत्व के पचास वर्ष' पूरे होने के उपलक्ष्य में निकाला जा रहा है। इसमें पत्रिका के अब तक प्रकाशित दो सौ से अधिक अंकों में से चुनी हुई रचनाएँ देने की योजना है। इस दृष्टि से यह 'रचना संचयन विशेषांक' है। इस अंक की परिकल्पना भाषा एवं संस्कृति विभाग के सचिव श्री राकेश कंवर की है। हमें इसके संपादन का दायित्व सौंपते हुए अपने पत्र में उन्होंने उल्लेख किया है कि—"विपाशा का एक विशेषांक पत्रिका की अब तक की यात्रा को समेटते हुए प्रकाशित किया जाए, साथ ही आपका एक लंबा आलेख संस्मरणात्मक विवरण देते हुए हो। यह आलेख वर्ष 1985 से इस पत्रिका की यात्रा को पाठकों के साथ सांझा करे।" लंबी अवधि से प्रकाशित हो रही साहित्यिक-सांस्कृतिक पत्रिका का भी एक जीवन चलता है, जिसके साथ कवि, कथाकार, लेखक, कलाकार, संपादक, प्रकाशक, मुद्रक आदि के रचनात्मक योगदान से असंख्य पाठकों का रिश्ता निरंतर बना रहता है। जिस तरह किसी नाटक के मंचन की परिकल्पना उसके प्रेक्षकों के बिना नहीं हो सकती, उसी तरह पाठकों के बिना पत्रिका की सार्थकता नहीं रह पाती। इन सबको मिलाकर किसी भी पत्रिका का एक रचनात्मक सामाजिक संसार बनता है।

नियमित पाठक इस बात से अवगत हैं कि विपाशा की स्थापना योजना सहित गुज़रे कुल 38 सालों में से आरंभ के 28 वर्षों तक इसका संपादन हमारे ज़िम्मे था और लंबे समय तक सहयोगी रहे वासुदेव शर्मा और अजय शर्मा ने उसके बाद उप संपादक के पद पर रहते हुए ही संपादन का निर्वाह किया। अब अकेले अजय शर्मा यह काम कर रहे हैं। समझ आता है कि इस स्थिति को जानते हुए ही पत्रिका की यात्रा सम्बंधी लेख के साथ इस अंक के संपादन का काम हमें दिया गया है। उल्लेखनीय है कि अब से पिछले दस सालों की अवधि में दस प्रशासनिक अधिकारी निदेशक के पद पर क्रमशः नियुक्त होते रहे और विपाशा के मुख्य संपादक के तौर पर उनका नाम बदस्तूर जाता रहा है, जबकि संपादक का पद कुछ अवधि तक खाली रहा और फिर समाप्त ही कर दिया गया।

वर्ष 1984 से पहले भाषा एवं संस्कृति विभाग से 'हिमभारती' पत्रिका प्रकाशित होती थी। इस विभाग के अकादमिक अनुभाग में नियुक्ति के बाद हमें उस पत्रिका का संपादन कर रहे भाषाविद श्री हरिचंद पराशर, सहायक निदेशक के साथ संपादकीय सहयोगी का काम भी मिला। 1984 के अंत में सरकार का निर्णय आया कि 'हिमभारती' पत्रिका हिमाचल कला, संस्कृति एवं भाषा अकादमी को स्थानांतरित करके विभाग से नई हिन्दी पत्रिका शुरू की

जाए। इसी के साथ नई उर्दू पत्रिका शुरू करने का निर्णय भी हुआ था जो 'जदीद फिक्रोफन' के नाम से विद्वान शायर धर्मपाल आक़िल के संपादन में चर्चित हुई थी। उन दिनों विभाग के निदेशक श्री जे. सी. दत्ता थे। वह योजनाबद्ध तरीके से काम करनेवाले प्रशासनिक अधिकारी थे। आदेश जारी करके उन्होंने नई हिन्दी पत्रिका के कार्यकारी संपादक का काम हमें दिया। पत्रिका के नाम को लेकर चर्चा चली तो हमने यथापेक्षा दस नाम प्रस्तावित किए। उन्हें एक भी नाम पसंद न आया। उनका विचार था कि नाम के शुरू में हिमाचल का बोधक हिम शब्द ज़रूर होना चाहिए। हमने तर्क दिया कि पहले ही हिमप्रस्थ, हिमशिक्षा, हिमभारती आदि नाम मौजूद हैं, सो कुछ हटकर साहित्यिक नाम होना चाहिए। इस पर दत्ता साहब ने अपनी शैली में कहा, "डायरेक्टर तुम हो या मैं हूँ? हिम वाले दस नाम चुनकर लाओ।"

अब कार्यकारी संपादक का काम निर्देशानुसार शुरू हुआ। उसी के फलस्वरूप 19 जनवरी, 1984 को दत्ता साहब के हस्ताक्षरों से पत्रिका का नाम पंजीकृत करवाने के लिए जिलाधीश शिमला को पत्र भेजा गया, जिसमें हिम आँचल, हिम संस्कृति, हिम सरिता, हिम ज्योति आदि दस हिम-मंडित नाम थे। अंततः 'हिम संस्कृति' नाम तय हुआ। हमने कवि-चित्रकार अवधेश कुमार से इस नाम का 'लोगो' तथा मुख पृष्ठ तैयार करवाया। उन्होंने लोगो के साथ पूरे पृष्ठ पर त्रिशूल का डिज़ाइन बनाया। चंबा निवासी दत्ता साहब को मणिमहेश यात्रा की स्मृति के साथ वह मुख पृष्ठ पसंद आया। आखिर विभाग की मुख पत्रिका का पहला अंक छपने को गया और मुद्रणालय की कार्य शैली के अनुसार इसे छपने में कई महीने लग गए थे। लेकिन जुलाई, 1984 में दत्ता साहब का स्थानांतरण हो गया और विभाग के निदेशक आए श्रीयुत् श्रीनिवास जोशी। उधर सरकार में श्री महाराज कृष्ण काव पहले ही अनेक विभागों के साथ भाषा-संस्कृति विभाग के भी सचिव हो गए थे। उन्होंने पत्रिका सम्बंधी पहली ही बैठक में कहा, "ये हिम ज़्यादा नहीं हो रहा? कोई नया नाम सोचो!" मैंने उन्हें हिम संस्कृति के नामकरण का प्रसंग सुनाते हुए कहा कि हमने एक सूची तैयार की थी जो फाइल में है। पत्रिका के लिए नामों की वही सूची फाइल पर प्रस्तुत की तो निदेशक जोशी जी को भी वे नाम पसंद आए। उस सूची में प्रवाह, परिष्कार, शब्द, दृष्टि, प्रतिमान आदि दस में अंतिम नाम विपाशा था। सचिव भाषा-संस्कृति से 13 फरवरी, 1985 को अनुमोदन प्राप्त होने के बाद यह प्रकरण भी जिलाधीश शिमला के माध्यम से पंजीयक, समाचार पत्र भारत सरकार तक हमारे द्वारा दस्ती ले जाया गया।

मुझे जहाँ तक याद है उन दिनों पंजीयक श्री कृपाशंकर थे। उनके दफ्तर की औपचारिकता में पूरा दिन लगा। मगर कोई नाम अछूता नहीं मिला। अंतिम नाम 'विपाशा' के लिए भी यह दिक्कत पेश आई कि 'बिपाशा' नाम जम्मू-कश्मीर के किसी पत्र-पत्रिका को दिया गया था। हमने इसके शब्द और राज्य भेद पर बात उठाई। बि और वि के भेद पर चर्चा हुई तो कार्यालय सहायक ने हमें फाइल सहित पंजीयक महोदय के कक्ष तक ले जाने की मेहरबानी की। जहाँ भी जाओ हिमाचल के प्रति लोगों का व्यवहार अच्छा रहता है। हमने अपने राज्य के मध्य में बह रही नदी के इस पौराणिक नाम का परिचय दिया तो भले आदमी कृपाशंकर जी ने स्वीकृति प्रदान करने की कृपा की। उनके नाम की मोहर वाला स्वीकृति पत्र लेकर हम दूसरे दिन कवि-चित्रकार अवधेश कुमार से मिलने देहरादून पहुँच गए। घंटाघर के निकट कृष्णा गली में उनका घर 'हिम संस्कृति' के लिए ही देख चुका था। अज्ञेय के चौथा

सप्तक के पहले कवि अवधेश कुमार प्रकाशनों के डिज़ाइन के लिए भी प्रसिद्धि पा चुके थे। इस बार उन्हें मधुशाला से ढूँढकर लाना पड़ा। मगर पत्रिका के नाम से वह खुश हुए। 'विपाशा' का 'लोगो' और मुख पृष्ठ के लिए पहाड़ की पगडंडी पर पद-चिह्नों वाला रेखांकन, उन्होंने दोनों सुबह तक तैयार कर लिए थे। यहीं से पत्रिका की यात्रा शुरू मानी जाए, जिसको लेकर हमसे इस लेख की अपेक्षा की गई है।

कभी सचमुच अच्छे दिन निकल आते हैं। ये सब काम एक सप्ताह के भीतर हो गए थे। इस बात का प्रमाण विभाग के निदेशक श्रीनिवास जोशी द्वारा सचिव भाषा-संस्कृति को सम्बोधित दिनांक 20 फरवरी, 1985 का पत्र है, जिसमें उल्लेख है कि–"आपके निर्देशानुसार विभागीय हिन्दी पत्रिका के नाम के सम्बंध में पत्रिका के कार्यकारी संपादक को पंजीयक समाचार पत्र भारत सरकार, नई दिल्ली के कार्यालय भेजा गया था। पंजीयक से पत्रिका के लिए 'विपाशा' नाम मिला है, इसके अतिरिक्त शेष सभी नामों की पत्र-पत्रिकाएँ पहले ही पंजीकृत हैं। इसलिए इस विभाग की पत्रिका का नाम 'विपाशा' होगा, जिसका पहला अंक शीघ्र प्रकाशित किया जाएगा। अपेक्षानुसार सूचना के लिए प्रेषित है।"

पत्रिका की अवधि पहले ही द्वैमासिक तय हो चुकी थी और छह फर्मों में 96 भीतरी पृष्ठ निश्चित होने के बाद विधिवत मुद्रण दरें आमंत्रित की गईं। स्थानीय भारतेंदु प्रिंटिंग प्रैस की निविदा सफल हुई। इस मुद्रणालय से लोक संपर्क विभाग की पत्रिका 'हिमप्रस्थ' भी शुरुआत में छपती रही थी और यह हिन्दी मुद्रण के लिए सुपरिचित मुद्रणालय था। इसलिए हमें खुशी थी। उस सुबह हमने लोअर बाज़ार में भारतेंदु प्रैस के लिए सीढ़ियाँ उतरीं तो भीतर मशीनों की सफाई करते हुए एक भरे शरीरवाला आदमी रामचरित मानस की चौपाइयाँ ऊँचे स्वर में गुनगुना रहा था। मेरी तरफ नज़र दी तो बड़ी आँखें गोल घुमाते हुए शानदार मूँछों में भी हाथ फेरा। हमसे आने का मकसद पूछा तो खुश होकर बोले– हिमप्रस्थ भी शुरू में हमने छापा है। फिर साहित्य चर्चा मध्यकालीन काव्य में भी रीतिकालीन कविता से शुरू हुई, जिसमें से उन्हें बहुत कुछ ज़ुबानी याद था। वही रसिक व्यक्ति राजेन्द्र पाल सूद प्रैस के मालिक थे। उनके दफ्तर में हिन्दी के विख्यात साहित्यकारों के बड़े चित्र फ्रेम करके टांगे गए थे। ऊपरवाले कक्ष में सारिका, साप्ताहिक हिन्दुस्तान और धर्मयुग जैसी पत्रिकाओं के अंकों का बड़ा संग्रह था। दफ्तर में साथ रखी अलमारी पर नागरी प्रचारिणी सभा का नाम अंकित था। राजेन्द्र पाल उस सभा के सचिव रह चुके थे और एक अकादमी में हिन्दी पढ़ाते भी थे। वह वास्तव में बहुआयामी हिन्दी सेवी थे। मेरे लिए उनका व्यक्तित्व रोचक होते हुए आत्मीय हो गया था।

हैंड कंपोज़िंग का ज़माना था। कंपोज़ीटर भी ज़्यादा न थे। शाम तक तीन-चार पेज के प्रूफ मिल पाते। मैं एक पेज में पंद्रह ग़लतियाँ निकालता तो राजेन्द्र पाल दस और निकाल लेते। वह भाषा और प्रूफ शोधन के माहिर थे। प्रूफ शोधन का पहला पाठ हमें हरिचंद पराशर जी ने 'हिमभारती' का काम करते हुए पढ़ाया था, अब राजेन्द्र जी ने इसे और आगे बढ़ाया। प्रैस में कर्मियों की कमी के कारण पहले अंक के मुद्रण में ही चार-पाँच महीने लग गए थे और राजेन्द्र जी ने आगे काम करने में असमर्थता जता दी थी।

विभाग से जब हिन्दी पत्रिका 'विपाशा' और उर्दू पत्रिका 'जदीद फिक्रोफन' शुरू हुईं तो सरकार ने सचिव, भाषा एवं संस्कृति की अध्यक्षता में 'विभागीय प्रकाशन समिति'

का गठन किया। इस समिति की अधिसूचना के अनुसार संयुक्त सचिव (वित्त) तथा नियंत्रक, मुद्रण एवं लेखन सामग्री विभाग इसके सदस्य तथा निदेशक, भाषा एवं संस्कृति सदस्य सचिव बनाए गए थे। वही समिति अब तक कायम है। इस समिति के कार्यों में पत्रिकाओं का अच्छा स्तर व नियमित प्रकाशन बनाए रखने के साथ इसके मुद्रण सम्बंधी निर्णय लेना तथा रचनाकारों को देय पारिश्रमिक निर्धारित करना आदि हैं। समिति की पहली बैठक श्री महाराज कृष्ण काव, प्रधान सचिव (भाषा-संस्कृति) की अध्यक्षता में हुई तो अनेक बुनियादी निर्णयों में एक कुछ इस आशय का भी था कि—'रचनाओं के चयन और संपादन के लिए पत्रिकाओं के संपादक स्वतंत्र होंगे, इसमें प्रकाशन समिति के अध्यक्ष का भी दखल नहीं रहेगा।'

इस तरह समिति ने संपादकों पर उनके काम की पूरी ज़िम्मेदारी डाल दी थी। यह काम करने की छूट भी थी और दायित्व निर्वाह का स्पष्ट संदेश भी। दोनों विभागीय पत्रिकाओं में समिति के निर्णय का दृढ़ता से पालन होता रहा है। वास्तव में प्रकाशन समिति का यह निर्णय ही विभागीय पत्रिकाओं में रचना चयन के लिए मूल आधार साबित होता रहा और इसका प्रभाव अब तक कायम है। निदेशक होने के नाते विपाशा के प्रथम मुख्य संपादक रहे श्रीनिवास जोशी खुद लेखक-कलाकार हैं। उन्होंने संपादन की दिशा में कतई दखल न देते हुए संपादकों को हमेशा प्रोत्साहित ही किया। वह पत्रिका के हर अंक को पूरा पढ़ते तथा सबसे अच्छी रचनाओं पर अपनी टिप्पणी भी देते थे। उनके बाद जुलाई, 1988 से जून, 1995 तक की लंबी अवधि में सी.आर.बी. ललित निदेशक होकर मुख्य संपादक रहे। वह भी खुद कवि, लेखक हैं, हर अंक आने पर भली प्रकार देख लेते और खुश होते थे। इसके बाद विभागीय अधिकारी हरवंस गर्ग तथा प्रेम शर्मा क्रमशः निदेशक के पद पर रहते हुए मुख्य संपादक रहे। वे भी हर अंक आने पर खुशी ज़ाहिर करते थे।

अक्तूबर, 1998 में उपन्यासकार अधिकारी पी.सी.के. प्रेम निदेशक के पद पर आकर मुख्य संपादक हुए। हमारे पूर्व परिचित थे। उन्होंने एक कार्यालय आदेश निकाला जिसमें विभाग तथा अकादमी की पत्रिकाओं की अच्छी साख होने का उल्लेख करते हुए भी दो सलाहकार समितियों का गठन किया। उन समितियों में विभाग तथा अकादमी की पत्रिकाओं के संपादक भी शामिल थे और विभाग के उप निदेशक दोनों समितियों में रखे गए थे। अकादमी की पत्रिकाओं में तत्कालीन सचिव ने उस सलाहकार समिति के नाम नहीं छापे। विभागीय पत्रिकाओं में हम ज़रूर छापते रहे। लेकिन किसी तरह की कोई सलाह नहीं मिली और न ही ली गई। उस कार्यालय आदेश के अंत में यह भी आदेश था कि—'इन पत्रिकाओं में 70 प्रतिशत हिमाचली लेखकों / रचनाकारों तथा 30 प्रतिशत प्रदेश से बाहर के साहित्यकारों को स्थान दिया जाएगा।' वास्तव में प्रशासनिक अधिकारी पर प्रदेश के ऐसे लेखकों का दबाव बना रहता था जो पत्रिका में कम स्थान पाते थे या उनकी इच्छानुसार चर्चा नहीं हो पाती थी। अपनी रचना के स्तर की बात न सोचकर वे सरकारी पत्रिका पर नागरिक अधिकार मानकर भी अपना हक जताते थे। जाहिर है यह आदेश प्रधान सचिव की अध्यक्षता वाली विभागीय प्रकाशन समिति के अधिकार को हाशिए पर छोड़ते हुए था। प्रतिशतता का गणित निकालना संपादकीय कार्य व्यवहार के अनुकूल भी न था। देश में किसी भी पत्रिका में लेखकों को इस तरह भीतर-बाहर की प्रतिशतता में नहीं बांटा जाता। लेकिन लाभार्थी लेखकों ने इसे संपादकों पर नकेल कसने का कदम मान लिया था और कुछ ने तो अपनी

रचनाएँ भी निदेशक या सलाहकार उपनिदेशक को भेजनी शुरू कर दीं थीं। इस बात से अनभिज्ञ रहते हुए कि रचनाओं के चयन का दायित्व संपादक का ही होता है। करीब सात महीने बाद पी.सी.के. प्रेम जी विभाग से विदा होने के बाद मिले तो हमने सद्भावना में उनके पाँच खंडों के उपन्यास की चर्चा छेड़ दी। तभी उन्होंने कहा कि हम लेखक भाई होते हैं। संभवतः अब वे समझ रहे थे कि प्रेरक तत्त्व हमेशा सही नहीं होता।

मार्च, 2003 में विभागीय अधिकारी श्री प्रेम शर्मा फिर से निदेशक हुए तो उन्होंने सलाहकार समितियों का वह कार्यालय आदेश 16 जुलाई, 2003 के अपने एक और कार्यालय आदेश के माध्यम से यह लिखकर निरस्त कर दिया कि—'विभागीय पत्रिकाओं की रीति-नीति दिनांक 12-11-98 से पूर्व जैसी थी, बहाल की जाती है, क्योंकि पत्रिकाओं व विभागीय प्रकाशनों के बारे निर्णय लेने के लिए सचिव, भाषा-संस्कृति की अध्यक्षता में विभागीय प्रकाशन समिति सरकार द्वारा पहले ही अधिसूचित है।' वैसे इस प्रसंग का उल्लेख यहाँ ज़रूरी न था, लेकिन पत्रिका सम्बंधी संस्मरण की बात है तो यह भी एक जीवंत संस्मरण है। इस बीच मई, 1999 से मार्च, 2003 की अवधि में श्री के. आर. भारती तथा श्रीमती अनीता तेगटा जी क्रमशः निदेशक होकर मुख्य संपादक रहे। भारती जी कवि पहले से थे अब अच्छे कहानीकार भी हो गए थे। वह 'विपाशा' का हर अंक बड़ी रुचि से पढ़ते और अपनी पसंद की रचनाओं पर प्रतिक्रिया भी देते थे। मैडम अनीता जी की रचनात्मकता फाइल के माध्यम से चलती थी। उन्होंने भी दोनों पत्रिकाओं के संपादकों को प्रकाशन सम्बंधी भरपूर सुविधाएँ देकर प्रोत्साहित किया।

सोलह दिसम्बर, 2011 को श्री राकेश कंवर विभाग के निदेशक हुए। उन दिनों मैं अकादमी में सचिव का काम देख रहा था। लेकिन विभाग में 'विपाशा' का संपादन भी दोहरे दायित्व के रहते करना ही था। उन्होंने विभाग के कुछ साहित्यिक आयोजन भी मुझे सौंप दिए जिनमें गेयटी में बिना पारिश्रमिक दिए रचना पाठ के नियमित आयोजन प्रमुख थे। यह एक नई पहल थी जिसमें विभिन्न पीढ़ियों के रचनाकार उत्साह से भाग लेते रहे। इन गोष्ठियों में प्रत्येक रचना पाठ पर समीक्षात्मक संवाद भी होता था। इस साहित्यिक प्रक्रिया से कुछ ऐसे नए रचनाकार भी निकल आए जिन्होंने अपनी विधा में पुरज़ोर लेखन शुरू किया। उसके साथ ही कैथू में साहित्यकार निर्मल वर्मा के जन्म-गृह को यादगार बनाने के उद्देश्य से विशेष आयोजन का दायित्व भी हमें सौंपा गया। अपने विभागीय सहयोगियों के साथ मिलकर निर्मल साहित्य पर एक बड़े स्तर की संगोष्ठी का आयोजन किया गया जिसमें निर्मल जी के साहित्य और लेखक व्यक्तित्त्व से जुड़े संस्मरणों को लेकर आलेख पढ़े गए। इस सामग्री को मिलाकर हमने 'निर्मल स्मृति' अंक भी तैयार कर लिया था। अक्तूबर, 2012 में मेरी सेवानिवृत्ति तक कंवर साहब के साथ केवल साढ़े दस महीने की अवधि में काम करने का मौका मिला और सार्थक काम के वे दिन यादगार बने हुए हैं।

'विपाशा' के इतिहास की एक और घटना उल्लेखनीय है। वर्ष 1992 की बात है। श्री शांताकुमार जी मुख्यमंत्री थे। उन्होंने आत्म निर्भर राज्य की दृष्टि से सरकारी खर्च में बचत की सार्थक मुहिम चलाई थी। इस नज़रिये से वे विभिन्न विभागों की समीक्षा बैठकें कर रहे थे। उस दौरान अनेक विभागों व उपक्रमों से पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही थीं। मुख्यमंत्री की साहित्यिक अभिरुचि को देखते हुए अधिकारियों द्वारा ये प्रकाशन बड़े उत्साह से उनकी

नज़र किए जाते थे। वे खुद इनके स्तर, उपयोगिता और इन पर होने वाले व्यय की समीक्षा करने में सक्षम थे। आखिर 3 फरवरी, 1992 को मुख्यमंत्री की अध्यक्षता में एक बैठक रखी गई, जिसका विषय था—विभिन्न विभागों तथा अकादमी द्वारा प्रकाशित पत्रिकाओं की समीक्षा। शिक्षा तथा भाषा-संस्कृति मंत्री डा. राधारमण शास्त्री, मुख्यमंत्री के प्रधान सचिव श्री के. सी. शर्मा, जो भाषा-संस्कृति विभाग के आयुक्त एवं सचिव भी थे, उस बैठक में शामिल थे। इनके अतिरिक्त विभिन्न विभागाध्यक्षों के साथ हमारे विभाग के निदेशक ललित जी इस बैठक में विपाशा की कुछ प्रतियाँ दिखाने के लिए साथ ले गए थे। मुख्यमंत्री ने विभिन्न पत्रिकाओं की जाँच-परख की और फैसला सुनाया। इस विषय को लेकर उनके सामने कोई तर्क देने की स्थिति में न था। दरअसल कई दिनों से शहर में चर्चा गर्म थी कि सारी पत्रिकाएँ बंद हो रही हैं, सिर्फ गिरिराज रहेगा। साहित्यकार श्रीनिवास श्रीकांत का एक लेख पत्रिकाओं की दशा-दिशा को लेकर तब किसी अखबार में छपा था, जिसका शीर्षक था—'बचेगा वही जो बचाएगा वर्तमान।' दो रोज़ बाद उस बैठक की कार्यवाही भी आ गई। जिसमें अंकित था कि—"लोक संपर्क विभाग, भाषा एवं संस्कृति विभाग तथा भाषा अकादमी द्वारा प्रकाशित हिमप्रस्थ, विपाशा, सोमसी, हिमभारती, फिक्रोफन, श्यामला तथा साप्ताहिक गिरिराज का परीक्षण करके निर्णय हुआ कि 'हिमप्रस्थ' का प्रकाशन बंद कर दिया जाए तथा 'विपाशा' जो वर्तमान में दो माह में एक बार छपती है, भविष्य में एक मासिक पत्रिका के रूप में चले। इसके प्रकाशन का दायित्व भाषा एवं संस्कृति विभाग का ही हो। 'श्यामला' भविष्य में वार्षिक रूप में छपे, 'सोमसी' में प्रकाशित होनेवाली सामग्री विपाशा में जाए तथा 'सोमसी' बंद होगी। 'हिमभारती' 'श्यामला' की तरह वार्षिक रहेगी। इनके अलावा कोई अन्य पत्रिका प्रकाशित नहीं की जाएगी।"

प्रदेश में साहित्यकारों के अपने गुट और खाने हमेशा रहते आए हैं। बैठक से पहले सुनने में आ रहा था कि विपाशा को लेकर सबसे ज़्यादा चर्चा है। कुछ इसे बंद करवाने के पक्ष में भी थे और कुछ अकादमी में ले जाना चाहते थे। इसे मासिक करने का फैसला भी होगा, ये तो सोचा न था। स्टाफ और सुविधाओं के अभाव में ये संभव न था। फिर भी हमने ज़रूरी स्टाफ का प्रस्ताव तैयार करके सरकार को भिजवाया। इस आशय के साथ कि स्टाफ मिलने पर निर्णय का अनुपालन किया जाएगा। इस बीच पुरानी पत्रिका हिमप्रस्थ को बचाने की मुहिम तेज हो गई। स्टाफ न मिलने से विपाशा विभाग में द्वैमासिक ही बनी रही और सारी हलचल थम गई।

पत्रिका और उसके संपादक के संपर्क में आनेवाले कुछ आत्ममुग्ध लेखक अपने लिखे को स्वयं उत्कृष्ट मानते हैं और संपादक की स्वीकृति न मिलने पर छद्म नाम से शिकायती पत्र भेजते रहते हैं। कोई सोशल मीडिया आदि प्रचार माध्यमों से इतने चर्चित हो जाते हैं कि उनके सिर पर शोहरत का छत्र रहता है। इसलिए उनकी रचना छापना ज़रूरी माना जाता है। सरकारी पत्रिका के साथ कुछ लेखकों का व्यवहार अलग तरह का रहता है। वे नागरिक की हैसियत से भी अपना हक जताते हैं। लेकिन कुछ लेखक सरकारी पत्रिका में पर्याप्त छपकर भी अपने परिचय में उसका उल्लेख नहीं करना चाहते। संभवतः उससे उनकी तथाकथित प्रगतिशीलता को आँच आती होगी। दूसरी ओर राजकुमार राकेश जैसे स्थापित कथाकार भी हैं जो खुले मंचों पर कहते हैं कि उनकी पहली कहानी विपाशा में छपी है।

दूसरी तरह के गंभीर लेखक अपने अध्ययन-मनन में व्यस्त रहते हुए बेहतर लेखन करते हैं। वे अपनी उत्कृष्ट रचना भी संकोच के साथ प्रकाशन को देते हैं। उनकी श्रेष्ठ रचना को पढ़कर संपादक को हर्ष होता है। हमारे यहां वरिष्ठ लेखक योगेश्वर शर्मा, पद्मगुप्त अमिताभ, वरयाम सिंह, रेखा, जयवंती डिमरी, मोहन साहिल, नवनीत शर्मा व विक्रम मुसाफिर आदि अनेक लेखक इसी स्वभाव के हैं। अरुण भारती और नरेश पंडित भी ऐसे ही संजीदा कथाकार थे। ये सब पाठकों के भी प्रिय लेखक हैं। ऐसे लेखक समझते हैं कि पत्रिका के संपादक को बेहतर रचना चाहिए। प्रकाशन से उसका नाम जुड़ा होता है। वह अपने डेस्क से अच्छी रचना नहीं लौटाएगा और खराब रचना से पत्रिका को बचाने की कोशिश करेगा। दरअसल सफल संपादक वही है जो अच्छी सामग्री जुटाकर स्तरहीन रचनाओं से पत्रिका का बचाव कर सके। खासतौर से सरकारी पत्रिका में यह काम आसान नहीं है। लेकिन जिसे समझौता करना नहीं आता, वह उसमें काफी हद तक सफल होता है।

वर्ष 1985 में जब विपाशा का प्रकाशन शुरू हुआ तो रचनाओं की कमी रहती थी। इसे पूरा करने के लिए 'निधि' स्तंभ चलाया गया। अनेक प्रख्यात हिन्दी सेवी लेखकों के परिचय के साथ उनकी कुछ चुनिंदा रचनाएँ भी इसमें दी गईं। धीरे-धीरे पत्रिका का दायरा बढ़ने लगा तो कविता, कहानी, लेख आदि भी आने लगे। 1985 में ही जोगिंद्रनगर, मंडी में 'विपाशा कथा शिविर' का आयोजन किया गया जिसमें प्रदेश के प्रमुख कथाकारों के साथ बाहरी राज्यों के चर्चित कहानीकारों ने भी भाग लिया। इसी तरह 1986 में किन्नौर के भावानगर में 'विपाशा कविता शिविर' हुआ, जिसमें प्रदेश के प्रतिनिधि कवियों के साथ लीलाधर जगूड़ी, नंदकिशोर आचार्य और अरुण कमल भी शामिल थे। इन शिविरों में पढ़ी गई रचनाएँ शिविर के संवाद सहित विपाशा के विशेष अंकों में दी गईं। इस तरह विशेषांकों का सिलसिला चल पड़ा तो विश्व कविता उत्सव भोपाल, चित्रकार अमृता शेरगिल, कवि शमशेर बहादुर सिंह, राहुल सांकृत्यायन, निराला, ज. स्वामीनाथन तथा बौद्ध संस्कृति आदि विषयक ऐसे अनेक अंक निकाले गए जो व्यापक रूप से चर्चित रहे।

'विपाशा अखिल भारतीय कहानी प्रतियोगिता' का आयोजन वर्ष 2008 में किया गया और 2009 में कहानी विशेषांक प्रकाशित हुआ, जबकि गत वर्षों में भी दो कहानी विशेषांक छप चुके थे। एक कविता विशेषांक 2006 में निकाला गया था। 'अखिल भारतीय कविता प्रतियोगिता' 2009 में घोषित की गई। आगामी वर्ष 2010 में पत्रिका के 'रजत जयंती वर्ष' के उपलक्ष्य में विशाल कविता विशेषांक निकाला गया। यह कविता विशेषांक शमशेर, अज्ञेय, केदारनाथ अग्रवाल और नागार्जुन के रचना चयन से शुरू किया गया। ये इन दिवंगत कवियों का जन्मशती वर्ष भी था।

विपाशा की विषयवस्तु में साहित्य के साथ कला और संस्कृति भी जोड़ी गई थी। इसलिए पहाड़ी लघु चित्रकला की उषा-अनिरुद्ध, हमीर हठ, रागमाला तथा नायिका भेद आदि श्रृंखलाओं के रंगीन चित्र प्रकाशित किए गए। पाठकों ने इसका स्वागत किया। वर्ष 1988 में साक्षात्कार के संपादक कवि सोम दत्त शिमला आए। उनके साथ यहाँ लंबी चर्चा हुई तो उन्होंने सुझाव दिया कि पहाड़ी लघु चित्रों में से चुनकर प्रत्येक अंक में एक रंगीन 'उपहार चित्र' दिया जाए। जनवरी-फरवरी, 1989 के अंक 24 से उपहार चित्र देना शुरू किया गया और अब तक नियमित जा रहा है।

भारतीय तथा विदेशी भाषाओं के साहित्य अनुवादकों ने अनूदित पठनीय रचनाएँ स्वतः भेजनी शुरू कीं तो इनके लिए 'भाषांतर' तथा 'देशांतर' स्तंभ चलाए गए। पाठकों ने साहित्य अनुवाद के ये स्तंभ बेहद पसंद किए। विपाशा में भी 'संस्कृति-शोध' का एक स्तंभ शुरू किया गया जिसमें व्यापक रुचि के प्रादेशिक विषय पर एक लंबा लेख नियमित दिया गया। नए रचनाकारों को आमंत्रित करने के लिए 'प्रवेश' स्तंभ भी चलाया गया था। पत्रिका की विषयवस्तु के अंतर्गत सामग्री के विविध आयाम खुलने लगे तो उसी के अनुसार विविध रुचि के पाठक भी जुड़ते चले आए।

यह बात उल्लेखनीय है कि हिमाचल के अतिरिक्त विपाशा के सर्वाधिक ग्राहक बिहार, मध्य प्रदेश और राजस्थान आदि राज्यों में रहे हैं। आम तौर पर देखने में आता है कि इन राज्यों में हिन्दी साहित्य के सबसे अधिक पाठक हैं और सक्रिय लेखक भी बड़ी संख्या में हैं। उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र, गुजरात, जम्मू-कश्मीर, गोवा तथा अरुणाचल आदि से भी अनेक पाठकीय पत्र प्राप्त होते तो पता चल जाता कि इस पत्रिका का प्रसार देश के अधिकांश राज्यों में हो गया है। केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय की एक योजना के अंतर्गत हिन्दी की श्रेष्ठ पत्रिकाओं की खरीद, अहिन्दी भाषी राज्यों की प्रमुख शिक्षण संस्थाओं के लिए की जाती थी। इसके लिए प्रतिवर्ष पत्रिकाओं का चयन होता और खरीदी गई प्रतियों की राशि सम्बंधित प्रकाशक को अग्रिम दी जाती थी। इस योजना के तहत विपाशा की खरीद कई सालों तक होती रही और दक्षिण व पूर्वी भारत के अहिन्दी भाषी राज्यों की शिक्षण संस्थाओं, लेखकों व पाठकों से प्रतिक्रिया स्वरूप अनेक पत्र प्राप्त होते थे। वर्ष 2009 में जब 'विपाशा अखिल भारतीय कविता प्रतियोगिता' का आयोजन किया गया तो इसमें भाग लेने के लिए देश-भर के 22 राज्यों से कुल 580 कवियों ने अपनी रचनाएँ भेजी थीं। यह पत्रिका के विस्तृत प्रसार से ही संभव हुआ था। इससे हिमाचल के रचनाकारों को व्यापक हिन्दी जगत् में पहचान मिली और प्रदेश के लेखकों, पाठकों को अध्ययन के लिए स्तरीय साहित्य भी उपलब्ध हो सका।

वास्तव में कोई भी पत्रिका पाठकों के लिए होती है। यह धारणा ग़लत है कि पत्रिका लेखकों के लिए ही होती है। असल में पत्रिका के माध्यम से लेखक भी पाठकों के लिए लिखते हैं। पाठक को अच्छे लेखक चाहिए और लेखक को भी पाठक की ज़रूरत रहती है। इन दोनों को जोड़ने का दायित्व पत्रिका और उसके संपादक निभाते हैं। लेकिन लेखकों के सहयोग के बिना संपादक का कार्य सफल नहीं हो पाता। विपाशा की इस लंबी यात्रा में अनेक ऐसे लेखक हैं जिन्होंने निरंतर रचना का योग दिया है। आज हिमाचल के अनेक लेखकों के संग्रहों से गुज़रता हूँ तो मालूम होता है कि इनकी अधिकांश रचनाएँ विपाशा में छपी हैं। इसी तरह अनेक कवि भी हैं जिनकी आरंभिक रचनाएँ विपाशा में छपती रही हैं। आगामी सालों में विपाशा की इस यात्रा के चार दशक पूरे हो जाएँगे। किसी पत्रिका के अस्तित्व के लिए चालीस साल कम नहीं होते। वह भी इस स्थिति में कि इस माध्यम से लेखक-पाठक की व्यापक और बड़ी बिरादरी का सृजन संवाद बना रहे। इसी में पत्रिका की सार्थकता भी है।

[दयार—दुर्गा कॉलोनी, ढली, शिमला-171012]

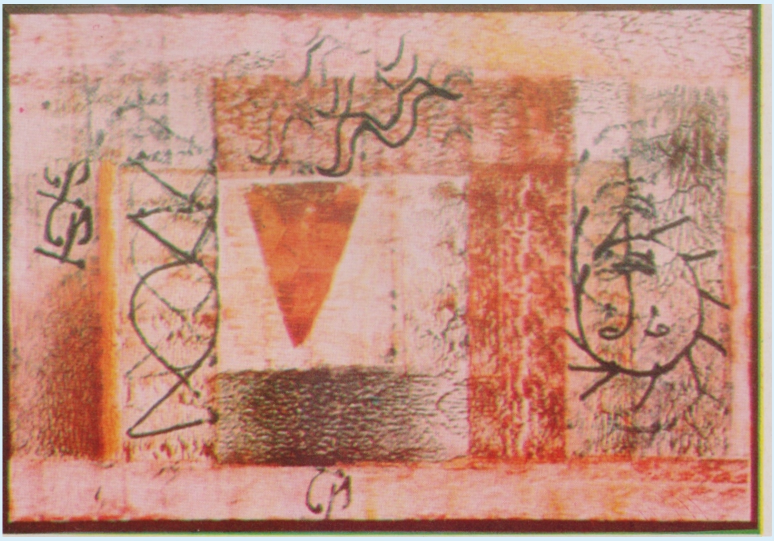

स्वामीनाथन के दो तैल चित्र

सौजन्य : वडेहरा आर्ट गैलरी

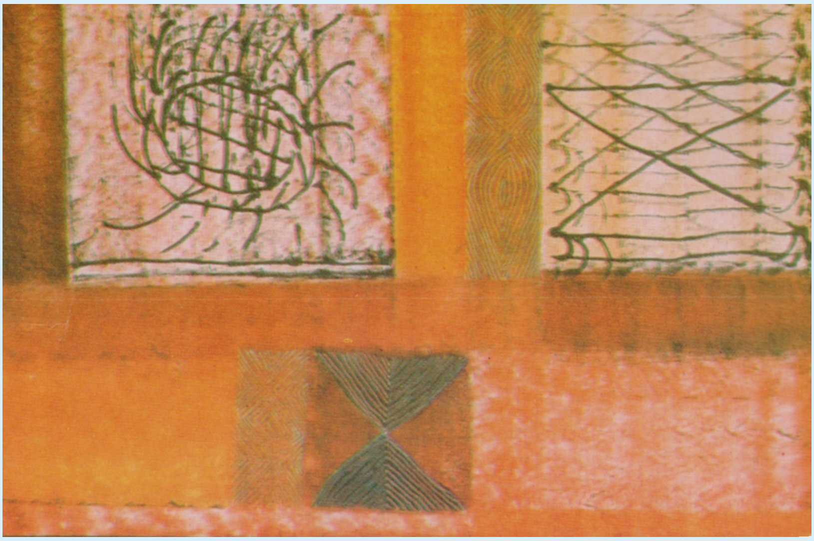

VIPASHA-216-218 SEPTEMBER, 2022-FEBRUARY, 2023 PRICE : ₹45/-

पंजीयक-समाचार पत्र, भारत सरकार द्वारा पंजीकृत संख्या : 42497/85
निदेशक, भाषा एवं संस्कृति विभाग, हि.प्र., शिमला-171009 द्वारा प्रकाशित तथा नियन्त्रक, मुद्रण एवं लेखन सामग्री विभाग, शिमला-5 द्वारा मुद्रित। मुख्य संपादक : डॉ. पंकज ललित